बहुवचन

हिंदी की अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक पत्रिका

संपादक

अशोक मिश्र

सहायक संपादक

अमित विश्वास

ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा का प्रकाशन

बहुवचन
अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक
अंक : 40 (जनवरी-मार्च- 2014)
प्रकाशक : महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

संपादकीय संपर्क :
संपादक बहुवचन
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
गांधी हिल्स, पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा- 442005 (महाराष्ट्र)
मो. संपादक- 09422386554, ईमेल- amishrafaiz@gmail.com
मो. सहायक संपादक- 09970244359, ईमेल- amitbishwas2004@gmail.com

प्रकाशन प्रभारी : राजेश कुमार यादव
ईमेल- rajeshkumaryadav97@gmail.com फोन- 07152-232943, मो. 09975467897

© **संबंधित लेखकों एवं रचनाकारों द्वारा सुरक्षित**
प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा या संपादकों की सहमति अनिवार्य नहीं है।

प्रचार प्रसार : रामप्रसाद कुमरे, ईमेल- ram.kumre81@gmail.com
फोन : 07152-232943, मो. 08055916194, 09406546762
बिक्री और प्रसार कार्यालय :
प्रकाशन विभाग, **महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय**
गांधी हिल्स, पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा- 442005 (महाराष्ट्र) भारत
फोन : 07152-232943, फैक्स : 07152-230903

वार्षिक सदस्यता के लिए बैंक ड्राफ्ट **महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय** के नाम से, जो वर्धा में देय हो, ऊपर लिखित बिक्री कार्यालय के पते पर भेजें। मनीऑर्डर स्वीकार्य नहीं।

पत्रिका न मिलने की शिकायत इस पते पर करें : रुचिका प्रिंटर्स, 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरख पार्क, शाहदरा, दिल्ली- 110032, मो. 09212796256

यह अंक : 50 रुपये, वार्षिक शुल्क 200 रुपये
विदेश में : हवाई डाक : एक प्रति 15 अमेरिकी डॉलर/7 ब्रिटिश पाउंड
समुद्री डाक : एक प्रति 8 डॉलर/5 ब्रिटिश पाउंड
आवरण : अशोक सिद्धार्थ
BAHUVACHAN
A QUARTERLY INTERNATIONAL JOURNAL IN HINDI
PUBLISHED BY: MAHATMA GANDHIANTARRASHTRIYA HINDI VISHWAVIDYALAYA
GANDHI HILLS, POST-HINDI VISHWAVIDYALAYA, WARDHA-442005 (MAHARASHTRA) INDIA.

मुद्रक : रुचिका प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-110032 (फोन : 011-22821174, 9212796256)
email : ruchikaprinters 2005@gmail.com

अनुक्रम

आरंभिक

मीडिया का अतिरेकी आचरण

स्मृति शेष

रामविलास शर्मा अर्थात रूपांतरण एक प्रक्रिया है
राजेंद्र यादव

साहित्य सीमित दृष्टि का नाम नहीं है
राजेंद्र यादव से प्रेम कुमार की बातचीत

राजेंद्र यादव का लोकतंत्र
विभूति नारायण राय

खोल कफन देखा होगा, तुमने 'हंस' की ओर
भारत भारद्वाज

अमर हो कर तो आया नहीं- राजेंद्र यादव
संजीव

कथाओं में लोक के सृजनहार : 'बिज्जी'
सूरज पालीवाल

गोरखपुर और परमानंदजी
मदन मोहन

हम न मरब मरिहै संसारा
ओम निश्चल

ओमप्रकाश वाल्मीकि : वंचितों की आवाज
अजय नावरिया

कहानी

मनोमी (मलायलम कहानी)
मूल : माधविक्कुट्टि, अनुवाद : एस. तंकमणि अम्मा

यात्रा वृत्तांत

संस्कृति का जजीरा ताशकंद
हरिसुमन बिष्ट

संस्मरण

मीरा कुटीर, शैलेश मटियानी पुस्तकालय, रामगढ़
राजेंद्र राजन

कविता

गोविंद प्रसाद
सुनीता जैन
जगतारजीत सिंह
बी.एल. गौड

स्क्रैप बुक्स

रामविलासजी की स्क्रैप बुक्स
प्रस्तुति- विजय मोहन शर्मा

मीडिया

वैकल्पिक मीडिया का बढ़ता दायरा
नरेंद्र कुमार वर्मा

व्याख्यान

हम और हमारे पड़ोसी राष्ट्र
मुचकुंद दुबे

पुनर्पाठ

महावीर प्रसाद द्विवेदी का 'सम्पत्ति शास्त्र'
रवि भूषण

आलोचना

आलोचना की जातीय स्वाधीनता
शंभुनाथ

अलक्षित

हिंदी का सर्वप्रथम आंचलिक उपन्यास मैला आंचल नहीं
रामनिरंजन परिमलेंदु

आलोचना

हिंदी-पट्टी में आलोचनात्मकता का अवसान
शंभु गुप्त

फिर से प्रेमचंद
सुवास कुमार

आरंभिक

मीडिया का अतिरेकी आचरण

देखते ही देखते वर्ष 2013 धीरे से विदा हो गया और एक नए साल की आहट के साथ ही हम वर्ष 2014 में आ पहुंचे हैं। अगर हम सोचें तो लगता है कि साल ही बदल रहा है न हम बदल रहे हैं न हमारा समाज। आजादी के बाद से कम से कम छह दशक का वक्त गुजर चुका है लेकिन आज देश अपने समय के सबसे खराब दौर से गुजर रहा है। देश में ही दो देश साफ दिखते हैं पहला भारत और दूसरा शाइनिंग इंडिया।

नई शताब्दी इस मायने में पिछली कई शताब्दियों से भिन्न रही है कि इस दौर में संचार और संप्रेषण और तकनीक ने हमारी दुनिया बिल्कुल बदलकर रख दी है। आज तकनीक का इस्तेमाल करके किसी भी व्यक्ति के खिलाफ दुष्प्रचार का काम या अफवाह फैलाने या उसका चरित्र हनन कुछ मिनटों में किया जा सकता है। अब तो यह संचार दंगा भड़काने में भी काफी काम आ रहा है। तकनीक का बेहतर उपयोग कर हम सकारात्मक दिशा में आगे जाते हैं लेकिन समाज के कुछ खुराफाती दिमाग इसका गलत इस्तेमाल कर रहे हैं जिससे एक नए तरह के अपराध का जन्म हो रहा है जिसका किसी भी कीमत पर समर्थन नहीं किया जा सकता। तकनीक आधारित झूठा और मनगंढ़त प्रचार कई बार सच को पीछे ढकेलने का काम भी कर रहा है। सबसे बड़े दुख की बात यह है कि मीडिया जिसके ऊपर समाज को सचेत, साक्षर और जागरूक बनाने की जिम्मेदारी थी वह निवेशित भारी भरकम पूंजी का हरकारा बन बैठा है। जाहिर है कि यह दौर मिशन पत्रकारिता का नहीं है यही वजह है कि मीडिया में भारी पूंजी निवेश लाभ कमाने के उद्देश्य से किया जा रहा है। अभी हाल में ही यह देखने में आया कि दिल्ली में एक सामाजिक कार्यकर्ता के खिलाफ दुराचार के आरोपों को टीवी चैनलों ने बेहद गैरजिम्मेदारना अंदाज में परोसा और परदे के पीछे या अंदरूनी सच्चाई की तह तक पहुंचे बिना अपना फैसला इस अंदाज में सुनाया कि एक संवेदनशील आदमी ने आत्महत्या कर ली। इस इंसान की मौत की जिम्मेदारी कौन लेगा? क्या मीडिया अपने इस अतिरेकी आचरण में कोई बदलाव लाएगा या फिर टीआरपी के खेल के लिए लोगों को मरने के लिए मजबूर करता रहेगा। क्या मीडिया को अपनी सीमा का ज्ञान नहीं है कि वह जज या कोर्ट के अंदाज में काम नहीं कर सकता है। यह जिम्मेदारी न्यायपालिका के कंधों पर है और उसे ही इसका निर्वाह करने दिया जाए तो ज्यादा अच्छा है। मीडिया को अपनी भूमिका पर विचार करने की जरूरत है। मुझे लगता है कि आज ऐसे संपादकों का भी अभाव है जो मीडिया को जिम्मेदारी का पाठ पढ़ा सकें। ऐसे लोग आज भी हैं लेकिन बाजार का हिस्सा बन चुका मीडिया सामाजिक सरोकारों की पत्रकारिता करने वाले संपादकों को अपने संस्थान का हिस्सा नहीं बनाना चाहता। यह कुछ ऐसा ही है जैसे मेरे यहां तो सलमान खान जैसा बच्चा जन्मे और क्रांतिकारी भगत सिंह जैसा बच्चा तो पड़ोसी के घर जन्म ले। जाहिर है कि देश का मानस बदलेगा तो मीडिया को भी अपनी जिम्मेदारी और कर्तव्य

का अहसास करना होगा और तदनुकुल आचरण करना होगा।

एक और सच यह है कि मुक्त बाजार व्यवस्था ने जिस तरह आर्थिक असंतुलन की लकीर खींची है वह समाज में गहरे क्षोभ और आक्रोश को जन्म देने का काम कर रही है। हमारे यहां नए जन्मे नव धनाढ्य वर्ग के आचरण ने हमारे सारे सामाजिक मूल्यों को ध्वस्त करने का काम किया है। आज हमारे अपने परिवार हों या पूरा समाज एक किस्म की अराजकता और अपसंस्कृति की दिशा में तेजी से बढ़ता चला जा रहा है। इस पर हम अपनी पीठ खुद ठोंक ले रहे हैं। लाखों के पैकेज लेने वाली पीढ़ी के कई जन्मदाता मां-बाप या तो रैनबसेरों के मोहताज हैं या वृद्ध आश्रमों में रहकर बची खुची जिंदगी का शेष समय काट रहे हैं। जाहिर है कि समाज में पुराने मूल्यों को बचाने और उन्हें नई पीढ़ी तक हस्तांतरित करने की भी जरूरत है। यह चुनौतियों से भरा समय है और ऐसे अंधेरे समय में साहित्य की मशाल टिमटिमा तो रही है लेकिन उसे और अधिक प्रज्वलित करने की जरूरत है।

वर्ष 2013 के दौरान एक-एक कर हिंदी के कई वरिष्ठ साहित्यकार असमय प्रस्थान कर गए। जाहिर है कि इस पर शोक के अलावा कुछ प्रकट नहीं किया जा सकता। हम कह सकते हैं कि बीता साल हिंदी साहित्य को समृद्ध करने के बजाए रिक्तता देकर चला गया। वरिष्ठों के आसमयिक निधन से जो शून्य उपजा उससे साहित्य संस् ति की दुनिया में एक सन्नाटा सा पसर गया जिसकी भरपाई कर पाना लगभग असंभव है। अक्टूबर में राजेंद्र यादव से कुछ पहले वरिष्ठ आलोचक शिवकुमार मिश्र से यह सिलसिला शुरू हुआ तो परमानंद श्रीवास्तव, ओमप्रकाश वाल्मीकि, विजयदान देथा, हरिकृष्ण देवसरे और केपी सक्सेना तक चलता ही रहा। इत्तफाक से राजेंद्र यादव से मेरा काफी करीबी रिश्ता रहा। कह सकता हूं कि लेखन और सांस्कृतिक पत्रकारिता की दुनिया से सक्रिय रूप से जुड़े रहने के कारण यह संभव हुआ। संपादक के रूप में राजेंद्र यादव ने एक लंबी पारी खेली और हिंदी साहित्य की बंद संकुचित दुनिया को नए विमर्शों की ओर उन्मुख किया। राजेंद्र यादव की सिर्फ संपादक की भूमिका इतनी बड़ी है कि उसका मूल्यांकन करने में अभी काफी समय लगेगा। अपनी रचनाओं और संपादकीय लेखों के माध्यम से वे हमारे बीच रहेंगे ही। मैं कह सकता हूं कि शायद हमारे वरिष्ठजनों ने यह संदेश दे दिया है कि नौजवान साथियों अब साहित्य की दुनिया संभालो हम तो सफर करते हैं। दिवंगत अग्रज साहित्यकारों का अनकहा संदेश यह भी है कि हम लोगों ने एक लकीर खींची है उस पर चलना और उसे बनाए और बचाए रखने के साथ-साथ आगे बढ़ाने का काम भी तुम्हारे कंधों पर है। बहुवचन के नए अंक में दिवंगत साहित्यकारों पर आदरांजलि स्वरूप सामग्री दी जा रही है दूसरी तरह से यह अंक दिवंगतों की स्मृति को समर्पित है।

नए साल में हिंदी भाषा और भाषाई साहित्य मजबूत हो विश्व मंच पर हिंदी का प्रसार बढ़े और साहित्य में समाज की समस्याओं की अनुगूंजें ध्वनित हों और साहित्य की लोकप्रियता का वातावरण बने और रचनात्मकता नई बुलंदियों पर पहुंचे इसी कामना के साथ नव वर्ष की ढेरों शुभकामनाएं। नया साल हमारी उम्मीदों का साल हो और बदलाव का भी यही कामना है।

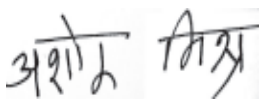

रामविलास शर्मा अर्थात रूपांतरण एक प्रक्रिया है...

राजेंद्र यादव

राजेंद्र यादव हर माह 'हंस' में 'मेरी तेरी उसकी बात' शीर्षक से संपादकीय लेख लिखा करते थे। इस संपादकीय में राजेंद्रजी किसी न किसी ज्वलंत विषय पर बहुत बेबाक तरीके और लगभग असहमति के अंदाज में अपनी बात रखते थे। यही वजह थी कि बहुत से पाठकों को 'हंस' के नए अंक का बेसब्री से इंतजार रहता था और सबसे पहले यह संपादकीय पढ़ा जाता था बाकी सामग्री बाद में। यह विरल लोकप्रियता मात्र राजेंद्र यादव लिखित मेरी तेरी उसकी बात को हासिल थी। राजेंद्र यादव ने मूर्धन्य आलोचक रामविलास शर्मा के निधन पर जिस तरह संपादकीय और संस्मरण को फेंटकर लिखा वह उनके गद्य का एक महत्वपूर्ण अंश है। यह संपादकीय हम अपने पाठकों के लिए जस का तस प्रस्तुत कर रहे हैं -

रामविलासजी की बात याद आते ही मुझे याद आता है सन 48 से 54 तक का आगरा। हम बी.ए. के विद्यार्थी थे- आगरा कॉलेज में। साथी थे घनश्याम अस्थाना, राजेंद्र शर्मा और प्रकाश दीक्षित। साहित्य में नए-नए हाथ-पांव मार रहे थे। 'प्रगतिशील लेखक संघ में आना-जाना शुरू हो चुका था और नागरी प्रचारिणी सभा की गतिविधियों से जुड़े थे। वहां कभी अमृतलाल नागर, अमृतराय आते तो कभी राहुल, भगवतशरण उपाध्याय, रामविलास शर्मा। रामविलासजी बलवंत राजपूत कॉलेज में अंग्रेजी पढ़ाते थे। एम.ए. में हम हिंदी में आ गए और घनश्याम अंग्रेजी में। राजामंडी के साथ लगा मुहल्ला था गोकुलपुरा। यहीं अमृतलाल नागर का ननिहाल भी था और ससुराल भी। अकसर उनका वहां आना-जाना बना रहता। दूसरी गली में रहते थे रामविलासजी। नागरजी और रामविलासजी लखनऊ के मित्र थे। अड्डा था घनश्याम का या मेरा घर। रामविलासजी से परिचय शायद प्रगतिशील लेखक संघ की बैठकों में हुआ। पद्मसिंह शर्मा कमलेश ओजस्वी कवि, संघर्षशील लेखक और प्रियदर्शी युवा थे। नागरी प्रचारिणी में रहते थे। अपनी जिंदगी उन्होंने 'सैनिक' और 'उजाला' के हॉकर के रूप में शुरू की, फिर 'साहित्य रत्न भंडार' में आ गए। जब उनसे परिचय हुआ तो विनोद पुस्तक मंदिर के लिए टीकानुमा पुस्तकें पृष्ठों के हिसाब से लिखते थे। बड़े साहित्यकारों के इंटरव्यू लेते थे और मंच पर कविताएं सुनाते थे। मेरे अभिभावक और बड़े भाई थे। मिलने पर रामविलासजी के लिए सम्मान जरूर प्रकट करते थे, मगर अपनी अध्ययन-हीनता के कारण डरते थे। वे चाहते थे कि मैं जहां तक हो सके रामविलासजी के दुष्प्रभाव से बचा रहूं। गोकुलपुरा में ही गिरीश अस्थाना आ बसे थे। पृष्ठभूमि मिलिटरी की नौकरी थी- मगर कहानियां लिखने लगे। 'हंस' इत्यादि में उनकी

कहानियां आतीं। मेरी कहानियां भी हंस और दूसरी पत्रिकाओं में छपने लगी थी। घनश्याम के घर से आगे गली के अंत में रहते थे कृष्णास्वामी। अकेले थे और सोशलिस्ट लिटरेचर कंपनी के नाम से हिंदी प्रदेश में सोवियत पुस्तकों के उत्साही वितरक थे- अपने सहायक के साथ दूर-दूर तक पुस्तकें बेचने जाते थे। सांवले, ठिगने और खिचड़ी दाढ़ी, पढ़ने और खाने के शौकीन-मिसरानी हर समय कुछ न कुछ तलती-भूनती रहती 'साली पप्पू करती है कि स्वामी जो आइदर ईटिंग और वेटिंग टू ईट' पप्पू यानी रांगेय राघव। हम सब साहित्य और राजनीति की नई पुस्तकों की जानकारियों के लिए वहां जाते। सेंट जॉन्स कॉलेज के पास ही ही बाग मुजफ्फरखां मुहल्ला-यानी रांगेय राघव का घर। बैठकबाज सुंदर, अध्ययनशील और प्रतिभाशाली लेखक रांगेय राघव सब के प्रिय थे। रामविलासजी और पप्पू एक दूसरे क विलोम थे- एक सुकुमार, प्रियदर्शी, जीवंत रचनाशील तो दूसरा कसरती, अक्खड़ अध्ययनशील-हमेशा बौद्धिक ऊंचाई का अहसास कराता- लगभग बाहरी आदमी का प्रभाव छोड़ने वाला आलोचक। प्रगतिशील लेखक संघ में कभी शायद कोई ऐसी नोंक-झोंक हुई थी कि दोनों एक-दूसरे से बचते थे-मगर आदरणीय। बाद में तो वह रामविलासजी से अंग्रेजी पढ़ने और घंटा-दो घंटा डिक्टेशन लेने जाने लगा था। रामविलासजी कमरे में टहलते हुए लेनिन, स्तालिन, माओ की रचनाओं के हिंदी अनुवाद बोलते जाते। दोनों भाषाओं पर उनके इस आधिकार से हम आतंकित थे। पालि, संस्कृत और अंग्रेजी में मदद लेने मैं और राजेंद्र शर्मा भी नियमित जाते।

उन दिनों हमारे तीन अड्डे थे घनश्याम या मेरा घर और रामन्ना शास्त्री का रेस्तरां मेरे घर और राजामंडी स्टेशन के पास। चाय-नाश्ता सर्व करने के दौरान हिंदी-अंग्रेजी में मार्क्सवाद पर घनघोर बहस। एकाध फटीचर कामरेड के सिवा 'नो उधारी'। हमला करने के भाव से कभी-कभी गिरीश अस्थाना का घर, जहां रामविलासजी, घनश्याम और मैं तीनों ही पहुंच जाते और अधिकारपूर्वक चाय-नाश्ता करते हुए गिरीशजी का मजाक उड़ाते। मैं और घनश्याम बेकार थे और ट्यूशनें इत्यादि करके जेब-खर्च चला रहे थे- रामविलासजी बा कायदा प्राध्यापक थे मगर जेब में हाथ शायद ही कभी डालते हों (नामवरजी ने इसी कला का आगे जाकर चरम विकास किया) इसलिए तीनों ही चाय-पानी के लिए किसी शिकार की तलाश में रहते, कभी गिरीशजी तो कभी टीकम सिंह तोमर कभी कमलेशजी तो कभी राजनाथ शर्मा- बहुत बाद में मालूम हुआ कि रामविलासजी बाकायदा पार्टी मेंबर थे और अपने वेतन का बड़ा हिस्सा पार्टी में दे देते थे। उन पांच-छः सालों में तो शायद ही कोई दिन रहा होगा जब हम लोग शाम को न मिलते हों। लड़ाई-झगडे, पर-निंदा, आपसी खिंचाई और साहित्य-सभी कुछ नियमित धुने जाते। बाद में तो घनश्याम का घर हमारी शामों का स्थायी पता हो गया-क्योंकि मैं कहीं से पहले चाइनीज चैकर और बाद में स्क्रैम्बुल नाम का गेम ले आया था। बरसों हम लोग हर शाम योगियों की तन्मयता से उसके आस-पास जमा होते यानी मैं घनश्याम, रामविलासजी और राजनाथ। चाइनीज चैकर शुद्ध मन बहलाव के दांव-पेंचों का खेल था तो स्क्रैम्बुल बौद्धिक कसरत। प्लास्टिक के टुकड़ों पर छपे अंग्रेजी अक्षरों से अपने शब्द बनाए जाते, दूसरे के शब्दों को लूटा जाता। मैं और राजनाथ हिंदी के थे, घनश्याम और रामविलासजी अंग्रेजी के- उन्हें शब्दों पर ज्यादा अधिकार था। मगर हारकर भी शब्द और स्पैलिंग जानने का संतोष मिलता था। आसानी से हार हम भी नहीं मानते थे- कभी-कभी जीतते भी थे। बाकायदा चीख-पुकार होती जब रामविलासजी कोई भी उलटा-सीधा शब्द बना डालते और उसे सही सिद्ध करने पर तुल जाते।

डिक्शनरियां निकाली जाती-बिसात उलट दी जाती और सब नाराज होकर अपने-अपने घर लौट आते-बिना आपस में बोले। मगर अगले दिन शाम को फिर वहीं होते। कभी-कभी उनकी धांधली से क्षुब्ध हम लोग खेलना छोड़कर चुप बैठ जाते-तब इस अनबोले को तोड़ने की पहल करते हुए रामविलासजी कहते, 'आओ राजेंद्र पंजा लड़ाएं' फिर हम लोग पंजा लड़ाने लगते। रामविलासजी बाकायदा रोज दंड-बैठक करने वाले कसरती थे तो मैं भी कमजोर नहीं था। कभी हम उंगलियां फंसाकर पंजा लड़ाते तो कभी मेज पर कुहानियां टिकाकर हथेलियां से एक-दूसरे के हाथ को दूसरी तरफ झुकाने की जोर आजमाइश करते। यह मेरी और उनकी स्थायी मुडभेड़ थी। साथ नागरजी होते तो अकसर कहते, भैया रामविलास, तुम साले बैसवाड़े के पैलमान, हमारे आगरे के राजेंदर को बहुत दुःखी करते हो, तुम्हें तो निरालाजी ही ठीक करते थे- दे पटकानियां पर पटकनियां, तुम्हारा हुलिया टाइट कर देते और फिर दोनों लखनऊ की स्मृतियों में भटक जाते। यह सही है कि अगर मेरे साथ पैर का झंझट न होता तो रामविलासजी रोज किसी अखाड़े में ले जाकर मेरी रगड़ाई करते। वैसे भी गोकुलपुरे के बाद जब वे स्टेशन की दूसरी तरफ नई रामामंडी में आ गए तो राज सुबह टहलते हुए मेरे घर आ जाते, चाय पीते या साथ टहलने ले जाते और दो-तीन किलोमीटर चलाकर थका डालते। घर पर निहायत मोटा, किसानी खाना खाते मगर बाहर तरह-तरह की फरमाइशें करते। जलेबी, कचौड़ी, रबड़ी, गाजर का हलुआ हमारे स्थायी शौक थे। घनश्याम के यहां होते तो बुलाकी के यहां से मिठाइयां आतीं। मेरे घर होते तो संत लाल के यहां, जो बाकायदा एम.कॉम करके शुद्ध वैज्ञानिक ढंग से मिठाइयां बनाता। जाहिर है कि मेजबान मुझे घनश्याम या नागरजी को ही बनना पड़ता। रामविलासजी तो सिर्फ हमें उकसाने और खाने का ही पुण्य लेते। वहीं एक शाम भांग के नियमित नशे में नागरजी ने हमें गाजर का हलुआ खाने के लिए ललकारा था। रामविलासजी पौन किलो और नागरजी एक किलो पर टूट गए- मैंने डेढ़ या सवा किलो हलुआ खाकर चैंपियनशिप जीती थी।

अगर घनश्याम के हीरो रांगेय राघव थे तो मेरे अमृतलाल नागर। नागरजी ने उदयशंकर के लिए 'कल्पना' फिल्म की कहानी लिखी थी जिसमें सुमित्रानंदन पंत के गीत थे। बंगाल के अकाल पर उनका उपन्यास अकाल (बाद में भूख) आ चुका था। वे सुब्बुलक्ष्मी के लिए 'मीरा' फिल्म भी लिख चुके थे और उस परिवार से उनके संबंध बेहद आत्मीय थे। तय हुआ कि गार्मियों की छुट्टियों में हम तीनों दक्षिण भारत की यात्रा पर निकलेंगे। नागरजी ने पत्रों से व्यवस्था की। सुब्बुलक्ष्मी के पति सदाशिवम उन दिनों तमिल के सबसे शाक्तिशाली साप्ताहिक 'कल्कि' के मालिक थे और उनके कार्यालय सारे तमिलनाडु में फैले थे। किराया-भाड़ा हमारा था बाकी व्यवस्था मद्रास के बाद 'कल्कि' की सुब्बुलक्ष्मीजी ने कराई थी। मेरे एम.ए. के इम्तिहान दे चुकने के बाद हम तीनों यात्रा पर निकल पड़े। पहला पड़ाव विजयवाड़ा था जहां हम तेलुगू कवि सुनकर सत्यनारायण और श्री से मिले। रामविलासजी शायद अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के सेक्रेटरी बन चुके थे इसलिए नेता की तरह सम्मान पाते। मद्रास से कन्याकुमारी होते हुए हम वाया हैदराबाद, औरंगाबाद, अजंता ऐलोरा बंबई गए। महीने-भर से ऊपर की यात्रा थी। मैं और रामविलासजी साथ आए, नागरजी वहीं छूट गए। बेहद मनोरंजक, ज्ञानवर्धक और एक-दूसरे के निकट आने वाली यात्रा थी। यह यात्राओं में अपरिचित भी निकट आ जाते हैं। हम दो महीने भर निरंतर साथ रहे थे वस्तुतः यह भौगोलिक से अधिक सांस्कृतिक यात्रा थी। हर मंदिर, शहर या स्थान को लेकर उसका पुराना इतिहास निकाला

जाता, उन दिनों की कल्पनाएं की जातीं आपस में छेड़छाड़ होती। कन्याकुमारी की रात में तो मेरे मन में आज तक खुदी हुई है। हम तीनों ही कवि हो गए थे। (इसका वर्णन मैंने 'एक इंच मुस्कान' उपन्यास के पहले अध्याय में किया है) नागरजी हर जगह को देखकर उच्छ्वसित हो जाते और अपने उपन्यास-कहानियों के कथानकों पर बोलने लगते। उन्हीं दिनों तमिल के महाकाव्य शिलप्पदगारम् के आधार पर 'सुहाग के नूपुर' लिखने की बात उनके मन में आई। डॉक्टर साहब अंतर्मुखी अधिक रहते। वे हम दोनों के बड़े भाई थे इसलिए मैं और नागरजी ज्यादा खुल गए। यह शायद आलोचक और रचनाकारों का अंतर था। उन दोनों के पास लखनऊ और साहित्य का अतीत था- इक्कीस-बाईस की उम्र में मेरे पास अगर कुछ स्मृतियां थी तो वह इन्हीं लोगों के साथ बन रही थी। बहरहाल, नागरजी में जो ऊष्मा थी वह डॉक्टर साहब में नहीं थी। वे वैसे भी अ-सामाजिक होने के हद तक अपने में बंद रहने वाले व्यक्ति थे। व्यर्थ की गप्प-गोष्ठियों में वे उपस्थित जरूर होते थे, मगर हिस्सेदारी शायद ही करते हों। हां बौद्धिक बहसों में सबसे आगे और अंतिम होते।

यात्रा के दौरान रामविलासजी अपना हर काम चुपचाप और सबसे पहले निपटा देते, मैं भी लगभग आत्मनिर्भर था। बड़े घर के बेटे नागरजी प्रायः बौखलाए हुए कभी इस झोले में कुछ ढूंढ़ते, कभी उसमें। सुबह और शाम की सिलसिला लंबा होता। मैं उन्हें डांटता और मदद करता। 'अब से हमने तुम्हें अपना गुरु तस्लीम किया। हमें सुधारने का जो काम प्रतिभा नहीं कर पाई, वह इस यात्रा में तुम जरूर कर डालोंगे।' बाद में मन्नू से विवाह के बाद तो वे मुझे पत्रों में 'मन्नू मियां' लिखने लगे थे। उससे पहले के सारे संबोधन 'मेरे असफल गुरु' नाम से हैं। पैसे और हिसाब-किताब नागरजी के पास थे। रामविलासजी लगभग असंपृक्त मेहमान की तरह साथ थे। नागरजी की भांग और उत्तर भारतीय खाने की तलाश में अकसर हम साहूकार पैठ जाते।

पालि पढ़ाते हुए जातकों में एक शब्द आता था 'वृषलक'। अर्थ तो इसका 'बछड़ा' ही था, मगर शायद बौद्ध प्रशिक्षु के लिए भी इसका प्रयोग होता था। मेरे पास दो दस्ते की एक जिल्दबंद कापी है जिसके शुरू के पन्ने के पर ही सुंदर हस्पलिपि में लिखा है 'तुम्हारे लिए दो दस्ते ही काफी है प्रिय वृषलक को नए वर्ष की भेंट' नीचे हस्ताक्षर हैं रामविलास शर्मा, किनारी बाजार पथ 9.1.52। इसी कापी में 19.2.54 की तारीख में रात को एक बजे रामविलासजी पर एक भयंकर इंदराज (एंट्री) है। शायद कोई घटना ऐसी हो गई थी कि मैं बुरी तरह आहत था। रामविलासजी के लिए आक्रोश में लिखी गई इतनी ऊलजलूल बातें है कि आज शर्मा से पूरा पढ़ना भी मुश्किल है। किसी किताब पर झगड़ा हुआ था। उनकी कोई पांडुलिपि मेरे पास थी और मिल नहीं रही थी बदले में उन्होंने चेखव पर मेरी एक अत्यंत प्रिय किताब दबा ली थी और दे नहीं रहे थे। स्वार्थी, व्यक्तिवादी, हिटलर, नादिरशाह जैसे न जाने कितने विशेषण उसमें भरे पड़े हैं। उस उम्र में शायद प्रतिक्रियाएं ऐसी ही उग्र हुआ करती होंगी। उसमें मैंने उन्हें दुनिया के सबे नीच और दंभी व्यक्ति के रूप में याद किया है। एक-एक पंक्ति में घृणा और गुस्सा भरा है। पिछले पांच-छः सालों में जो कुछ भी बुग्ज उनके खिलाफ मेरे मन में जमा हो गया था, सब बांध तोड़कर बह निकला है।

यह उन्हें देखने का निहायत नेगेटिव तरीका तो था, मगर झूठ भी नहीं था। रामविलासजी स्वार्थी भी थे और आत्मकेंद्रित भी। कहूं कि हम लोगों की भावनाओं की कभी चिंता नहीं करते थे। हमारे साथ जो भी समय बीतता था, उसके अलावा चौबीस घंटे सिर्फ पढ़ना या लिखना। मेरे सामने

उनकी यही तस्वीर आती है कि या तो मोटी-मोटी किताबें पढ़ रहे हैं या बिस्तर पर बैठे लिख रहे हैं। जाड़ों में पैरों पर रजाई पड़ी रहती। उस पर दसियों किताबें छोटी-छोटी झोपड़ियों की तरह खुली हुई सुविधानुसार रखी जाती ताकि जरूरत पड़ने पर उन्हें देखा जा सके और तकिए का सहारा लिए वे लिख रहे होते। न उन्हें घर का होश था न परिवार का। कॉलेज के बाद थकान उतारने हमारे यहां के लिए न निकलना होता तो शायद हर वक्त उन्हीं किताबों में बने रहते। कागज, किताबें इधर-उधर हटाकर वहीं थाली में खाना हो जाता। उठते तो ऐसे औचक ढंग से कि रजाई की गुफा बनी रहती लौटकर उसी में वापस सरक जाते। शायद उन्हें पता नहीं था कि वे कौन-सा ब्लेड इस्तेमाल करते हैं यहां वह कितने का आता है भाभीजी ही यह सब देखतीं। कपड़े लाकर सिला देती। विद्यार्थी या कोई और आता तो वहीं से दो बातें करके टरका दिया जाता। वे सुबह-शाम कभी भी हमारे यहां आ-धमकते, लेकिन हमें उनके यहां जाने में संकोच होता। वे भी बहुत उत्साहित नहीं करते थे। लिख रहे होते तो हम आध-पौन घंटा किताबें पलटकर लौट आते। पढ़ रहे होते तो एकाध वाक्य के बाद कहते 'देखो ये कितना अच्छा लिखा है' और फिर जिसे अब तक बिना बोले पढ़ रहे थे उसे बोलकर आगे पढ़ने लगते- यानी सिलसिला टूटता नहीं था। कुछ देर बाद बोर होकर हम लौट आते। यों एकाध पैग लेने का मुझे ध्यान है, जरूरत पड़ने पर सामिष भी खा लेते थे। (शायद निरालाजी का असर था) पांच-दस सिगरेटें भी पी लेते-मगर अपने आचार-व्यवहार, सोच-संस्कार में कट्टर आर्य समाजी थे। दूसरे शब्दों में न मिलनसार थे, न महफिल-बाज। बाद में तो उन्होंने गोष्ठियों में जाना भी छोड़ दिया था। ऐसा किताबी आदमी अगर हमें स्वार्थी और आत्मकेंद्रित लगता था तो अजब कुछ नहीं था। जिसे पसंद नहीं करते थे उसके बारे में कभी हल्का बोलते नही सुना। अपने सारे संपर्क के दौरान भाभीजी को छोड़कर किसी कन्या राशि को जिक्र नहीं आया जबकि हम सब इस मामले में नागरजी को गुरु मानते थे। वे उनसे हर तरह के मजाक करते थे मगर कीट्स पर थीसिस लिखने और रोमांटिक साहित्य के विशेषज्ञ होने के बावजूद रामविलासजी की चदरिया बेदाग थी। उधर हमारी अपनी-अपनी प्रेमिकाएं थीं और नागरजी प्रतिभा भाभी की यशोगाथा गाते हुए 'बूंद और समुद्र' की शीला स्विंग के सपनों मे डूबे रहते। हम उन्हें सुब्बुलक्ष्मी को लेकर भी छेड़ते मगर विचारों की यह कट्टरता और अपने का ही सही सिद्ध करने की रामविलासजी की जिद साहित्य में आतंक मचाए थी। मुंहफट आदमी। इंग्लैंड-पलट कामरेड़ों के समाज में ज्यों 'अछूत'।

मगर साहित्य में उनकी तूती बोलती थी। यही वह समय है जब बी.टी. रणदिवे पार्टी प्रमुख थे और रामविलासजी साहित्य में सफाई अभियान चलाए हुए थे- उनका परशुरामी फरसा एक के बाद एक दिग्गजों के सिर काट रहा था। यशपाल, राहुल, रांगेय राघव, सुमित्रानंदन पंत, अमृतराय, दिनकर पर उन्होंने लंबे-लंबे ध्वंसकारी लेख लिखे और उन्हें दो कौड़ी का सिद्ध कर डाला। निराला, प्रेमचंद के अलावा भारतेंदु, महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामचंद्र शुक्ल उनके प्रिय लेखक थे और उन पर स्वतंत्र किताबें भी लिखी लेकिन बाकी जो पसंद थे वे या तो पार्टी-लाइन के थे या बैसवाड़ा के। समकालीन साहित्य के लिए उनमें वैसी ही हिकारत और उपेक्षा थी जैसी डॉ. नगेंद्र के मन में रही थी। केदारनाथ अग्रवाल, शिवमंगल सिंह सुमन, शीलजी, शंकर, शैलेंद्र, पढ़ीसजी और नीरज उनके प्रिय कवि थे। खासी सपाट और इतिवृत्तात्मक कविताओं वाला उनका एक कविता-संग्रह भी छपा- 'रूपतरंग। शीघ्र ही उन्हें लग गया था कि कविता उनके बस की नहीं है। आखिरी उपन्यास शायद

उन्होंने 'चारूचंद्र लेख', 'बूंद और समुद्र' और 'उखड़े हुए लोग' पढ़े थे। तीनों की लिखित प्रशंसा भी की थी। मगर मूलतः वे रचनात्मक साहित्य के लगभग दुश्मन हो गए थे। मुक्तिबोध, नामवर सिंह और रेणु को उन्होंने कभी पसंद नहीं किया।

उन्हीं दिनों उनकी पुस्तक प्रगतिशील साहित्य की समस्याएं आई। उनकी कट्टर वैचारिक मान्यताओं के खिलाफ चारों तरफ विद्रोह का वातावरण बन रहा था। सख्त और स्टालिनी केंद्रीय वर्चस्व किस तरह टूटते है इसके सर्वश्रेष्ठ उदाहरण ये विद्रोह थे। शिवदान सिंह चौहान, राहुल, भगवतशरण उपाध्याय, रांगेय राघव, अमृतराय और बाद में अज्ञेय और धर्मवीर भारती इत्यादि ने बाकायदा लेख और पुस्तकें लिखकर रामविलासजी की इस बौद्धिक धांधली से लोहा लिया। अजीब वैचारिक समुद्र-मंथन का युग था जब बोलने से अधिक लिखकर अपने-अपने मूल्यों मान्यताओं पर घनघोर बहसें की जाती थीं। मार्क्सवादी मूलग्रंथों के उद्धरणों से अपने विश्लेषण काटे या स्थापित किए जाते थे और जो भी लाइन-बाहर था उसे साम्राज्यवादी पिट्ठू या पूंजीवादी दलाल के नाम से दुत्कारा जाता था। वे साहित्य से अधिक राजनीतिक मुठभेडें थी। यही वह समय भी था जब राहुल, भगवतशरण उपाध्याय, रांगेय राघव, रामविलास शर्मा अपने-अपने ढंग से भारतीय सांस्कृतिक अतीत की व्याख्याएं दे रहे थे। निश्चय ही रामविलासजी उस समय ऐसे बौद्धिक और साहित्यिक पर्जिंग (छंटाई) का पर्याय हो गए थे। जहां सारा रचनात्मक लेखन या तो स्थगित हो गया था या हाशिए पर फेंक दिया गया था।

सांस्कृतिक दुनिया में जहां हिंदी, उर्दू, पंजाबी, बांग्ला, मराठी, तेलुगु के रचनाकार, इप्टा और फिल्म जैसे लोकधर्मी संगठनों के कलाकार एकजुट होकर साझा मंचों पर आ रहे थे और वामपंथी सोच के बुद्धिजीवों का संयुक्त मोर्चा बन रहा था, वहीं रामविलासजी का कट्टर सफाई-छंटाई अभियान भीतर से उसमें दरारें पैदा कर रहा था। जो ठीक हमारी तरह और हमारी भाषा में नहीं सोचता वह गद्दार और दुश्मन था। सारा साहित्य दोस्त और दुश्मन में बंट गया था। सी.आई.ए. पोषित 'कल्चरर फ्रीडम के अंतर्गत समाज-निरपेक्ष व्यक्ति-स्वातंत्र्य के झंडाबरदार थे अज्ञेय और परिमलियन तो दूसरी ओर सोवियत एजेंट प्रगतिशील जो विश्व-शांति और विषमहीनता समाजवादी क्रांति की बातें करते थे। आज दूर से देखने पर लगता है कि उनका व्यक्ति, यूरोप की व्यवस्थाओं, विशेषकर कम्युनिस्ट व्यवस्थाओं में घुटता व्यक्ति था (निर्मल वर्मा का व्यक्ति आज भी वहीं रहता है) तो प्रगतिशीलों के बीच ही थे उदारवादी और कट्टरपंथी। दो-चार मेरे जैसे लोगों को छोड़कर ज्यादातर लोग रांगेय राघव के साथ थे। हम भी वहीं ज्यादा खुलापन महसूस करते थे। उन दिनों हमारी न कोई हैसियत थी, न हस्तक्षेप कर सकने लायक बौद्धिक-क्षमता, मगर कहीं न कहीं हम मानसिक रूप से रामविलासजी से दूर हो रहे थे, हालांकि मिलना-जुलना, छेड़-छाड़ बदस्तूर जारी था। हम लोग रामविलासजी से डरते थे और रांगेय राघव को प्यार करते थे। अमरकांत और विश्वनाथ भटेले भी उन दिनों वहीं थे। रामविलासजी के छोटे भाई मुंशी भी अलग घर लेकर रहते थे। राजेंद्र रघुवंशी लगातार नाटक कर रहे थे। मोहन राकेश भी कभी-कभी आगरे जाने लगा था। प्रगतिशील लेखक-संघ की मीटिंग जोर-शोर से चालू थी। मगर रामविलासजी प्रायः वहां नहीं होते थे। वे धीरे-धीरे स्नॉब हो रहे थे। पड़ोस में होने और रोज मिलने-जुलने के चलते मुझे रामविलासजी के निकट समझा जाता था। घनश्याम दोनों को साधे था। मुझे याद है एक बार हम लोग रांगेय राघव के घर बैठे थे। घनश्याम

और बाबूभाई सभी थे। तभी पप्पू ने मेरी किसी बात के जवाब में कहा था 'तुम तो रामविलास का पक्ष लोगे ही। तुम रामविलास के कुत्ते हो' सुनकर मेरे दोनों कान तमतमा उठे। एकदम चुप हो गया। फिर उठकर चला आया। उसके बाद हम लोगों की जिंदगी भर के लिए बोल-चाल बंद हो गई। पप्पू ने शायद अपनी गलती महसूस ही। दो-एक बार घनश्याम के साथ घर भी आए। मगर हम लोग कभी सहज नहीं हुए। उनके अंतिम दिनों में जब मैं उन्हें देखने बंबई उनके घर गया तब भी भीतर कहीं एक तनाव बना रहा था।

मगर यह भी सही है कि रांगेय राघव के इस एक वाक्य ने मुझे झटके से रामविलासजी से दूर कर दिया था और मुझे लगा कि आगरे में रहकर न उनके प्रभाव से मुक्त हो पाऊंगा, न अपना स्वतंत्र लेखन कर पाऊंगा। शायद सारे साहित्य की ही स्थिति यह थी। या तो आप उनके पक्ष में होते थे या विरोधी। पक्का नहीं कह सकता मगर आगरा छोड़कर मेरे कलकत्ता जाने के पीछे हो सकता है अवचेतना में कहीं उनके सर्वग्रासी प्रभाव से छूट भागना भी रहा हो। वहां रहते हुए 'उखड़े हुए लोग' मेरी अंतिम रचना थी। मैं ही क्यों रांगेय राघव भी आगरा छोड़कर अपने गांव वैर (भरतपुर) चले गए। फिर जयपुर में जा बसे। मैं आज भी कभी रामविलासजी को इसके लिए माफ नहीं कर पाता कि उन्होंने आगरा को हमेशा के लिए बंजर कर डाला। आज तक वहां सोम ठाकुर जैसे कवियों को छोड़कर कोई रचनाकार नहीं हुआ। मुझे यह अतार्किक अहसास भी रहा कि वे दसियों वर्ष आगरा में रहकर कभी आगरा के नहीं हुए- हमेशा उनके भीतर बैसवाड़ा उन्नाव और लखनऊ ही भरे रहे- मानों अविकसित और दुश्मन देश में किसी दूसरे संपन्न देश के राजदूत को रहना पड़ रहा हो... बहरहाल आगरा का जो चाहे हुआ हो रामविलासजी खुद अधिक एकांकी, एकांती, सक्रिय और गुरु गंभीर पुस्तकों के लेखक होते चले गए। उनका डंका सारे भारत में बज रहा था।

वस्तुतः जिसे मैंने उनका स्वार्थी, आत्मकेंद्रित और कट्टर होना कहा है वही उनके वे गुण थे जिनसे उस समय चिढ़ होती थी आज ईर्ष्या होती है। ज्याँ जेने पर लिखते हुए सार्त्र ने कहा है कि 'ध्यान दो कि दूसरे में आदमी किन बातों से सबसे अधिक घृणा करता है- वे ही उसकी दमित आकांक्षाएं हैं।' हमेशा बौद्धिक दुनिया में बना रहने वाला व्यक्ति अव्यावहारिक, आत्मकेंद्रित और कट्टर सभी कुछ हो जाता है। जिन्हें हम मनीषी कहकर याद करते हैं उन्हें घर-बाहर वालों ने प्रायः इन्हीं नामों से याद किया है। शायद बिना इस तरह अकेला हुए साधना नहीं की जा सकती। विराट मानव कल्याण के लिए जिंदगी समर्पित करने वाले प्रायः अपने तत्काल संबंधों के प्रति अमानवीयता की हद तक उदासीन हो जाते हैं अपनी मेज और कमरे में ही कैद रामविलासजी किसी दूसरे ही लोक के प्राणी लगते थे इसलिए सिर्फ श्रद्धेय होते चले गए- क्लासिक पूज्य ग्रंथों की तरह।

तात्कालिक संबंधों से उदासीन होते जाने की प्रक्रिया में साहित्य का साथ भी उनके छूटता चला गया। अपने आस-पास की रचनाएं उन्हें इतनी अर्थहीन लगने लगीं कि या तो उनके पास व्यक्तिगत स्मृतियां रह गई या वेद, शास्त्र, दर्शन, इतिहास इत्यादि की विराट (विशेष निरालाजी की) जातीय स्मृतियां। वर्तमान की हर समस्या को या तो वे प्रायः अतीत में देखते थे या किसी निराकार भविष्य के अमूर्त संदर्भों के साथ। विलक्षण था उनका अध्ययन और अध्यवसाय। अविश्वसनीय है उनका रेंज (विस्तार)। वे शुरू से कहते थे कि भाषा की क्लिष्टता या शब्दों का मोह विचारों के उलझाव से आता है। जब आप अपनी अवधारणाओं में स्पष्ट होते हैं तो भाषा अपने आप संप्रेषणीय और

पारदर्शी हो जाती है। उनके सरल सुगठित और पारदर्शी गद्य को पढ़ते हुए लगता है कि हर धारणा उनके मन में स्पष्ट और सुनिर्धारित है। उनके विरोधी इसे सपाट और इकहरा होना भी कहते हैं- यानी दो और दो चार की सफेद-स्याह वाली सोच। भाषा अपने आप में सोचने और विचारों को आकार देते जाने की प्रक्रिया भी है, इसमें शायद उनका विश्वास नहीं था। हिंदी जाति, हिंदी अस्मिता और हिंदी मनीषा को लेकर वे लगभग जेहादी की हद तक आग्रही थे। यह आग्रह उन्हें कभी-कभी हिंदू-गौरव तक भी ले जाता था। सुधीश पचौरी का कहना था कि अतीत के जिन चिह्नों और मिथकों को वामपंथियों ने अस्पृश्य मानकर हिंदुत्ववादियों के राजनैतिक इस्तेमाल के लिए छोड़ दिया था, रामविलासजी उन्हीं को 'रिट्रीव' (पुनराविष्कृत) कर रहे थे। आज अशोक वाजपेयी, विद्यानिवास मिश्र या विष्णुकांत शास्त्री जैसे चोटी के विद्वान भले ही अपने ब्रह्म-प्रेम के कारण, निराला, राहुल या रामविलासजी की पार्टी मुक्ति का भगवाकरण करें, मगर न तो कभी उनके द्वारा उठाए गए विषयों की विविधता और विस्तार को पा सकते हैं न मार्क्सवादी तार्किक प्रखरता और नास्तिक दर्शनों की उनकी वैचारिक आधार-भूमि को पचा सकते हैं। रामविलासजी की एक स्थापना में दम तो है ही कि जिन्हें हम भारतीय संस्कृति और मनीषा की उपलब्धियां कहकर गौरवान्वित करते हैं उनके मूल में निरपवाद रूप में ब्रह्मवादी नहीं, पदार्थवादी नास्तिक विचारक और दाशनिक रहे हैं। मगर जब 'मैं नास्तिक क्यों हूं' जैसे लेखों और बोल्शेविक क्रांति या समाजवाद की प्रशंसा में निरंतर लिखने वाले भगतसिंह या सुभाषचंद्र बोस जैसे को भगवा विद्वानों ने शुद्ध कर्मकांडी हिंदू बना डाला हो तो रामविलासजी किस खेत की मूली है। मुझे याद है विद्यानिवासजी ने नेशनल बुक ट्रस्ट से राहुलजी पर एक संकलन निकाला था। जिसे देखकर लगता था मानो राहुल वामपंथी नहीं बल्कि महंत करपात्री रहे हों। उसमें 'तुम्हारी क्षय' जैसे लेखों की कहीं झलक भी नहीं थी। हमारे भगवा विद्वान (अब लोक भाषाओं में इसका जो भी अनुवाद हो) इस सत्य का सामना नहीं करना चाहते कि राहुल और रामविलासजी दोनों ही पच्चीसों साल पार्टी मेंबर और अंतिम समय तक वामपंथी विचारों से प्रतिबद्ध रहे थे। उनकी इस प्रतिबद्धता में न सामाजिक दंद-फंद थे, न पद-पुरस्कार, सम्मानों अभिनंदनों की षड्यंत्री जोड़-तोड़। उन्होंने कभी वैचारिक और व्यावहारिक बेईमानी नहीं की। चाहें तो उन्हें वे निरासक्त योगी का नाम दे सकते हैं और यह सब इनकी वामपंथी प्रतिबद्धता के चलते ही था। यह सही है कि गदर, निराला, हिंदी भाषा, जाति के बाद जिस दूसरी चीज की तरफ वे विस्तार से जाते हैं वह वैदिक युग है। वेद उपनिषदों में वे कहीं कोई रहस्यवादी आध्यात्म नहीं देखते। शायद पश्चिमी विद्धानों की तरह वे इन्हें 'पैस्टोरल-काव्य' यानी श्रम और किसानी से जुड़े साम-गीत मानते हैं। वहां उन्हें मार्क्सवादी आदिम साम्यवाद की झलक भी मिलती है। मगर दास-प्रथा या वर्णव्यवस्था उनके लिए बहुत महत्वपूर्ण नहीं है। वे राहुल, रामशरण शर्मा और रोमिला थापर के बर-अक्स कुछ शब्दों और चिह्नों के आधार पर आर्यों को भारत का मूल निवासी सिद्ध करते हैं। कुछ के हिसाब से यह उनकी वैज्ञानिक दृष्टि कम अंदाज बहादुरी ज्यादा है। कुछ-कुछ वैसी ही छलांग जैसे रोटी बेलने या मिर्च-मसाले खाने के आधार पर सुदुर मैक्सिको में भारतीय-संस्कृति की खोज। उनके यहां इस बात का भी संतोषजनक उत्तर नहीं मिलता कि जर्मनी, ईरान इत्यादि के आर्य या आर्य-नस्ल के सर्वश्रेष्ठ होने का दंभ या सस्कृत के पुराने शब्दों की समानता में संबंध बिना आर्यों का घुमंतू कबीले माने कैसे सिद्ध होगा। तब क्या यह माना जाए कि भारत मूल के आर्य भी पूर्वी और मध्य योरोप पर उसी

तरह हमले करके कृणवंतों विश्वं आर्यम् का संदेश फैला रहे थे जैसे बाहरी आक्रमणकारियों ने बाद में हमारे साथ किया।

आश्चर्य की बात है कि बुद्ध और कबीर को लगभग उपेक्षित करके तुलसी-वाल्मीकि पर विस्तार से लिखने वाले रामविलासजी हिंदुत्ववादियों को हजारीप्रसाद द्विवेदी के मुकाबले ज्यादा ग्राह्य हैं। इन्हीं कारणों से राहुलजी तो उपेक्षणीय हैं ही, हां हिंदी के प्रश्न पर उनके पार्टी छोड़ने का ढोल वे समय-असमय जरूर बजाते रहते हैं। हालांकि पार्टी के बारे में पूछने पर एक बार राहुलजी ने मुझे एक फिल्मी गीत सुनाया था, अब तेरे सिवा कोई आंखों में नहीं जंचता।' यहां मेरे मन में एक छोटा-सा प्रश्न है कि अगर आर्यों के बाहर से आने का सिद्धांत अंग्रेजों या योरोपियों का षड्यंत्र था और इसके माध्यम से वे यह सिद्ध करना चाहते थे कि भारत के मूल निवासी मूलतः पिछड़े लद्धड़, कायर, ठहरे हुए और असभ्य रहे है, उन्हें सभ्य बनाने का श्रेय हमेशा ही बाहरी या अधिक उन्नत, गतिशील, (डायनैमिक) नस्लों ने किया है- आर्य, शक हूण, मुसलमान और सर्वश्रेष्ठ यूरोपियन या उनमें भी अंग्रेज ही भारत के वास्तविक उद्धारक हैं। आर्यों के बाहरी होने की यह स्थापना अगर ओरियेंटलिस्टों की बदमाशी है और हमारे आत्मसम्मान या प्रतिरोध को ध्वस्त करके आक्रमणों और अंग्रेज-वर्चस्व की सहज स्वीकृति की मानसिकता बनाने के लिए तैयार की गई है तो बात यहीं समाप्त नहीं होती। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की पृष्ठभूमि यानी प्राचीन ग्रंथों, पुरातात्विक, साक्ष्यों की लगभग सारी संरचना भी तो ओरियेंटलिज्म के षडयंत्र की देन है और आर्यों के मूल निवास की धारणा से जुड़ी हैं फिर हम यह क्यों नहीं मानते कि हमारी सारी संस्कृति, इतिहास और राष्ट्रीयता पश्चिम की, अर्थात यूरोपियनो और अंग्रेजों की देन है। अकादमिक दुनिया में 'कड़वा-कड़वा थू' और 'मीठा-मीठा गप' बौद्धिक बेईमानी है।

प्रेमचंद ने मुहावरे या चालाकी में कहा था कि 'उनकी जिंदगी एक सपाट मैदान है' मगर रामविलासजी की जीवनी सचमुच ऐसी सपाट है जहां दूर-दूर तक कोई खाई-खंदक नहीं दिखाई देता। कम से कम पचास वर्षों की उनकी इस जिंदगी का दूर और पास की गवाह मैं रहा हूं। निरालाजी अमृतलाल नागर और भाभीजी के बिछोह और अंतिम दो वर्षों के शरीर कष्ट की अलावा अगर उनकी जिंदगी में कोई बड़ी घटनाएं है तो शायद हर वर्ष किसी महत्वपूर्ण पुस्तक का आना ही रहा है। निष्ठा, लगन, निर्भीकता और सारे विरोधों के बावजूद अपनी बात कहने का बेबाक साहस उनके ऐसे गुण थे जो मेरे अपने लिए प्रेरणा रहे हैं मेरे गुरु प. जगन्नाथ तिवारी में भी यही गुण प्रमुख थे।

मैंने आगे कहा है कि उनकी मानसिक उम्र डेढ़ सौ वर्ष थी। वस्तुतः अठारह सौ सत्तावन से लेकर संपूर्ण बीसवीं शताब्दी उनकी चेतना में इस तरह जीवंत थी कि लगता है उन्होंने इस सारे युग और बनारस से लेकर लखनऊ तक के उस भूगोल को स्वयं अपनी आंखों से देखा और भोगा है। गदर रामविलासजी के लिए मात्र एक घटना नहीं, अवध का दुर्धष, जुझारू और अपराजेय किसान है जिसकी जीवनी उन्होंने एक नैतिक संकल्प के साथ लिखी है। कभी-कभी मुझे लगता है कि इस अवधी किसान के अलावा, भारतेंदु, महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामचंद्र शुक्ल, निराला, प्रेमचंद की जीवनियां उनके अपने परिवार या स्वयं अपनी आत्मकथा के विस्तार हैं। उन सबके साथ वे रहे और बढ़े हैं। कहना मुश्किल है कि 'निराला की साहित्य-साधना' उनकी अपनी जीवनी है या निराला की। ठीक वैसे ही जैसे 'राम की शक्ति पूजा' निराला की अपनी मानसिक गीता है यानी अंतर्द्वंद्वों से जूझने

की व्यक्तिगत प्रक्रिया। आज भी लगता है जैसे डॉ. रामविलास शर्मा कहीं गए नहीं हैं- वे वैसे ही वहीं से और अपने एकांत में बैठे कोई मोटी-सी किताब लिख रहे हैं। पिछले दसियों वर्षों से उन्होंने अपने को लगभग मार लिया था। आपाधापी भरी इस दिल्ली में, जहां हममें हर कोई, हर रोज अपनी उपस्थिति की घोषणाएं करता रहता हो, रामविलासजी कहीं नहीं थे। वे अपने हिमालय में या बोधिवृक्ष के नीचे बैठे तपस्या में लीन थे। संसार से उनका संबंध सिर्फ किताबों या पत्र-पत्रिकाओं में आने वाले साक्षात्कारों के माध्यम से रह गया था। इसलिए जब वे सचमुच गए तो वैसा धक्का नहीं लगा। यूं भी वे 88 वर्ष के थे और एक न एक दिन तो जाना ही था। इतिहास, भाषा विज्ञान, समाजशास्त्र संस्मरण मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद वैदिक काल, चरक सुश्रुत दर्शन, साहित्य, राजनीति, संस्मरण, जीवनी, आत्मकथा ऐसा कौन-सा विषय था जिस पर उन्होंने नहीं लिखा- उनकी किस वर्ष कौन-सी पुस्तक आई है इसकी गिनती करना शायद हमने छोड़ दिया था, वह हमारे बस का भी नहीं था क्योंकि विषय से लेकर पृष्ठ संख्या निश्चय ही हर नई पुस्तक इतनी भारी भरकम होती थी कि आतंक पैदा करती थी। इस क्षेत्र में शायद राहुल सांकृत्यायन ही उनकी बराबरी कर सकते हैं। मगर राहुल में हड़बडी है- रामविलासजी में एक ठहराव और गहराई है। शायद ही कोई दावा कर सके कि उसने रामविलासजी या राहुल को पूरा पढ़ा है। वे अंधे के उस हाथी की तरह थे जिसका हर अंग संपूर्ण हाथी होता है, मगर यह बोध बना रहता है कि वह किसी विराट और विशाल का हिस्सा है। सैकड़ों साल पुराने बरगद की हर जटा अपने आप में एक स्वतंत्र पेड़ बन जाती है। हाथी और बरगद-दोनों की उम्रें लंबी होती हैं- वे चमत्कारी स्मरण-शक्ति के मालिक होते हैं। रामविलासजी की शारीरिक उम्र 88 साल, मानसिक उम्र डेढ़ सौ साल और बौद्धिक उम्र लगभग तीन चार हजार साल थी। पूर्व से पश्चिम तक फैले वे उस हिमाचल की तरह थे जो अपनी ऊंचाई, भव्यता में कभी विस्मय जगाता है तो कभी श्रद्धा, उसका होना कभी आश्वस्ति देता है तो कभी दिव्य और उदात्त की अनुभूति.. वस्तुतः वे कहीं गए नहीं हैं। सिर्फ, विचार, विवेक और आस्था के रूप में कायांतरित हुए हैं। बल्कि वे अब आए हैं।

'मैंने साहित्य में राजनीति नहीं की'

राजेंद्र यादव से प्रेम कुमार की बातचीत

राजेंद्र यादव आज जब हमारे बीच नहीं हैं तब उनके व्यक्तित्व को समझने के लिए जरूरी है कि उनके विचारों को प्रकाश में लाया जाए। इस बीच युवा कथाकार अजय नावरिया के संपादन में प्रकाशित राजेंद्र यादव के साक्षात्कार- यातना, स्वप्न, संघर्ष (किताबघर प्रकाशन) को पढ़ने का मौका मिला। इस पुस्तक में सुपरिचित साक्षात्कारकर्ता प्रेम कुमार की राजेंद्र यादव से इक्कीसवीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों में की गई लंबी बातचीत संकलित है। यह बातचीत बहुत विस्तार से राजेंद्र यादव के व्यकित्व को परत दर परत खोलती है और एक अच्छा साक्षात्कार कैसा होना चाहिए उसे यहां देखा जा सकता है। बहुवचन पाठकों के लिए यह संपादित बातचीत पुस्तक से साभार प्रकाशित की जा रही है :

कम नहीं टली थी वह मुलाकात। तय समय वहां पहुंचा तो किशन ने बताया अभी सो रहे हैं। अतिथि कक्ष में टंगी तीन तस्वीरों, केन के फर्नीचर, वहां पहुंचते ही नाते के रूप में 'किशन' शब्द के सुने जाने ने मुझे कई तरह से सोचने को प्रेरित किया था। समय बिताने के लिए मैं घूम-फिरकर बुकसेल्फ में लगी किताबें देखता रहा था। कुछ हुआ कि इतने बड़े लेखक को सोते देखने का मन हुआ। सहमते-हिचकते छोटे बच्चे की तरह उनके शयनकक्ष में झांका। वे दाईं ओर करवट लिए हुए लेटे थे। सफेद बनियान और लुंगी की तरह लिपटी सफेद धोती। डर जगा कि वे कहीं मुझे ऐसे देखते न देख लें और तब अतिथि-कक्ष में बैठे मन में सवाल उठा कि क्या घर का मतलब सिर्फ ऐसी साज-सज्जा, सामान, नौकर, छतें और दीवारें ही होती हैं। तभी उनकी स्नेहपूर्ण आवाज सुनाई दी-'प्रेम, इधर ही जा जाओ ! यहीं बैठे लेंगे!' जी हां, एकदम अकृत्रिम, परिचित अंदाज में सुनाई दी यह आवाज राजेंद्र यादवजी की थी। इतना बड़ा रचनाकार होने के धमक या दंभ उसमें दूर-दूर तक नहीं सुनी जा सकती थी। उनके सोने के उस कमरे में जरूरत की हर चीज...पाइप और तंबाकू के पाउच, एक नहीं कई। बाद में जाना कि पाइप, पाउच और छड़ी घर में भी, और कार्यालय में भी जगह-जगह, कई जगह मौजूद है। वे जब पाइप तैयार करते हुए कह रहे थे कि क्या कुछ खास होगा, नया भला, ये वहां कहा, ये वहां लिखा...तो लगा जैसे टाला-टरकाया जा रहा है। पर जब उनसे उस दिन, उसके अगले दिन कई घंटों तक बातें हुईं तो उस तरह का सोचना खुद भी गलत लगा।

शुरुआत में मैंने राजेंद्र यादव से जिंदगी के उन प्रारंभिक हिस्सों को याद करने के लिए उनसे आग्रह किया था जिन्होंने उन्हें लिखने की ओर आकर्षित-प्रेरित किया। थोड़ी देर तो लगी उन्हें अपने अतीत की उस दूरी को तय करने में, पर जब बताने लगे तो बताते ही रहे- इस बचपन का जो चित्र याद आ रहा है, वह सुरीर (मथुरा) का है, उस घटना का संबंध मेरे पैर के एक्सीडेंट से है। पिता

वहां डॉक्टर थे और अस्पताल कस्बे से अलग था। अस्पताल और कस्बे के बीच एक सड़क थी। अपने क्वार्टर के बरामदे में, लकड़ी के फ्रेम में बंधा हुआ अपना पैर संभाले अकसर हम वहीं रहते। उसी बरामदे में बैठकर पढ़ने-लिखने की तस्वीर दिखाई देती है। वहां एक अंधा चपरासी था-परसा। एक लड़की खरीदकर कहीं से लाया अपने लिए। आसपास के हिसाब से लड़की एकदम शहरी-स्मार्ट! सारे अस्पताल के लिए सनसनी। ब्रज का क्षेत्र था, पर वह खड़ी बोली बोलती थी। हमारे परिवार में भी खड़ी बोली बोली जाती थी। हमारे परिवार के निकट आने की उसकी कोशिश रहती। अस्पताल के लोग उसका मजाक उड़ाते-छेड़ते। केशो महाराज हमारे कथा-गुरु थे ही वहां। उसी पीरियड में उस लड़की का मजाक उड़ाते हुए एक कविता जैसी चीज लिखी। लगता है, शुरुआत वहीं से हुई। बाद में इसी तरह की और चीजें लिखीं।

थोड़ा रुककर कश लगाते हुए धुआं उड़ाते वे अपने बचपन और कैशोर्य की यादें सुनाते हुए छपे नाम को देखने के सुख को याद कर रहे हैं-हां, रचनाएं बच्चों वाली मैगजीन में भेजते थे-'बालसखा' में। उसमें एक पन्ना होता था जिसके एक हिस्से में न छप सकने वालों के नाम दिए जाते थे। वहां दो-तीन बार हमारा नाम भी छपा था। पं. रामस्वरूप शर्मा प्राइमरी टीचर थे, पिताजी के दोस्त थे वे, हमें पढ़ाते थे। ज्यादातर मेरे पास और साथ रहते। उन्होंने ही हमें मिडिल कराया। मरियल, चुटैल-से एक मौलवी साहब भी पढ़ाने आते। जैसे ही वे मस्जिद का ताला बंद करते, हम छुप-भाग जाते। केशो महाराज हमें पकड़कर लाता। मौलवी साहब ने आलिम फाजिल कराया। केशो रामलीला में लक्ष्मण बनता। हम उसके साथ जाते तो हमें भी वहां खास ट्रीटमेंट मिलता-डॉ. साहब के बेटे हैं, सरूप के साथ आए हैं। केशो जब खाना बनाता तो जाने की जल्दी में हम भी उसका काम निपटाने को साथ लग जाते थे। पराठे और आलू की सब्जी बनाना तभी सीखा। हालांकि बनाया नहीं पर आज भी लगता है कि बना सकता हूं...! ठहाका...राजेंद्रजी का अपना ख्यात ठहाका!

बाद में पिताजी ने चाचाजी के पास झांसी भेज दिया...चालीस-इकतालीस के आसपास। राजनीतिक रूप से वहां का वातावरण बड़ा सनसनीखेज था। हमारी मां महाराष्ट्रियन थीं। पंद्रह-सोलह की उम्र में उनकी शादी हुई थी। हिंदी उन्होंने यहीं आकर सीखी थी। 'चांद' मंगाती थीं। क्रांतिकारियों के बारे में पढ़ने का बेहद शौक। हमारा भी खिंचाव हुआ। उन्हें पढ़ते तो रोमांच, थ्रिल हमें आकर्षित करता। सान्याल का 'बंदी जीवन', सावरकर की आत्मकथा, भगत सिंह आदि के किस्से वहीं पढ़े। 'सुधा' में सहायक संपादक रहे सुधींद्र वर्मा हमारे सब-रजिस्ट्रार चाचा के पड़ोस में रहते थे। उनकी एक साली की शादी दुलारेलाल भार्गव के साथ हुई थी। एक की शायद डालमिया परिवार में। वे पढ़ते बहुत थे। हमें वहां से प्रेमचंद, वृंदावन लाल वर्मा, गंगा पुस्तक माला से निकली पुस्तकें मिल जाती थीं। संयुक्त परिवार था हमारा और चचेरे भाई-बहनों से खूब घनिष्ठता थी। भाइयों में मैं सबसे बड़ा था। बड़ी बहन राजकुमारी मेरे सबसे निकट थी। बड़ा प्यार था हममें। वहां से मैट्रिक किया, फिर चाचा का ट्रांसफर हो गया तो आगरा रहने लगे। इंटर किया व नागरी प्रचारिणी से विशारद व साहित्य रत्न किया। एक विशेष छूट के आधार पर हिंदी, अंग्रेजी, संस्कृत, पाली विषय लेकर बी.ए. में आगरा कॉलेज में दाखिल हो गए। वहीं घनश्याम अस्थाना से परिचय हुआ। मंचों का बहुत अच्छा कवि था वह। हमारे मुकाबले खुले परिवार का था। सिगरेट, चाय, गप...सब वह खुलकर करता। हमारे यहां यह सब मना था। एक लड़की से इश्क भी किया उसने। हमारा हीरो रहा। तीन दोस्त थे हमारे

वहां...घनश्याम, राजेंद्र शर्मा, प्रकाश दीक्षित। दीक्षित बहुत खूबसूरत...यंग! कवियों जैसे बाल। उसके चक्कर में कवियों को देखा। नीरज को अगरा कॉलेज में पहली बार सुना। श्याम प्रकाश दीक्षित से हमारा परिचय झांसी में हुआ था। मन्मथनाथ गुप्त के साथ वे गुप्त संगठनों में शामिल रहे थे। वहां 'जागरण' में काम करते थे। कुछ कविताएं और भावुकता-भरे चालू किस्म के लेख 'जागरण' में छपे। आगरा आए तो 'सैनिक' में भी कविताएं छपीं। झांसी में दो उपन्यास लिख डाले। हां, सुरीर में भी लिखे थे-तिलस्मी उपन्यास! अब कहां गए, पता नहीं। झांसी वाले उपन्यास रोमांटिक किस्म के थे। संयुक्त परिवार में रह रहे थे हम। व्यक्ति को सारे अपराधबोध के साथ प्रेम का पहला अनुभव वहीं होता है। व्यक्ति किसी न किसी बहन के प्रति आकर्षित होता है और यह सामाजिक दृष्टि से अनुचित होता है। यह अपराधबोध पीछा नहीं छोड़ता उसका। इस विषय को बड़ी ईमानदारी के साथ अंचल ने 'महिमा' में दिया था। इसी का एक रूप 'घेरे के बाहर' वाला भी हो सकता है। परिवार की भीतरी बात कहना ठीक नहीं है, पर बाहर तो तब कोई मौका था ही नहीं। कजिन या बहन की कोई फ्रेंड और रोमैंटिक-प्लूटॉनिक प्यार वहीं से शुरू। इसीलिए एक गिल्ट होता था। चालीस से पचास की बात कर रहा हूं। उस समय का हर युवक अनैतिक करने के पापबोध से पीड़ित रहता था। चौबीस घंटे लगता रहता कि हम पाप कर रहे हैं। तब इसी थीम पर लिखा जा रहा था। जब हम आगरा आए तो देखा कि यंग कम्युनिस्ट बच्चे साहित्य बेचते हैं, लोगों को पढ़ने को पुस्तकें देते हैं। तब यशपाल, राहुल को पढ़ा तो नई तरह की दृष्टि बनी। हमारी दृष्टि प्रेमचंद से अधिक, यशपाल और राहुल से बनी। एक्शन और रोमांस, युवा का घुमक्कड़पन और एडवेंचर सब। आज तो वह सब प्लूटॉनिक माना जाएगा। अपराधबोध पैदा करता परिवार तब दो तरह से मार रहा था। कथाएं, रामलीला, अखंड पाठ, धार्मिक प्रशिक्षण! आदर्श युवक का नैतिक जीवन तब दूसरी तरह का होता था। बाहर निकलकर देखा तो लगा कि परिवार-रोमानी, धार्मिक, सामाजिक हर स्तर पर रूढ़िवादी है और हमारा विकास सहज ढंग से नहीं होने देगा। मार्क्सवादी साहित्य, सामाजिक जागृति की पुस्तकें, जयप्रकाश, बेनीपुरी आदि को पढ़ा तो लगा कि सबसे पहले इससे मुक्ति जरूरी है। सहज, स्वस्थ, भावनात्मक जीवन को परिवार किस तरह मारता है, यह मैंने विस्तार से पहली बार 'सारा आकाश' में जीया। इसमें वही कहानी है।

उस जमाने में दो-तीन रूपों में किसी घर में प्रवेश हो सकता था- लड़की को पढ़ाने वाला टीचर या लड़के का दोस्त बनकर। उस समय के उपन्यासों और कहानियों में अकसर इसी तरह के प्रेम-संबंध मिलते हैं। जैनेंद्र आदि में यही तो है। हां, हम दस भाई-बहन थे। बड़ा परिवार था हमारा। पिताजी का भाइयों से बंटवारा हो गया था। पिताजी का ट्रांसफर होता रहता था। बच्चों की पढ़ाई के ख्याल से वे हमें और मां को आगरा रखते। पिताजी वहां आते रहते। अपने पैरों पर खड़े होने की सोचकर हमने ट्यूशन किए। ट्यूशन वाली दो लड़कियों से बाद में पारिवारिक संबंध हो गाए। एक तो कम उम्र में विधवा हुई संतोष मित्तल थी और दूसरी नगीना। नगीना तब चौदह-पंद्रह वर्ष की रही होगी। हमें बहुत ब्रिलिएंट लगती थीं। दोनों हाथों से लिख लेती थी और राइटिंग में कोई अंतर नहीं होता था। हम बहुत प्रभावित थे उससे। बहुत दिनों तक संबंध चला उससे। जैन परिवार की थी और हेड ऑफ द फैमिली थी। हमने जब एम. ए. कर लिया तो 'खेल-खिलौने' लिखी। चार-पांच जगह से लौटी, बाद में अज्ञेयजी ने 'प्रतीक' में छापी। इस लड़की के भविष्य को लेकर

के मन में जो आशंका थी, उस कहानी में वही मानसिकता थी। उस कहानी ने हमें बहुत प्रसिद्धि दी। अज्ञेय जी ने तभी कहा था कि आपमें क्षमता है, एक लंबी कहानी लिखो। मित्र प्रकाश दीक्षित के जीवन पर डेढ़-दो महीने में 'सारा आकाश' लिख डाला। दीक्षित रोज आता, अपने अनुभव सुनाता। उसी की जिंदगी को आत्मकथा की तरह लिख दिया। 'सारा आकाश' की प्रभा की यातना के पीछे अनकॉन्शस में हलकी-सी एक इमेज नगीना की भी है। अज्ञेयजी ने देखकर कहा कि उपन्यास पूर्ण है, पर प्रारंभ और अंत निकाल देते तो अच्छा हो। तब हमारी चार-छह कहानियां छप चुकी थीं-'हंस' और 'सुधा' में और फिर हम प्रगतिशील और वे प्रतिक्रियावादी! फिर हम क्यों माने उनकी सलाह? नहीं माने और प्रगति प्रकाशन को छपने दे दिया। पहले नाम रखा था-'प्रेत बोलते हैं'। उस प्रकाशन की हालत खस्ता हो गई तो छपा नहीं। मालूम हुआ कि किताब सुलेमान प्रेस, बनारस में छपने दी गई थी। तब नामवर का नाम हो चुका था और उनसे इलाहाबाद में परिचय भी हो चुका था। उन्हें चिट्ठी लिखी कि पता लगाकर बताएं। नामवरजी ने पढ़ा तो कहा कि ये तो तुमने ज्यों की त्यों मेरी कहानी लिख दी है। दरअसल वे भी ऐसे ही घर में रहते थे। बाद में अट्ठावन-उनसठ में जब कलकत्ते से दिल्ली आकर रहे तो उपन्यास री-राइट किया। 'समाज' में धारावाहिक निकला और राजकमल से प्रकाशित हुआ।

रामविलासजी, नागरजी और मैं विजयवाड़ा से कन्याकुमारी तक घूमे-सब देखा। वहां के अनुभव को 'एक इंच मुस्कान' के पहले हिस्से में दिया। उन लोगों के साथ एक-डेढ़ महीने की यह यात्रा मेरे 'ट्रेन' का जबर्दस्त हिस्सा था। उनकी दोस्ती, सहजता, निकटता सब देखी मैंने। वहां गोष्ठियां कीं, बड़े लोग देखे, उनसे मिले। रामविलासजी और नागरजी जैसे दो बड़े-साहित्यकारों के बीच, उनके साथ रहे हम। लौटकर आगरा आए तो शची रानी गुर्टू, जो दिल्ली से निकलने वाली 'प्रवाह' का संपादन करती थीं तब, का संदेश मिला कि उन्हें अकोला में 'प्रवाह' के लिए एक सहायक की आवश्यकता है। शचीजी तब यंग थीं, सुंदर थीं। जगजीवन राम का उन पर वरदहस्त था और ब्रिजलाल बियाणीजी से दोस्ती। इससे पहले हम आगरा कॉलेज की लेक्चररशिप को मना कर चुके थे। हमें वहां का संपादक बनाकर अकोला भेज दिया गया। अकोला में बियाणीजी का व्यवसाय था। ढूंढते-पूछते उनके घर पहुंचे। एक खूबसूरत युवक ने पूछा कि 'आप राजेंद्र यादव हैं?'...मैं शरद नागर हूं। मुझे शचीजी ने बियाणीजी का पी. एस. बनाकर भेजा है। बड़ी आत्मीयता से मिले बियाणीजी। तब 'लहरों पर परछाइयां', 'देवताओं की मूर्तियां' आदि कई पुस्तकें आ चुकी थीं। दो संग्रह भी आ गए थे। उन्होंने पूछा, जानकारी ली, वे गांधीवादी, सो उन्हें लगा कि कम्युनिस्टनुमा चीज है। कहा-विचारधारा उग्र है। हमने कहा-'अन्याय के खिलाफ है।' दो-तीन दिन में मालूम हुआ कि लौटने का टिकट हो गया। दुःखी भाव से लौट आए। शरद डटा रहा बाद तक। वहीं का पार्ट हो गया। फिर आगरा आ गए। 'उखड़े हुए लोग' लिखना शुरू किया। उसमें कुछ कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, कुछ बियाणीजी के यहां का वातावरण था। दो महीने हम प्रभाकरजी के नवजीवन प्रेस में रहे। 'ज्ञानोदय' में साथ रहा। उन्हीं दिनों उनके बेटे को आसपास से देखने का मौका मिला। वे हरकती आदमी थे। नगीना चिट्ठी भेजती हमें, वे खेलकर पढ़ लेते। चिट्ठियां कई दिनों तक न देते। हम बेचैन होते। वो हमें टटोलते। प्रभाकरजी से प्रबंधन की असंतुष्टि के चलते 'ज्ञानोदय' को कलकत्ते ले जाना तय हुआ। हम आगरा आ गए। घूमने का शौक था, सीजनल टिकिट लेकर एक-एक सप्ताह

की रेल-यात्राओं पर निकल जाते। कलकत्ता हमें अच्छा लगा। यादवेंद्र शर्मा चंद्र ने रामपुरिया से मिलकर रामपुरिया प्रकाशन खोला था। 'नई चेतना' नाम से वे पत्रिका निकालते थे। चंद्र रामपुरिया प्रकाशन के लिए किताब लेने आए। मेरे पास किताब आई थी नहीं। 'चेखवः एक इंटरव्यू' दे दी, एडवांस लेकर। तब हमारी जरूरतें बहुत कम थीं और सोच लिया था कि स्वतंत्र रहेंगे और लिखेंगे, इसीलिए नौकरी नहीं की। एडवांस मिलने के बाद तैयारी की और फिर कलकत्ते चले गए। भाई-बहन दुःखी। रोअन-पीटन की। स्टेशन पर बोला कि घड़ी बेचने की नौबत आ जाए तो तार कर देना। सात-आठ दिन बहन के यहां रहे। उसके बाद हम तीन मित्रों ने डायमंड हार्बर पर एक फ्लैट ले लिया, उसमें रहने लगे। एक नौकरानी रख ली। कमलकांत आई. ए. एस. की तैयारी करता, हम सारे दिन लिखते-पढ़ते। नेशनल लाइब्रेरी जाते। कह रखा था कि 'योग दर्शन और हिंदी कविता' पर तिवारीजी के साथ शोध कर रहे हैं। योग की किताबें उलटते-पलटते लेकिन मन चेखव की किताबों में ही लगता। कृष्णाचार्य विधुर थे। बड़े पढ़ाकू थे। बड़े भाई जैसे बन गए थे। हमारी देखभाल करते। 'प्रातः स्मरणीय तुलसीदास' जैसे लेख लिखते। उन दिनों गेटे पढ़ रहे थे। हमें सुनाते तो सुनकर लगता कि हमने गेटे पूरा पढ़ लिया है। द्विवेदी उन्हें बहुत चिढ़ाया करता, कुछ ध्यानकर हँसी आई है। हँसते-हँसते बता रहे हैं-'एक शाम हम साथ बैठे थे। अचानक यह हुआ कि मैंने उनकी चोटी काटकर उनके हाथ में दी। द्विवेदी सन्न! कृष्णाचार्य चुप। कुछ नहीं बोले। मैंने जब कहा कि गलती हो गई तो बड़ीं गंभीरता के साथ बोले-'काटना तो मैं भी चाहता था, पर तुमने बच्चों के सामने काटी।' (ठहाका लगाते हुए हँसते रहे देर तक!)

वहां हम लिखते थे। 'ज्ञानोदय' में जाते थे। 'नया समाज' में पचहत्तर प्रतिशत विदेशी कहानियों के अनुवाद मैंने किए। खूब ट्रांसलेशन किए, खूब घूमे। बड़े पारिवारिक रूप में मिलते थे परिचित मित्र वहां। रामपुरिया वाले चंद्रजी के साथ कॉफी हाउस जाते। रेस्तरां जीवन उन्हीं के साथ देखा। उनके एक सहायक के साथ सोनागाछी भी गए। ललित के साथ एक झलक ही देखी थी वहां की, फिर नहीं गए। अट्ठावन में डेढ़ साल हम कमरा लेकर अलग रहे। कलकत्ते में ही मन्नू से परिचय हुआ। कलकत्ते में ही थे, तभी गोली लगी। द्विवेदी जो बाद में चेयरमैन, रेवेन्यू बोर्ड हो गया था, बड़ी श्रद्धा के साथ घसीटकर जमशेदपुर ले गया था। मुंडन या नामकरण जैसा कुछ था वहां। उसके संबंधी एक सज्जन इटावा से आए थे। वे बाहर दिखाते हुए पिस्तौल साफ कर रहे थे। हमें कैमरे का शौक था। पिस्तौल चल गई। मुझे आश्चर्य हुआ, अरे! यह तो चल गई। यह तो मेरे लग गई! पर कोई दर्द नहीं। पायजामे में सूराख हो गया। खून निकला। उन लोगों ने जैसे-तैसे टाटा हॉस्पिटल में भर्ती कराया। अरे, मुझे दर्द नहीं हो रहा है मैं हँस रहा हूं। मेरे आसपास भीड़ है, नर्स है, डॉक्टर है। एक्सरे हुआ। एक नहीं, चार-पांच। गोली है ही नहीं कहीं। निकलने का निशान नहीं है। फिर है कहां? पीठ का एक्सरे लिया। मालूम हुआ कि रीढ़ की हड्डी में है। तब ऑपरेशन से निकाला गया उसे। मौत से साक्षात्कार का-सा अनुभव! यह अनुभव भी उसी कलकत्ते में।

इस बीच फोन पर किसी ने कुछ पूछा जिसका जबाव देते रहे। फोन से मुक्त होते ही मैंने पैर के एक्सीडेंट के बारे में पूछ लिया। उसी कालखंड में पहुंच गए थे जैसे....'झांसी वाले चाचाजी पहले भवाना कलां (मेरठ) में थे। उनका परिवार आधुनिक माना जाता था, सो पिताजी सोचते थे कि बच्चे उनके यहां रहकर ही पढ़ें, तो वहीं रहकर पढ़ रहे थे हम। हॉकी खेलने गए थे, नया जूता पहने

हुए थे। एक लड़का था बलवीर। हमारी उससे लड़ाई हो गई। हमने हॉकी घुमाकर उसके कॉलर बोन पर मारी। उसने हमारे टखने पर मार दी। घर पर आए तो मोच बता दी। मोच के सारे इलाज होते रहे...गीले चने, मालिश, लेप...उसमें पैर फूलता गया। पिताजी को खबर की गई। आए तो देखा. ...यह तो हड्डी टूटी है। मथुरा लाए। सिविल सर्जन से कंसल्ट किया। हड्डी टखने पर टूटी थी, पर इतने दिनों में गलते-गलते पैर तक आ गई थी। सेकंड वर्ल्ड वार के जमाने की बात है। छत्तीस अड़तीस तक...उस समय तक प्लास्टिक नहीं आया। बकरे की हड्डी के अलावा और चारा नहीं था और वह भी एक जोड़ पर ही लग सकती थी। काठ के फ्रेम में बंधी हुई स्थिति में दो सालों तक रहना पड़ा पैर को। उसी फ्रेम से चलते थे...।

नई कहानी की शुरुआत के समय में हमें जो लगा, वह यह कि जैनेंद्र, यशपाल या दूसरे लोग वास्तविक स्थितियों की नहीं, खास किस्म की औरत के आसपास की कहानी बुनते हैं। नई कहानी मध्यम वर्ग के स्त्री-पुरुष के द्वंद्वों की कहानी है। रोमैंटिक नहीं। राकेश की सभी कहानियां मूलतः स्त्री-पुरुष के संबंधों की कहानी हैं... मेरी भी जैसे...'खेल-खिलौने', 'एक कमजोर लड़की की कहानी'। हमने स्त्री के बारे में सहानुभूति से लिखा, पर दृष्टिकोण रहा पुरुष का नए-नए संस्कारों का द्वंद्व। इसका सबसे अच्छा उदाहरण है-'आषाढ़ का एक दिन'। मल्लिका कालिदास को समर्पित है, जीवन-सहयोगिनी भी है। इमोशनल हिस्सा है, खिंचता जाता है। जहां है, वहां एडजस्ट नहीं कर पाता, विकसित व्यक्तित्व के साथ। लौटकर पुरानी स्त्री के साथ। विकासशील लड़की के साथ संबंध नहीं बनते। हमने मूलतः मध्य वर्ग के भावनात्मक तनावों-द्वंद्वों की कहानियां लिखीं जिसे अकहानी वालों ने झटके से तोड़ दिया। हम सब पुराना त्यागने योग्य नहीं मानते थे। हम मानते थे कि पुराने के प्रति सहानुभूति रहे। हालांकि हम यह मान चुके थे कि यह चलने वाला नहीं है। अकहानी वाले पुराने के प्रति क्रूर रहे। स्त्री बस देह और वासना रह गई। ...सिर्फ मादा। पुराने संबंधों और मूल्यों का रिजेक्शन ...टोटल रिजेक्शन। हमारे यहां बचाने की भावना थी। हमारे यहां जो इमोशनल, रोमैंटिक, पवित्र था, उन्होंने उस सबको रिजेक्ट किया। यहां एक डेडएंड पर आ गई कहानी। इस कहानी को वे कहानियां मुक्ति देती हैं जो राजनीति या नक्सलवादी या गांव-कस्बे पर लिखी गई हैं। शहरी कहानी में स्टेगनेशन है, वह रिपीट करती है। नयापन गांव-कस्बे में। ज्ञानरंजन की भाषा पुराने को रिजेक्ट ही नहीं करती, मजाक भी उड़ाती है। हमारा वर्ग एक्जास्ट हो चुका। अब जो शहरी कहानियां हैं ...भूमंडलीकरण, स्त्री के व्यक्तित्व, शोषण की कहानियां हैं। इसमें रीतिकाल, मध्यकाल जैसी स्थिति मानता हूं...अब सारे विषय जड़ हो गए थे, घिस दिए गए थे। भक्ति-आंदोलन केवल यहां का नहीं था, पूरे भारत का था। वह दक्षिण से उत्तर की ओर आया। उसमें मध्य वर्ग के लोग नहीं थे, दलित थे, मुसलमान थे। बनावट देखें उसकी। हमारे आंदोलन में सारे लोग मध्य वर्ग के, दलित, अल्पसंख्यक, स्त्री वहां कहां है? अस्सी के बाद जो आंदोलन हुआ उसने हमारे पहले लिखे साहित्य को अप्रासंगिकता कर दिया। हमारे मध्य वर्ग का टेंशन एक फेज था, निकल गया। वह समय और टेंशन अब नहीं रह गए। उस टेंशन की मूल वजह यही थी कि स्त्री जितनी तेजी से बदल रही थी, पुरुष नहीं बदल रहा था। स्वतंत्र, व्यक्तित्ववान नारी के साथ कहानीकार का संबंध नहीं। अपनी शर्त पर चाहिए नारी उसे, बच्ची हो, निर्भर करे और बौद्धिक साथी भी हो। संबंध नहीं निभे। पानी रुक जाने पर दूसरी जगह से निकलेगा। भक्तिकाल में जैसे हुआ। साहित्य भक्तों, संतों पर

चला गया। जाना ही था, वे तो सम्मेलनों, दरबारों, घरों में औरतों, रति-भेद, नायिका-भेद की बातें ही करते रहते थे। हां, भविष्य का साहित्य दलितों, अल्पसंख्यकों, स्त्रियों के पास है।

आपको बताऊं...मैं, दो-तीन वर्षों से इसी थीम पर काम कर रहा हूं। अठारह-बीस ऐसे उपन्यास, जो श्रेष्ठ लेखकों ने लिखे हैं और ट्रीटमेंट, भाषा, चरित्र, संघर्षों की दृष्टि से बहुत अच्छे उपन्यास हैं, मैंने देखे। उनमें एक कॉमन चीज है कि सब बूढ़े लोगों की कहानियां हैं। यह संयोग है, पर पूरे मुहल्ले को जुकाम। संकट कहीं दूसरी तरह का है। जितने पुराने आदर्श मूल्य थे वे इनके माध्यम से समाप्त। बीसवीं शताब्दी का अंत, उन सारे विचारों के मूल्यों के साथ। इन बीसों उपन्यासों में सबके पास अतीत है, भविष्य नहीं। दलितों, अल्पसंख्यकों, स्त्रियों की रचनाओं में सिर्फ भविष्य है, अतीत नहीं। हां, निर्मल वर्मा, कृष्णा सोबती, अलका के...और भी कई उपन्यास, मैं इसे लॉस्ट सेंचुरी कहता हूं...जो खो गई है। उनमें एक भी विचार अपना नहीं, सब पश्चिम से। बात करते हैं कि कहानी पुरानी है...'सरित्सागर', 'बैताल पच्चीसी' जैसी आधुनिकता पर ही आते हैं चैनल कट! मार्क्सवाद हो या और कुछ या फिर सांस्कृतिक राष्ट्रवाद हो...सब पश्चिम से लिए गए हैं। राष्ट्रीयता खुद हमारी नहीं है, जो भावबोध बनाते हैं, सब पश्चिम से है। अभी हम कोलोनियल जाल से बाहर निकल रहे हैं। पहले अंग्रेज छोड़ गए थे, अस्पष्ट अब बिलकुल साफ है डिवीजन।

पश्चिम के अनुकरण की बात तो आपके नई कहानी के आंदोलन के साथ भी खूब की जाती है?

जो पश्चिमी विचारधारा थी, उसकी बातें तब सब करते थे। सब प्रभावित थे। हमें काटने वाले भी। तब भारतीय था क्या? जब हमने पायजामा-कुर्ता पहना तो वो भी मुगलों का था। हमारे कपड़े तो लपेटने वाले थे। मुगलों के बहुत बाद में सिलाई आई तो फिर पैंट-शर्ट आई और वह अचानक भारतीय कहलाने लगी। साड़ी पहले सीधे पल्ले वाली थी, पता नहीं कहां से उलटे पल्ले की आ गई। जब कोई नई चीज आती है तो पुरानी भारतीय हो जाती है। सलवार-कमीज का पहले विरोध हुआ पर जींस ने उसे भारतीय बना दिया। हर नई चीज का विरोध करने का अस्त्र भारतीय था। हम पर आरोप था कि अस्तित्ववादी हैं और अस्तित्ववाद पश्चिम का दर्शन है। मार्क्सवाद को भी पश्चिम का बताया गया। मार्क्सवाद पहला दर्शन है जिसने अंतरराष्ट्रीय मानसिकता दी। ज्ञान-विज्ञान सबकी खिड़की खोली। साहित्य सीमित दृष्टि का नाम नहीं है...उसमें ज्ञान की, जानकारी की व्यापकता भी चाहिए। लेकिन अब द्वंद्व यह है कि ज्ञान के भूमंडलीकरण की नहीं, बाजार के भूमंडलीकरण की बात की जाती है। मल्टीनेशनल कंपनीज ने हमारे सारे धंधों को खा लिया। वे खरीद लो या खत्म कर दो के सिद्धांत पर फल-फूल रही हैं। आंखें खोलने की बात है यह। घड़ी का होमलैंड स्विट्जरलैंड था। एच. एम. टी. की घड़ी स्विट्जरलैंड जाती थी। वहां के कारीगर आकर एच. एम. टी. में सीखते थे, पर आज क्या स्थिति है? साम्राज्यवाद ने पहले आपके स्थानीय उद्योग धंधों को समाप्त किया। यही अंग्रेजों ने किया। ये आए तो इन्होंने आधुनिक ढंग से किया। रिमोट कंट्रोल वाला साम्राज्यवाद है इनका। हां, एक चीज में जरूर हमने नाम कमाया उसमें ब्राह्मण परंपरा का हाथ रहा। विचार के क्षेत्र में ऑब्सट्रैक्सन पर बड़ा काम किया था। साउथ में जबर्दस्त गणितज्ञ हुए। हिंदुस्तानी दिमाग ने सॉफ्टवेयर में काम किया। उसके पीछे हजारों साल के संस्कार हैं। यह सकारात्मक पक्ष है। दिक्कत यह है कि हार्डवेयर, सॉफ्टवेयर का फायदा बहुत छोटा वर्ग उठाता है। मीडिया में अभी भी वर्चस्व उसी

सवर्ण का है। वहां स्त्री, दलित, अल्पसंख्क नहीं हैं। ये तीनों वर्ग मनु के संसार से निष्कासित हैं।

नई कहानी की शुरुआत को लेकर तरह-तरह के तर्क-दावे किए जाते रहे। आप इसकी शुरुआत का श्रेय किसे देना चाहेंगे?

अगर ईमानदारी से बात की जाए तो नई कहानी की पहली कहानी मुझे भुवनेश्वर की 'भेड़िए' लगती है। जैनेंद्र की 'पत्नी', 'जाह्नवी' जैसी कहानियां भी नई कहानी की आदि कहानी जैसी लगती हैं। हमारी कोई परंपरा नहीं है। आज गलत हो सकती है यह बात, पर ये कहानियां उस परंपरा में हैं।

नामवरजी ने तो 'परिंदे' को पहली कहानी माने जाने पर बल दिया था तब...?

सही यह है कि हमने कुछ को साथ नहीं लिया उसमें मटियानी को साथ न लेना भी गंभीर भूल थी। रेणु को लिया था एक तरह से। निर्मल के साथ यह दिक्कत थी कि उनकी कहानी व्यक्ति-केंद्रित अधिक थी, हमारी रुचि नहीं थी उतनी। वहां तन के अंधेरे एकांत में संवादहीन स्थिति में रहने वाले लोग थे, जो आज चालीस वर्ष बाद भी संवादहीनता की स्थिति में हैं और मृत्यु की प्रतीक्षा करते हुए दिखते हैं। इसका असल कारण यह है कि निर्मल का वातावरण विदेशी है। तो 'परिंदे' के मामले में यह रहा कि नामवरजी गांव-कस्बे से आए थे। उन्हें पश्चिमी संगीत, डांस करते, उदास, सिगरेट पीते लोग ही आधुनिकता का प्रतिनिधित्व करते लगे। उसी उत्साह में नामवरजी ने पश्चिम को आधुनिकता का पर्याय मानकर अपनी राय रखी। अनेकार्थता, ध्वनियां और बिंब तलाश रहे थे वे, क्योंकि कविता की आलोचना के मारे थे। वहां लिरिकल कहानियां फिट होती थीं। एक खास तरह की अस्पष्टता, आत्मा-वात्मा का चक्कर हो जाए तो और अच्छा। वे कलाकार जेनुइन थे। पर उनकी वाह-वाह करने वाले लोग नहीं समझते थे।

नई कहानी आंदोलन को जमाने, बढ़ाने, स्थापित करने में आप तीन रचनाकारों- मोहन राकेश, कमलेश्वर और राजेंद्र यादव का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता रहा है। इस जुड़ाव को कई बार गुट, गिरोह, दल आदि कहकर भी समझा-समझाया गया। आज की स्थिति में आप तीन रचनाकारों के जुड़ने, भिड़ने या अलग होने को किस तरह देखते हैं?

जहां तक हम तीनों की बात है, तो असल में हमें 'नई कहानी' का एक मंच मिला। हमने एक-दूसरे के बारे में 'मेरा हमदम-मेरा दोस्त' के माध्यम से लिखा। तीनों दिल्ली में थे, इसलिए गुट बनाने का आभास होता था। ईमानदारी की बात यह है कि राकेश और कमलेश्वर दोनों मोर्चाबंदी वाले लोग थे। राकेश फिलॉसफी देते थे- कैसे दूसरों को काटा जाए, कमलेश्वर क्रियान्वयन करते थे। मैं दूर रहता था, कुछ नहीं करता था। इससे वे मुझसे नाराज रहते। हां, राकेश से बातचीत बंद होने का भी ऐसा ही एक कारण रहा। जब तिरसठ-चौंसठ में मैं दिल्ली आया तो 'एक दुनिया समानांतर' का पूरा ड्राफ्ट बनाकर लाया। यहां आकर उसे पूरा किया। 'ज्ञानपीठ' को दे दिया। एक रात बैठकर इन दोनों को सुनाया। दोनों चुप रहे। राकेश को ज्यादा कष्ट हुआ। यह नई कहानी की पहली किताब हो जाएगी। उसी जमाने में साहू जैन के यहां इनकम टैक्स का छापा पड़ा था। अजीब-सा तर्क निकाला, जो लोग गलत काम करते हैं, झूठे मुकदमे बनाते हैं, उनसे सहयोग नहीं करना है। मैंने पूछा कि अभी तक मदद देते रहे हैं तो अब अचानक क्या हुआ? पर सारा जोर इसी पर कि किताब न आए, ज्ञानपीठ से। ओमप्रकाशजी राकेशजी के दोस्त थे। राजकमल से भी किताब नहीं आनी थी। टेंशन रहा हमारे बीच में। उसी के बाद धांय-धांय 'नई कहानी की भूमिका' लिखी

कमलेश्वर ने। राजपाल प्रकाशन ने नई कहानी की सीरीज निकलने का तय हुआ। तय हुआ कि पांच कहानीकार होंगे और भूमिका मेरी होगी। एक-एक, डेढ़-डेढ़ पेज मैंने सब कहानीकारों पर लिखा। सोच यह थी कि गुट वाली धारणा नहीं बननी चाहिए। राकेश पर जो लिखा, उससे वह नाराज हो गया- तार्किक और सही है तेरी बात। पर आंदोलन की खातिर ये बातें नहीं कहनी चाहिए। मैंने कहा कि यह क्या कोई डाकुओं का आंदोलन है या फिर हम तीनों एक-दूसरे को तेल लगाते हैं? बाहर जो ऐसा सोचते हैं, उनकी धारणा टूटनी चाहिए। जरूरी नहीं कि हम एक-दूसरे के बारे में ऐसा सोचें। राकेश आया और उसने उस भूमिका को मना किया। उस भूमिका के जो पर्सनल, इमोशनल परिणाम हो सकते थे, तार्किक ढंग से सबके बारे में कहता रहा। अंत में बोला-अगर यही है तो 'वी स्टॉप कम्युनिकेशन ईच-अदर'। इमोशनल हो गया और रोने लगा। बोलना जिस तरह रुका उसने बता दिया कि इमोशनल तो इस समय राजेंद्रजी भी हैं। अब थोड़ा रुक-रुककर बोल रहे हैं- 'सच है कि उसने जितनी पर्सनल चीजें मुझे बताईं, शायद ही किसी को बताई हों। मन्नू से कहा कि खिलाफत के बावजूद उससे संबंध रहेंगे। मन्नू और वह मिलते रहते थे लेकिन सजग रहता था कि मन्नू के बारे में ऐसा कुछ न हो, जो मुझे बुरा लगे। आत्मप्रशंसा का मारा था, चाहता था कि कमलेश्वर, राजेंद्र सब मेरे बारे में लिखें। उसका कॉम्प्लैक्स थे- अज्ञेय। प्रेम संबंधों, दोस्ती के संबंधों में वे केंद्र में रहे। वैसे अज्ञेय बहुतों के कॉम्पलेक्स थे।

साहित्य में राजनीति की बात तो आपके बारे में भी कम नहीं सुनी जाती... तो?

जिसे राजनीति करना कहा जाता है, वह आज तक मैंने नहीं किया। नहीं, प्लानिंग करना, उठाना या गिराना नहीं किया। जिसे गलत समझता हूं, कहता जरूर हूं, पर प्लानिंग कभी नहीं की। हां, यदि गलत धारणा बन जाती है तो फिर ठीक हो जाती है। लोग समझते हैं कि षड्यंत्रकारी हूं, मेरी यहां मारने-दफनाने के रोज षड्यंत्र बनते हैं। हां, क्यों नहीं, मेरे संबंध सिर्फ व्यक्तियों से हैं, मैंने किसी संबंध से लाभ नहीं उठाया। नाराज? ज्यादातर लोग मुझसे नाराज हैं कि रचना ज्यों की त्यों छापी क्यों नहीं। लौटाने पर मेरे कहानीकार को अपील करेंगे। कहेंगे कि अपने ढंग से लिखवाना चाहते थे। मैं कहता हूं कि तुमने राय मांगी थी, मैंने दे दी। इसके पीछे कोई राजनीति नहीं कि मैं किसी की कहानी को एक नंबर पर रखूं। समझ गलत हो सकती है, नीयत नहीं।

घर-परिवार, दोस्तों के बीच, आखिर कभी तो गुस्सा व्यक्त करने की जरूरत पड़ी होगी आपको? कैसे करते हैं आप अपने गुस्से को व्यक्त?

शायद उपेक्षा करके! बहुतों से तीस-तीस साल पुराने संबंध हैं, पर जिनसे अनबन हुई, फिर उधर देखा नहीं। ये बातें मेरी बेटी भी कह सकती है। मन्नू भी कहती है। जिद जो हैं, वह शायद वे विचार हैं जिन पर मैं दृढ़ हूं। यह विचार है, मेरा, कि मेरा समय दलितों, अल्पसंख्यकों, स्त्रियों का है... अब है तो है। कोई भी इसे प्रतिबद्धता, कॉन्विक्शन या जिद जो चाहे कह ले इसलिए जो कहानी या उपन्यास मुझे जीवन-मरण का प्रश्न लगते थे, आज वे अप्रसांगिक लगते हैं या लगता कि वे भविष्य के लिए उपयोगी नहीं हैं। पंद्रह-बीस साल के लिखने को अप्रसांगिक कहने का कुछ अर्थ तो है। मैं अपनी रचनाओं पर बहुत कम बात करता हूं। जब तक कोई प्रोवोक न करे, नहीं बात करता। मैं खुद अपनी उपेक्षा कर रहा हूं। क्रोध को जान-बूझकर छोड़ा है। अब वह अभ्यास और प्रकृति बन गई है। जैसे कोई नुकसान हो जाए, तो दो मिनट सोचता हूं बस। स्टेशन से यदि

मेरे सामने से ट्रेन निकल गई तो बस दो मिनट सोचूंगा कि निकल गई। बस, फिर ज्यादा दिमाग नहीं खपाऊंगा। पता करूंगा कि अगली ट्रेन कौन-सी है? कब जाएगी?

आपकी जिंदगी की घटनाएं, मोर्चेबंदियां बताती हैं, कि आप कुछ अधिक ही साहसी या कहें कि दुस्साहसी हैं....?

हां, दिक्कत है यह कि मैं साहसी हूं। मैंने यह बांट रखा है कि कुछ लड़ाइयां जरूरी होती हैं, कुछ गैर-जरूरी। कोशिश यह करता हूं कि गैर-जरूरी न लड़ूं। सबको सही रास्ते पर लाने का जिम्मा मेरा नहीं है। इसलिए मैं गैर-जरूरी लड़ाई नहीं लड़ता। यही चीज मुझं यंग रखती है। 'अक्षर' पच्चीस साल चलाया, घाटे में चला। ऐसी किताबें छपती थे जो बिकती नहीं थीं। 'सारा आकाश' और 'आपका बंटी' इन दो किताबों से इतने दिन चला वह। सत्तर-बहत्तर की बात है.... एक बार अठारह यूनिवर्सिटीज में 'सारा आकाश' लग गया, जिसकी चालीस हजार कॉपियां छापने को डेढ़-दो लाख का कागज 'अक्षर' कार्यालय में रखा था। हम शक्तिनगर में रहते थे। अचानक रात को तेज बारिश आ गई। मैं बेचैन कि कागज खराब हो जाएगा, ढका भी है उसे! मन्नू परेशान कि क्या करें? मैं पंद्रह मिनट परेशान रहा और फिर यह सोचकर कि आप इसमें कुछ नहीं कर सकते, सो गया।

कार में बैठते ही दिनचर्या की चर्चा होने लगी... हां, चार बजे जग जाता हूं। गांधी, अंबेडकर, रजनीश पर बातें होने लगीं। ....'सच में गजब है, उस काल में ऐसा चिंतन किया। बड़े बढ़िया ढंग से सोचा-कहा है अंबेडकर ने। अभी एक लेख पढ़ रहा था उनका। सच में उनकी देन है भाई। हम जो सोच रहे हैं... वह पहले सोच-कह चुके। हां, गांधी, रजनीश, अंबेडकर में... अंबेडकर मेरी फर्स्ट प्रायरिटी पर। एक बेहद पढ़ाकू मित्र हैं हमारे। उनकी एक किताब आ रही है। वह कहते हैं कि फुले का काम अधिक है।' उन्नीसवीं शताब्दी में फुले द्वारा इतना काम कर पाने पर आश्चर्य प्रकट किया है। इतने वैज्ञानिक, तार्किक, आधुनिक ढंग से किए गए अंबेडकर के कार्य को सराहा जा रहा है। अब नगीनाजी का ध्यान आ गया है। तुम तो जानते हो उसे? तुम मिले हो उससे? उनके बड़े परिवार पर बातें होते-होते शिक्षित, नौकरीपेशा महिलाओं की चर्चा चल पड़ी है.... ऐसी स्त्री से दोस्ती तो हो सकती है, प्यार नहीं। दरअसल वह एडजस्टमेंट की शक्ति खो देती है। स्त्रियों में अविवाह के बढ़ते चलन की चर्चा चली तो बोले... 'अविवाहित रहने के पीछे यही कारण है कि आज औरत का वह समर्पण, गुलाम, सेवक वाला रूप बदल रहा है। उसका न झुकना पुरुष की सत्ता और अहं को आहत करता है। वह अब उसे पुरानी तरह से एडजस्ट नहीं करना चाहती- सरेंडर नहीं करना चाहती। इसीलिए अविवाह की यह स्थिति है।' संवेदनशीलता, भावुकता के क्षरण और संबंधों में यांत्रिकता की उपस्थित की चर्चा की बीच उन्होंने कहा कि भावुकता और संवेदना में फर्क है। हां, भावुकता का युग गया। हां, संवेदना तो रहेगी। पहले जैसी सेवा-समर्पण वाली स्थिति अब नहीं आनी। शायद स्त्री-पुरुष के संबंध आवश्यकतानुसार और क्षणिक ही रहेंगे।

ड्राइंगरूम में टंगे चित्रों को देखकर मुझे थोड़ा अटपटा भी लगा था- शिवलिंग, कालचक्र- यादवजी का कक्ष? चर्चा चलाई तो कहने लगे- हमारा दामाद है न, हिंदुस्तान का बहुत बड़ा फोटोग्राफर है। उसकी किताबें छपी हैं 'पेंगुइन' से। उसके खींचे चित्र हैं वे।... वह फोटो जिसमें रिक्शे पर औरत बैठी है- उसमें इस तरह खींचा है रिक्शे के पहिए को कि रिक्शे पर बैठी वह स्त्री समझती है कि जैसे वह चंद्रमा पर बैठी है। वह जो शिवलिंग है न, वह पूजा-पद्धति से संबंधित

संकेत देता है और वह चक्र समय का द्योतक है। उसके चित्रों का हमने 'हंस' के कवर पेज पर भी कई बार उपयोग किया है। 'अल्मा कबूतरी' का कवर भी उसी का है।' मैत्रेयी पुष्पा की रचनाओं पर हो रही बातों के बीच जब मैंने कहा-मैत्रेयी के लेखन को आपके द्वारा इतना पसंद किए जाने का एक कारण यह भी तो नहीं कि उन्होंने मुख्यतः बुंदेलखंड और ब्रज के क्षेत्र पर लिखा है और आप इन दोनों की पृष्ठभूमि और भाषा से सीधे जुड़े रहे हैं...तो तुरंत कहा गया...'नहीं, भाई, ताकत है उसमें ....बेहद!' प्रभा खेतान के लेखन के बारे में बताते-बताते यह भी बताया....'उसको चौदह वर्ष की उम्र से जानता हूं। मन्नू की स्टूडेंट रही है। उसकी तंगी, पढ़ाई, वह भी दर्शनशास्त्र की ओर लेखन; सबको देखा है मैंने। नहीं, नहीं...उसमें था कुछ तो लिखा। मैं क्या, कोई भी क्या बनाएगा किसी को ऐसे ही लेखक?'

...ज्योतिष पर उनके विश्वास के बारे में पूछा था मैंने...'हां, एक कहानीकार ज्योतिषी आए एक बार। बड़े चिंतित...आप सावधान रहें। छह महीने में आप पर परेशानी आने वाली है, मुकदमा, जेल तक की नौबत आ सकती है। छह महीने बीत गया तो जब कुछ नहीं हुआ तो वह इस बात से परेशान कि साल-भर बीत गया, फिर भी कुछ नहीं। वह इससे भी परेशान। मैं परेशान क्यों नहीं हुआ? दरअसल मेरा विश्वास नहीं जमा, इन सब पर। मैं मानता हूं कि मनुष्य आदतों, स्थितियों के फ्रेम को तोड़ सकता है। येाजना मानते ही प्रारब्ध शुरू! पशु-पक्षी, पौधों के सैकड़ों-हजारों साल के अध्ययन के बाद उनके बारे में बहुत कुछ जान लिया। पेड़, हवा, बादल आदि के बारे में हजारों साल के अनुभवो के बाद प्रिडिक्ट किया जाना संभव था। मनुष्य इतना प्रिडिक्टेबिल नहीं क्योंकि उसके पास निर्णय करने की शक्ति है, विल है। मनुष्य ही उन सब चीजों को गलत साबित कर देता है। अपने निर्णय अपने ढंग से लेता है। वहां भी कुछ ऐसे क्षण, स्थितियां आ जाती हैं, जिन्हें आप प्रिडिक्ट नहीं कर सकते। 'वार एंड पीस' में जनरल नेपोलियन की फौजों से लड़ रहा है। हर चीज तय कर रखी है-यूं करेंगे, यूं करेंगे। पर वह हार जाता है। सब तय कर रखा था, पर यह नहीं सोचा था कि सूरज किधर से निकलेगा? हुआ वहीं....चौंध लगा और मोर्चा हार गए।'

राजेंद्रजी की रुचियों, आदतों, पसंद आदि से जुड़े छोटे-छोटे अनेक सवाल मैं सारे रास्ते उनसे करता रहा, वे सहज अपनत्व के साथ बोलते-बताते रहे-'उर्दू कविता जैकलिन थ्रो! जितनी शक्ति है, कौशल है, उतनी दूर आपने फेंक दी। हिंदी-अंग्रेजी कविता ग्रीलिंग! वह शब्द पर अटकती है और यह हिंदी-अंग्रेजी विचार देगी, गहराई में उतरेगी...कहानी हिंदी की अच्छी है, उसमें गहराई है, विचार-विविधता है, पर यथार्थवाद के आतंक में उसने कल्पना खोई है। कल्पना की शक्ति, ताकत है...उर्दू में ज्यादा....हां, वे अच्छा बोलते हैं। हां, यदि मुझे सुविधा होती है, मैं नामवर को सुनने जाता हूं। बहुत अच्छा बोलते हैं। बहुपठित हैं, डायनेमिक हैं और बहुतों जैसे जड़ नहीं। वे सच में स्पीकर हैं-ओरटर नहीं।....महादेवीजी? उनमें भावुकता और छायावादी शब्दावली का प्रभाव ज्यादा था। अज्ञेय बहुत अच्छे वक्ता थे। सुविचारित, व्यवस्थित बोलते थे। ऐसा कि कॉमा, फुलस्टॉप लगाने की जरूरत नहीं, यूँ ही छाप दो उसे। द्विवेदीजी को देखकर भी लगता था कि जूझते हैं विषय से। आप घर लौटकर आते हैं तो कुछ लाते हैं अपने साथ।

हां, लिखने को एकांत चाहिए। रानीखेत जाता था पहले, कसौली भी गया हूं! अब जाओ तो पंद्रह दिन तो दिल्ली से खाली होने, काम खत्म करने में लगेंगे। यहां फोन, टी. वी. सब है-व्यवधान

बनने को। पर हां, लिखने का मुझे एकांत चाहिए। ....कागज-साफ, अच्छा। वैसे मैं वह बड़ी डायरी होती है न, उसके कागज पर लिखता हूं। वह सुरक्षित भी रहती है।....पहले पेन का बहुत शौक था। कीमती से कीमती दर्जनों पेन थे। अब तो डॉट पेन ने सब कब्जा लिया है।

बोलना रुका और वे थोड़ी गंभीरता ओढ़ते दिखे। बड़ी गंभीरता के साथ कहा 'नहीं, कोई महत्वाकांक्षा नहीं है, कोई मुगालता नहीं है, मलाल नहीं है। जो कर सकते थे, किया। अंग्रेजी में एक कहावत है-उठते-उठते आदमी एक स्थान पर अपनी अक्षमताओं तक पहुंच जाता है। अब इससे ज्यादा कुछ नहीं हो सकता। हां, समय मिले तो एक कहानी-संग्रह तैयार करना है, दो उपन्यास अधूरे हैं। नहीं, कोई शिकायत नहीं, हजारों से अच्छा मूल्यांकन हुआ है। मुझे मुगालता नहीं है कि ये कर दें, वह कर दें, दुनिया बदल दें। हां, ये जरूर लगता है कि मैंने सृजनात्मक लेखन की उपेक्षा की है। उसे पीछे कर दिया है। इस आलोचना-विश्लेषण के चक्कर में। पर इसमें सीधे संवाद का सुख है। सृजनात्मक लेखन को कोई पढ़े, न पढ़े, रिएक्ट करे, न करे, पर इस तरह के लेखन में संवाद का सुख मिलता है। अब जैसे मेरी दो कहानियों की बात थी, तो 'हासिल' पर बात हुई, चर्चा हुई। दूसरी पर नहीं हुई। दूसरी भी अच्छी थी, पर उस पर नहीं हुई।

अकेलेपन ने भी क्या डराया है आपको कभी?

नहीं, कभी नहीं। अकेला होता कहां हूं? पढ़ रहा होता हूं या काम कर रहा होता हूं ...या सो रहा होता हूं। मैं कभी भी सो सकता हूं।

उम्र का आतंक भी तो कभी तंग करता होगा?

नहीं, दो चीजें मेरी चेतना का हिस्सा कभी नहीं बनीं-एज और मौत। मौत जब आएगी, ठीक है। बहुत स्वागत का भाव भी नहीं है, भय भी नहीं है। अभी बहुत काम बाकी है, बीच में साली आ गई तो?....कभी-कभी उम्र को लेकर गुस्सा आता है। ऐसा क्या हो गया कि हम उस तरह काम नहीं कर पाते, जैसा जवानी में करते थे। क्यों बराबर ध्यान आता है कि हमारी उम्र यह हो गई? हालांकि वह कोई बाधा नहीं है, पर ध्यान आता है जरूर।....अब रुको, खाना खाकर बात करेंगे।

बातचीत के दौरान जब तैयार दिखे तो मैंने जानना चाहा था कि मां और पिता में किसका संबंध उन्हें अधिक खींचता, प्रभावित करता या याद आता रहता है? कुछ पल चुप रहे जैसे दोनों संबंधों को नापा-तोला जा रहा हो-'मां का नहीं, हांट पिताजी का ही संबंध करता है। मां एक सफर थीं। पिताजी का एक नर्स से संबंध था, इसीलिए घर में असंतोष और टेंशन रहता था। मां बहुत आदर्शवादी थीं, मराठी आर्यसमाजी परिवार से आई थीं। पढ़ने का शौक हमें उन्हीं से लगा। हम उन्हें 'बाई' कहते थे। मुझे लगता है, पिताजी को समझती नहीं थीं। पिताजी में जो जिद थी वह सिर्फ अहंकार की जिद थी कि मैंने कह दिया तो ऐसे ही होना चाहिए। जो भी हो, पिताजी को मैं आउट राइट गलत नहीं कहता। उस जिद वाले एलीमेंट को तार्किकता दी मैंने। मेरा मानना है कि मेरे पास विश्वास, तार्किकता की बैकग्राउंड होनी चाहिए। मैं तभी अड़ता हूं। तर्क है तो दीजिए। कन्विंस हैं अगर तो अड़े रहिए। मैंने अपने को, इस अड़ने को, एक युक्ति देने की कोशिश की है। शायद यह पिताजी से ली हो पर वह अतार्किक थी। मैं तर्क देने की कोशिश करता हूं। 'हंस' का मंच खुला मंच है हमारा। लोग गाली भी देते हैं तो मैं सुनता हूं।'

विवादों से आपका इतना अधिक व नजदीकी संबंध रहा है कि आपको विवादप्रिय भी कहा,

माना गया है....?

यह बात मेरे साथ शुरू से ही लगी रही है। मुझे लगता है कि हमारा समाज एक हिपोक्रेट समाज है। लोग वह नहीं कहते जो कहना चाहिए, मुझे शुरू से इससे चिढ़ है। मुझे लगता है कि आप जो महसूस करते हैं क्यों नहीं करते? अभिनंदन, श्रद्धांजलि, प्रशस्ति-पाठ में कोई अंतर है क्या? जैसा है, वैसा बोलो, सच्चाई के साथ। पर कला के साथ बोलो। विश्वविद्यालयों में तो यह कला भयंकर रूप से है। विवादास्पद होने के लिए आपको कुछ नहीं करना है, बस इतना करिए कि वह बोलिए जो सच है। विचार के स्तर पर मैं यह मानता हूं कि उसे ज्यों का त्यों ग्रहण नहीं करना। यह सोचो कि वह क्यों, कैसे और कहां से आया? अब जैसे कालिदास हैं- महान् हैं, एकमात्र निधि हैं। सर्वश्रेष्ठ नाटककारों में से एक हैं। पर मेरे लिए यह काफी नहीं है। मैं जानना चाहता हूं कि वह कहां लोकेटिड थे? वे राजा के दरबार में थे, उनके श्रोता, दरबारी रसिक थे। उन्हें वह सब करना है जो दरबारी करता है। राजा के बेटे पर शिव-पुत्र कथा लिख देते हैं। राज-परिवार की प्रशंसा है- 'कुमार संभव'। राजा की दिनचर्या, आखेट 'अभिज्ञान शांकुतलम' में। राज्य का भूगोल विस्तार बताने को 'मेघदूत' है सब बड़े कलाकारों के साथ। ठीक है, बड़े हैं, योगदान देते हैं पर यह भी देखें कि हमारी संस्कृति और इतिहास के कौन-से उदाहरण मिलते हैं और कौन लोग थे तथा कितना देखते थे? मैं यह मानता हूं कि किसी विचार या रचना का टेक्स्ट काफी नहीं है, उसके बाहरी, राजनीतिक, ऐतिहासिक, धार्मिक संदर्भ भी देखने पड़ते हैं। बहिर्साक्ष्य भी कोई चीज होती है। शास्त्रीय लोग एक शास्त्र से दूसरे शास्त्र को सिद्ध करते रहते हैं। आखिर जिस समाज में रचना हो रही है वह भी तो कुछ है। आज के हिसाब से मुझे राम के चरित्र में ऐसी कोई चीज नहीं दिखती कि उन्होंने कोई बहुत बड़ा काम किया हो। अंगूठी उतारकर देना, बेर खिला देना या अहल्या... ये बड़े काम हैं क्या? राम-कथा सीधे-सीधे सत्ता संघर्ष की कहानी है। सत्ता का हमेशा एक ही पैटर्न होता है। औरंगजेब ने भाई का कत्ल कराया और साम्राज्य स्थापित किया तो यही अशोक ने किया। बिंबिसार कैद... भाई का कत्ल! दुनिया-भर की रियासतों के द्वंद्व देखे तो न वहां कोई भाई है, न कोई रिश्ता। एक लॉजिक है, उसी तरह चलता है सत्ता-संघर्ष। उसी तरह राम-कथा में तीन रानियां हैं, विश्वामित्र शास्त्र पढ़ा रहे हैं तो भरत, शत्रुघ्न अलग। अंदरूनी संघर्ष कलह रही होगी। जिसका राजतिलक होने जा रहा है, उसे भागना पड़ता है, रात में अपनी बीवी और भाई के साथ। बाप मर रहा है- बूढ़ा-अशक्त। ये सत्ता-संघर्ष नहीं तो और क्या हुआ? जैसे कोई यहां से भागे... टैक्सी वाले से कहे कि ले पैसे और जल्दी कर नहीं तो पिस्तौल...। वही टेक्नीक.... राम केवट से कहते हैं, जल्दी से जल्दी... जैसे मार देगा भरत! लक्ष्मण बाद में कहते हैं कि हमला करने को आया है भरत। मेरा मन नहीं करता कि जो बताया जा रहा है, वह मान लूं। और तरह से देखता हूं। उस तरह से दूसरे नहीं देखते सो... मैं विवादास्पद, विवादप्रिय। अगर में कहता हूं कि घूस, कमीशन हमारे धार्मिक संस्कार हैं, ये कभी दूर नहीं हो सकते, तो इसमें गलत क्या है? किसी धर्म में यह नहीं कि पचास, सौ, डेढ़ सौ जितने का प्रसाद चढ़ाओगे, उतना फल मिलेगा। और कहीं ऐसा देवता नहीं है जो अस्त्र-शस्त्र लेकर चलते हैं। फिर यह मानो कि मोहम्मद साहब की तरह देवता भी अस्त्र-शस्त्र लेकर चलते हैं।

राजेंद्रजी के संपादक के अनुभवों और संपादन को लेकर लगाए जाने वाले कुछ आरोपों का जिक्र आया तो कहने लगे- 'मेरे संपादन का पहला अनुभव यह है कि यदि रचना मुझे अच्छी लगती है

या जो मैं देखना चाहता हूं रचना में, वह मुझे लगता है तो मैं उसे लेकर असंतुलित हो जाता हूं। मेरा झुकाव उसकी तरफ हो जाता है। इस असंतुलन का, यदि वह रचनाकार महिला है, तो गलत अर्थ लगाया जाता है। संजय, शिवमूर्ति, दूधनाथ, संजीव, अखिलेश या और बहुत लेखकों का जिस तरह मैंने पक्ष लिया, उसी तरह गीतांजलि, सुरभि पांडेय या मैत्रेयी का भी लिया। 'हंस' के एक अंक में छोटे-बड़े लगभग पचास लेखक रहते हैं- पत्र, कहानी आदि सभी देखें तो। इनमें दो कहानी महिलाओं को देखते ही आरोप! अपने संस्कारों के मारे हैं ऐसे लोग! और बहस के बीच में महिला की उपस्थिति के अभ्यस्त नहीं हैं। मैंने यह भी कहा था कि जो मनु की व्यवस्था से बाहर है, जिन्हें कभी बोलने का अधिकार नहीं दिया गया है, उन्हें हम 'हंस' का मंच देंगे। उसमें महिला भी है, दलित भी है! इनकी आवाज है ही नहीं, कहीं। तो उन सबको, जिनको तथाकथित इकहरी व्यवस्था से बाहर फेंक दिया था, अवसर देना हमारा बहुत बड़ा अपराध है?'

मैं उन चीजों पर ध्यान लगाता हूं जिन्हें लोग अनदेखा करते हैं। तो मैं क्या गलत करता हूं? जब मैंने बिहार का शिवपूजन पुरस्कार लिया तो हल्ला मच गया। तब तीन उदाहरण दिए। मेरा मन नहीं था, नहीं लेता था। जिस दिन द्रोणाचार्य ने बेटे को खड़िया पिलाई या राणाप्रताप ने बेटे को हरी घास की रोटी खिलाई, कुछ तो गुजरा होगा, उन पर? मैं अपने बेटे को, हां, 'हंस' को... इस यातना से क्यों गुजारूं? शलाका पर भी यही हुआ। मेरी शर्त यह थी कि धनराशि 'हंस' के नाम दी जाए। बिहार के सी.एम. और मेरा सरनेम एक है तो पुरस्कार जातिवादी हो गया। नामवर, काशीनाथ, दूधनाथ, चंद्रदेव सिंह या बच्चन सिंह को कुछ मिले तो यह संयोग है कि उनके साथ सिंह लगा है। उन्हें कुछ मिले तो यह जातिवाद नहीं है। यहां जाति के आधार पर मिला है। रामशरण जोशी की किताब का आयोजन होता है... आयोजन में अध्यक्ष पी.सी. जोशी, विशिष्ट अतिथि-प्रभाष जोशी, मुख्य अतिथि- मनोहर श्याम जोशी, प्रकाशक की तरह से हिमांशु जोशी- इसमें कहीं जातिवाद नहीं है। संयोग से आ गए थे ये विद्वान। मेरा लालू यादव, मुलायम सिंह यादव से संवाद न हो, पर हम जातिवादी हैं। देवीशंकर अवस्थी की वर्षगांठ पर कार्यक्रम... फिर वही- श्रीलाल शुक्ल- अध्यक्ष, मैनेजर पांडेय- वक्ता, शिवकुमार मिश्र- विशिष्ट वक्ता। वहां जो बैठे थे- आठ-दस, उनमें मिश्र, शुक्ला, पांडेय के अलावा कोई नहीं। इसे ये कुछ नहीं कहेंगे। पर हम करें तो जातिवाद होगा। आरोप की तरह नहीं, एक चीज की तरफ ध्यान दिला रहा हूं। ओमप्रकाश निर्मल ने सन् साठ की 'कल्पना' में लेख लिखा था कि क्या वजह है कि सारे हिंदी विभागों के विभागाध्यक्षों की बागडोर ब्राह्मणों के हाथ में है? मैंने नहीं, ये सवाल ओमप्रकाश निर्मल ने उठाया था। स्वतंत्रता के बाद के दस-दस कवि-कथाकारों के नाम सुनाता हूं। लिखो, मत लिखो, श्रेष्ठ कवि हैं वे। उनमें पांच मृत-निराला, पंत, अज्ञेय, मुक्तिबोध, भवानी प्रसाद मिश्र, अशोक वाजपेयी, विनोद कुमार शुक्ल, मंगलेश डबराल, राजेश जोशी, अरुण कमल। स्वतंत्रता के बाद के दस श्रेष्ठ कवि। और कथाकार- प्रेमचंद, जैनेंद्र, यशपाल, रेणु, राकेश, उदय प्रकाश, संजीव, पंकज बिष्ट, प्रियंवद, असगर वजाहत। क्या ये सिर्फ संयोग है कि दसों कथाकार अब्राह्मण हैं और कवि ब्राह्मण। कारण वही है- ज्ञान और श्रम का विभाजन। कविता घर में बैठकर आराम से लिख सकते हैं। वह बौद्धिक कसरत है। कथाकार को जीवन देखना पड़ता है, संपर्क में आना पड़ता है, जूझना पड़ता है। दूसरी बौद्धिकता कसरत आलोचना है। महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामचंद्र शुक्ल, नंददुलारे वाजपेयी, रामविलास शर्मा, डॉ. नगेंद्र, मैनेजर

पांडेय, विद्यानिवास मिश्र- सारे ब्राह्मण हैं। यह बुद्धि का काम कमरे में बंद होकर किया जाता है। यदि मैं इन्हें रेखांकित करता हूं तो क्या यह विवादप्रियता है? मैं फाइनल जजमेंट नहीं दे रहा, एक मुद्दा रख रहा हूं। बहस कीजिए कि यह संयोग है तो ऐसा क्यों हुआ? विचार क्यों नहीं करना चाहते, बताइए? पर नहीं, यह विवादप्रियता है।

अपने से पहले और बाद के रचनाकारों में लेखन के स्तर पर क्या, कैसा और कितना अंतर पाते हैं आप?

पुराना हिंदी साहित्य बहुत ही सीमित और घुटन-भरे जीवन का साहित्य है। सन् 1920 के आसपास का भूगोल देखें तो दिल्ली से पटना तक-सब जगह, जिन्होंने शास्त्रीय आलोचना की है, वे विश्वविद्यालयों के लोग थे और वे रचनाकार, जिन्होंने क्रिएटिव राइटिंग की, वे विश्वविद्यालयों के परिवार के थे। ले-देकर केंद्र में इलाहाबाद, बनारस, बाद में लखनऊ, ज्यादा से ज्यादा कलकत्ते की तरफ है- स्रोत। इतने सीमित संसार को हम अखिल भारतीय कहते रहे। वह भी उच्च-मध्यम वर्ग या मध्य वर्ग का था- केवल। अठारह सौ पचास से उन्नीस सौ पचास तक उसमें केवल तीन बनिए हैं श्रीनिवास दास, भारतेंदु, मैथिलीशरण, ठाकुर जगमोहन सिंह के अलावा कोई ठाकुर नहीं। दो कायस्थ और एक भी मुसलमान नहीं। महादेवी को छोड़कर केंद्र में स्त्री नहीं। मुख्य वे जिनसे हिंदी साहित्य बनता है, वे केवल ब्राह्मण। उनसे सारे देश, सारे मध्यम वर्ग का प्रतिनिधित्व कैसे होगा? हिंदी प्रदेश, जिसमें दक्षिण का नाम नहीं, गुलेरी के अलावा कोई पंजाबी नहीं पहुंचा। पाकिस्तानी शरणार्थी आए तो समृद्ध किया- बड़ा संतोषी, सीमित क्षेत्र व साहित्य। यह वर्चस्व तब टूटा जब हमने लोकेल्स को राजतंत्र की तरह लिया। तब अलग-अलग क्षेत्रों, दूरियों, वर्गों के लोग आए। उस समय हिंदी साहित्य में पंजाब से, उर्दू से लेखक आए- वैद, मंटो, इस्मत-प्रगतिशील लेखक संघ के साथ, प्रलेस ने धुरी-सीमित दुनिया से बाहर निकाला। फिल्म, नाटक, इप्टा, वर्ग-संघर्ष की चीजें आईं। रेणु बिहार लाए, मटियानी पहाड़ लाए, यशपाल और दूसरे लोग पंजाब लेकर आए। कृष्णा, उषा, मन्नू में स्त्रियों की आवाज सुनाई देने लगी। यह वह समय है जब क्षितिज का विस्तार हुआ। अलग-अलग अनुभव आए। सन् अस्सी के बाद दलित साहित्य आया। शानी, मेहरुन्निसा, परवेज आए। मुसलमान, अलग क्षेत्रीयताओं, पिछड़ी जातियों और तबकों के भी लोग आए साठ के बाद। तब नई कहानी का मूवमेंट भी होता है। अब तो खैर और भी विस्तार हुआ। साहित्य की स्थिति एक थर्ड क्लास के भरे डिब्बे जैसी है। जो भी आता है, उसे धक्का देकर भगाता है, दूसरे में जा। जिद्दी है तो पैर टिकाने को जगह, फिर भी टिका रहे तो उठंग बैठ जाए, फिर सीट और बाद में उसकी जगह सुरक्षित। साहित्य में जमे लोग नए को खुले मन से स्वीकार नहीं करते-हमारी जिंदगी में, पोजीशन, आराम में खलल पड़ता है। तो नयों को जरा संदेह, सद्भावनाहीनता से देखा जाता है। पहले यह था। प्रगतिशील संघ आया तो, पुरानों ने कैसी चीख-पुकार मचाई थी। नई कहानी के समय यह हुआ- कामू, सार्त्र ला रहे हैं, विदेशी है, पश्चिम की है, राजनीति है। अब स्त्री-लेखन को लेकर भी वही। हर चीज पश्चिम की है। गांधीवाद भी पश्चिम का विचार है- टॉलस्टॉय, थोरो, लिंकन, रस्किन जैसे विचारकों-लेखकों से अपना दर्शन विकसित किया उन्होंने। सीमित वर्ग और जातियों का साहित्य रहा हमारा पर बातें अखिल मानवता, भारतीयता की, की जाती रहीं। भोपाल से आगे की दुनिया नहीं, ज्यादा से ज्यादा बंबई या कलकत्ता-बाकी पूर्वोत्तर गायब। आज जगह-जगह का साहित्य उसे

व्यापकता दे रहा है। हालांकि दक्षिण भारतीय अभी भी नहीं लिख रहे हैं। तमिल, केरल की जिंदगी पर नहीं मिलता। हां, महाराष्ट्रियन पर मिलता है। इस मामले में फिल्म ज्यादा डेमोक्रेटिक रही है। हिंदी वाले तो अपने अलावा लिखते नहीं किसी पर।

प्रेमचंद के सामने ऐसा कोई पुराना लेखक नहीं था जिसको आधार बनाकर वे लिखते। खाली स्लेट। हमारे सामने दस-बारह लोग थे। हमारे सामने वो समृद्ध परंपरा नहीं थी जो आज की पीढ़ी के पास है। आज की पीढ़ी को चार जेनरेशन पुरानी परंपरा मिली। इनकी दृष्टि का व्यापक होना लाजिमी है। हमारे सामने ये संघर्ष, ये भाषा कहां थी? कमरे, पार्टी ऑफिस में बैठकर मजदूरों पर कहानी लिख ली जाती। हम सौ साल ऐसी नायिकाएं बनाते रहे जो हमारी आकांक्षाएं थीं। हमारे प्रेम में मरने वाली, शोक में डूबने वाली उसकी भी यातनाएं थीं, संघर्ष थे, पर उन्हें स्टेज पर लाने वाले हम थे। अब अनुभव-क्षेत्र व्यापक हुआ है, जिंदगी में ज्यादा सहयोग मिला है। आज तक दलित और स्त्री का इतिहास नहीं, जो भी है- हमारा इतिहास है। इतिहास उनका होता है जो अपने फैसले खुल ले लेते हैं। दलितों, स्त्रियों के श्रम पर हमारा अधिकार था। वे अपने बारे में कोई निर्णय नहीं ले सकते थे। उनके बारे में हम तय करते थे। धर्म का प्रलोभन ऊपर से था। धर्म पुरुषवादी वर्चस्व का सबसे कारगर औजार है, क्योंकि दूसरों के भीतर उसके माध्यम से हम संस्कार बनाते हैं। सेवा, समर्पण जैसे मूल्य बनाए, संस्कार जैसे मूल्य बनाए हमने। हम यह सब उस भगवान को दे देते थे जो लेता नहीं था। नीचे वालों से हम यही लेते थे और स्वयं को भगवान की जगह रखकर उन्हें गुलाम बनाते थे।

आज की पीढ़ी के लेखन की दुर्बलताओं के बारे में पूछे जाने पर उनका कहना था- 'भाषा को लेकर लापरवाही है। अध्ययन की भी शिकायत है पर दूसरा पक्ष यह भी है कि उनकी जानकारी हमसे व्यापक है। हमारा सीमित दुनिया का गहरा अध्ययन था, आज के युवक की जानकारी गहरी न हो पर सूचना बहुत व्यापक है। हम चूंकि सधी-सधाई भाषा के अभ्यस्त हैं, सो भाषा के लिए लापरवाही तो दिखती है। कल्पना नहीं थी कि बिहारी, पहाड़ी, दलित या दूसरे वर्ग के लोग यहां आएंगे। मां-बहन की गालियां सुनते रहे, उनके वर्ग के लोग, पर जब वो उन्हें लिखते हैं, तो उनकी भाषा फूहड़ और अश्लील लगती है। अंतरराष्ट्रीय बाजार या मीडिया जब अपनी तरह से बिगाड़ रहा है भाषा को। अब इसे बिगाड़ना कहेंगे या विकसित करना। केवल यह नहीं है कि शिक्षण नहीं है। आज के युवक पर भाषा को लेकर तरह-तरह के प्रभाव हैं। बिहार की भाष्ज्ञा को कुछ कहें पर पचास प्रतिशत इंटेलेक्चुअल अब वहां से हैं।

शिक्षा, नाटक, ब्यूरोक्रेसी, संस्कृति कर्म में- मजदूरों में तो बहुत बड़ी संख्या है उनकी। हम कह सकते हैं कि इनको भाषा नहीं आती है। पर हो सकता है कि यहां भाषा हमें अवरोध में छोड़कर अपनी तरह से विकसित हो रही है। मैं मानता हूं, शुद्धता का अतिरिक्त आग्रह भाषा को मार देता है। आप देखते हैं, इसी के चलते संस्कृत मर गई, उर्दू मरने जा रही है। कभी-कभी डर लगता है कि हम एक्सीलेंस और शुद्धता के नाम पर भाषा को मार तो नहीं रहे हैं?

एक तथ्य और भी है कि पहले पत्रकार और अध्यापक को ही साहित्य लिखने का अधिकारी मानते थे। छोटे-बड़े व्यवसायी इधर आए तो नए-नए क्षेत्र लेखन से जुड़े। यह क्षेत्रों-वर्गों का भी विस्तार है। इनको लेकर प्रतिरोध की भावना अब भी है और यह कहा जाता है कि ये पद के आधार

पर मान्यता चाहते हैं, रचना के आधार पर नहीं। पर इनमें भी बहुत-से ऐसे हैं जो डिवोटेड साहित्य लिख रहे हैं। अब दूसरी बात राजनीति की। डेमोक्रेसी में जहां बहुत-से फायदे हैं, वहां यह नुकसान है कि पैसे वाले बाहुबली उसे आसानी से हाइजैक कर सकते हैं। हमारे यहां पचास साल हुए हैं इसे। अभी मैच्योर नहीं, सामंती प्रवृत्तियों के हाथों का खिलौना है। जो अपने मतों का उपयोग करते हैं वे क्रेडेबिल हैं। हालात ये बताते हैं कि नीचे का उभार उसे बदल रहा है। अभी तक सरकारी पैसे की लूट को ही हम भ्रष्टाचार मान रहे हैं, पर अब पैरेलल इकोनॉमी का- हर्षद, तेलगी आदि का एक दूसरा भयंकर रूप आया है- करप्शन का। सरकार की आंख में धूल झोंककर किया जाता है यह। बीसवीं शताब्दी को, देश की सबसे बड़ी देन- डेमोक्रेसी। उसने बहुत कुछ बदला है, और भी बदलेगी। ठीक है कि अभी कुछ ताकतें जूझ रही हैं। आशा, उम्मीद कुछ भी कहें, सिर्फ डेमोक्रेसी से बंधती हैं, दूसरा कोई विकल्प नहीं। पॉलिटिक्स इतनी गंदी हो गई है कि बुद्धिजीवी ने उधर से किनारा कर रखा है। गुंडे, सामंती संस्कार वाले साधु-संतों, गिरोहबंदी का वहां वर्चस्व हो गया है। न इतना बाहुबल है, न पैसा, न रिस्क लेने की हिम्मत है बुद्धिजीवी में। बुद्धिजीवी का द्वंद्व यह है कि उसे आशा डेमोक्रेसी से ही है, या पार्टिसिपेशन लगभग नहीं है। और उसे ये भी लगता है कि जो विचारधारा हमारी समस्या हल करेगी या जहां मूल्य बचे हैं वह सिर्फ वामपंथ है। पचास सालों में किसी एक वामपंथी पर घोटालों का आरोप नहीं है, जबकि अन्य पार्टियां यह नहीं कह सकतीं। विचारधारा या सिद्धांत कहीं बचे हैं तो इन्हीं लोगों के पास। जमीन के बंटवारे को लेकर एक समस्या के समाधान की दिशा में गरीबों को जमीन देने का काम सिर्फ बंगाल में हुआ, और किसी प्रदेश में नहीं जबकि बिहार, उड़ीसा की ज्यादातर मारकाट इसी जमीन के कारण है। जिस बिहार में डेढ़ साल एक सी. एम. नहीं रहता, वहां पंद्रह साल से लालू क्यों जमे हुए हैं। कुछ तो होगा, उसमें कारण।

एक पाठक जिस रचनाओं से प्रभावित होता है, उन्हें आसाधरण, देवतुल्य आदर्श मानकर जीता है, जीना चाहता है प्रायः लेकिन जब हम उनमें से किसी एक के निजी या पारिवारिक जीवन के बारे में अप्रिय, आपत्तिजनक-सा कुछ जाने, सुने तो उस पर क्या गुजरती होगी या गुजर सकती है? इस बिंदु पर आप कुछ कहें।

'पाठक हममें हीरो देखता है, देखना चाहता है क्योंकि वह हमारे लेखन और विचारों से प्रभावित होता है।' जरा-सा विराम और फिर लोठारलुत्से के संदर्भ से जर्मनी मानसिकता को समझने के लिए देखी गई एक फिल्म 'दाब्रूज' के बारे में बताने लगते हैं- 'उस फिल्म में गांव का एरिया लिया है। हिटलर की फौजें हमला कर रही हैं। 'विजयी हो रही हैं। उस कस्बे के बच्चों के स्कूल में नायकों के फोटो लगे हैं, वे उन्हें देखकर प्रार्थनाएं करते हैं, पूजा-प्रणाम करते हैं- उन नायकों के लिए वे हीरो वर्शिप लेकर पैदा हुए हैं। उस कस्बे को जोड़ने वाला एक पुल है। उस पर फौजें जा रही हैं। बच्चे वह सब देखते हैं। इसके बाद जर्मन फौजें हारने लगती हैं। हारती हैं तो लौटती हैं उसी पुल से। फौजें संकट में हैं इसलिए पुल की रक्षा जरूरी है। पुल की रक्षा के लिए बच्चों को लगा दिया जाता है। बच्चों के लिए वहां छिपकर बैठना, सब-कुछ देखना-सब खेल है। अचानक एक हवाई जहाज हमला करता है। बच्चों के लिए वह भी एक खेल है। उसे देखने के लिए बाहर निकल आते हैं। तभी एक बच्चे को गोली लगती है। बच्चे सन्न! अरे, यह खेल नहीं है! अजीब किस्म का प्रलय! बच्चा मर जाता है। बच्चे देखते हैं- हारी फौजें उस पुल पर लौट रही हैं। उनका हीरो जनरल घायल

एक मोटरसाइकिल पर जल्दी पहुंचने की कोशिश में कांपता हुआ बैठा है। उनके हीरो, हारे हुए लोग एक-एक कर ढहते हैं। दुश्मन फौजें न आएं इसलिए उस पुल को उड़ाया जाना तय होता है। बच्चे अचानक अडल्ट हो गए हैं। 'बहुत खूबसूरत ढंग से फिल्म यह बताती है कि इन बच्चों के किशोर और युवा होने बीच का सेतु ध्वस्त कर दिया गया है। बच्चे ओवरनाइट बड़े हो गए हैं- हारे हुए, सारे विश्वासों के ध्वंस को लिए- जिनके हीरो मर गए हैं। हमारी नई पीढ़ी भी हमें देखकर ऐसा ही महसूस करती है। उन्होंने हमें सिर्फ हीरो और एक आदर्श लेखक के रूप में देखा है और इस विश्वास के साथ बड़े हुए हैं कि जिन मूल्यों-संघर्षों-आदर्शों की बात हम करते हैं, उनका पालन भी करते होंगे। लेकिन जब वे हमारे छोटे-छोटे प्रलोभनों, समझौतों, राजनीति को देखते-सुनते हैं या हमारे टुच्चेपन-लड़ने बिकने को देखते हैं तो निश्चित रूप से उन्हें धक्का लगता है। अजीब स्थिति है यह- वेश्याओं के झुंड में जैसे कोई शालीन, सती पहुंच जाए तो वहां जो उसकी दुर्गति की जाती है, सिद्धांत वाले लेखकों के साथ ऐसी भीड़ में यही होता है। नामवर आज जहां हैं, वहां कितनी तिकड़म, झूठ, अवसरवादिता, पुरस्कारों की राजनीति आदि है, मुझसे ज्यादा कोई नहीं जानता। मेरे पास अन्य कोई सहारा नहीं, 'हंस' को दोस्तों के सहारे पर निकाल रहा हूं। अकेले व्यक्तिगत स्तर पर कोई पत्रिका ऐसे नहीं निकलती रही, 'कल्पना' के पीछे भी अरबपति आदमी था। अकसर कोई संस्थान या ट्रस्ट पीछे रहा है- पत्रिकाओं के। हां, मैं समझता हूं कि मैंने समझौते नहीं किए। अखिलेश ने संपर्कों का लाभ उठाया, पर रचनाकारों के साथ समझौते नहीं किए। ज्ञानरंजन ने किए।

'हंस' की संपादकी के दौर में कुछ दंश भी मिले होंगे, जिन्होंने आपको व्यथित-पीड़ित किया होगा?

सबसे पहला झटका लगा हमें हमारे एक निकट रिश्तेदार के माध्यम से। शरद सक्सेना मन्नू का भानजा है, पढ़ने-लिखने वाला लड़का है। अच्छा बिजनेस जमा लिया है। 'हंस' के आइडिया से खुश हुआ और बैक पेज का पूरा विज्ञापन उसने दिया। बाबरी मजिस्द ढही तो एक संपादकीय पढ़कर भन्नाया- 'इस गंदी पत्रिका को न तो मैं घर में देखना चाहता हूं, न विज्ञापन देना।' दो-तीन साल से एक लाख साल दे रहा था, बंद। हालांकि व्यक्तिगत रूप से लिहाज करता है। दिल्ली आता है तो मिलने आता है। झुनझुनवालाजी के लड़के गौतम के साथी थे। उन्हें विश्वास था कि झुनझुनवालाजी चैरिटेबल संस्थाओं को दान देते हैं, सो हमें भी साल-दो साल के विज्ञापन दे देंगे। हम गए। उन्होंने 'हंस' की तारीफ की। हमने कहा कि बैक या बीच के दो रंगीन पेज के विज्ञापन मिल जाएं तो 'हंस' के घाटे का काफी हिस्सा पूरा हो जाएगा। दो दिन बाद मिलने को कहा गया। जब मिले तो बोले, 'ये कुछ हिंदू धर्म के पक्ष में नहीं है। ठीक है, विचार करेंगे।' ऐसा कहा, जैसा पैसे वाले कहते हैं और फिर ऐसा भी हुआ। गौतम के फादर उच्च पदस्थ हैं, पत्नी विदेशी। विदेश से पढ़कर आया था। अठारह-बीस साल पहले तय हुआ कि पत्रिका निकालेंगे। तैयारी के लिए तीन साल चाहिए। शुरू के अनुभव से मालूम हुआ कि आसान नहीं है। पांच साल बाद उसके पिता ने हाथ खींच लिया। मेरा खर्च न पड़े, इसलिए मैं कानपुर चला गया। यहां गौतम संभाल लेंगे। महीने में दो बार वहां से आया करूंगा, हजार-डेढ़ हजार खर्च होगा इसमें। अचानक एक दिन कहा गया- 'हंस' बंद करो, सुनकर हाथ-पांव फूल गए। अब क्या करें? उस समय प्रभा खेतान ने हमारी मदद की। दिल्ली आई, सब देखा यहां। उसे बहुत छोटी-सी देखा है हमने। तब गौतम और हम अलग

हुए। 'हंस' को पुनर्जीवन दिया प्रभा ने। परेशानियों के वे क्षण नहीं रहे। इसमें हम क्या करें? ऐसी स्थिति में पत्रिका से ऐसा लगाव और रिश्ता तो हो ही जाता है। सबसे बड़ी चीज है कि 'हंस' मुझे ऊर्जा देता है। इस गहमागहमी के बीच रहकर रचनाकारों के बीच रहकर यंग रहता हूं। चाहे रचनाएं रद्द करता हूं या लड़ता हूं- पर लेखक, उनसे संवाद, उनकी ऊर्जा... मुझे यंग रखती है। मेरे जवान रहने का यही कारण है।

ऐसी कोई रचना, जिसके सृजन के बाद कुछ खास.... अद्भुत या अन्य रचनाओं से भिन्न-सा सुख जिया हो?

ऐसी कोई खास रचना याद नहीं आती। यह लंबी कहानी 'वहां तक पहुंचने की दौड़' अठहत्तर के आसपास लिखी। दूसरी 'हासिल' कानपुर में लिखी थी। छपी पांच साल बाद। ये दो कहानियां लिखकर बहुत संतोष हुआ। एक में मैंने अपनी मानसिकता, द्वंद्व उघाड़े, एक में पूरी तरह अपने को उधेड़ दिया। 'हासिल' में इस बात को भूलकर कि लोग उसे मेरा प्रतिरूप समझेंगे, नायक की कुत्सिततम भावनाओं पर प्रकाश डाला है। दूसरी बात यह कि जैसे कहते हैं- स्वर्ग का रास्ता नरक की गलियों से होकर गुजरता है, वैसे ही निम्नतर भावनाओं से गुजरकर उदात्त का अनुभव किया जा सकता है। मुझे लगता है, वह कहानी इस बात का उदाहरण है।

अब चर्चा राजेंद्रजी की कुछ कृतियों के लेखन की मनःस्थिति, प्रेरणा, पात्र, स्थान जैसे बिंदुओं की ओर मुड़ गई थी। 'उखड़े हुए लोग' का तो पता है कि उसे बावन-तिरपन में प्रभाकरजी और ब्रिजलाल बियाणी वाले अनुभवों को मिलाकर लिखा था। वह पहला राजनीतिक उपन्यास था जिसमें बाकायदा राजनेता को करेक्टर बनाया। वह पहला उपन्यास इस अर्थ में भी था कि 'लिव इन' का जो कंसेप्ट है, वह पहली बार जया शरद के करेक्टर में रहा। वहां यह कि वे साथ रह रहे हैं और वहां उन रूढ़िगत समाज में किन-किन स्थितियों का सामना करना पड़ रहा है? 'कुलटा' तब लिखा जब वह कलकत्ते में थे। हमारी जीजी के नीचे वाले फ्लैट में कर्नल चहल की पत्नी, मिसेज चहल रहती थीं। वह सुंदर, चंचल थीं। वह मेरे दिमाग में बसी थीं। मनुष्य और लेखक के द्वंद्व का थीम मेरे दिमाग में बहुत दिनों से था। पहले मैंने इस पर लिखा था। कलाकार और व्यक्ति का द्वंद्व प्रिय विषय रहा है मेरा। मैंने कई चीजें लिखी हैं इस पर। बाद में देखा कि वह जबर्दस्त ढंग से जर्मन लेखक टॉमस मान में है। मेरा 'शह और मात' इसी द्वंद्व पर है। 'मंत्र-बिद्ध' लिखा मैंने। एक महिला पहाड़ पर मिली थी, उस पर 'अनदेखे-अनजान पुल' लिखा था। वह अच्छी थी पर रंग सांवला था। उसे इस बात पर गुस्सा था कि लोग उसके रंग को देखकर भड़क जाते हैं। तो जो काली लड़की की कुंठाएं हैं, वे हैं यहां। 'सारा आकाश', 'उखड़े हुए लोग' को आगरे में लिखा। 'कुलटा', 'शह और मात' कलकत्ते में। कलकत्ते में जब शादी के बाद अपने अलग फ्लैट में रहा, जब 'एक इंच मुस्कान' लिखा। 'मंत्र-बिद्ध' रानीखेत में लिखा।

आलोचना लिखने के पीछे तब आप लोगों की क्या मजबूरी या बाध्यता रही?

हमें आलोचना ऐसे ही लिखनी पड़ी 'जैसे- पंत को 'पल्लव' में लिखना पड़ा या प्रसाद को आलोचना करना जरूरी लगा। जब आपको लगता है कि साहित्य निर्माताओं के द्वारा आप नहीं समझे जा रहे हैं, तो आपको यह करना पड़ता है। नई कहानी को लेकर हमने आरोप सहे, गालियां सुनीं। सोचा कि यदि हम नहीं कहेंगे तो ये हमें गलत तरह से प्रस्तुत करेंगे। हम शिक्षित-समर्थ थे और

आरोप लगाने वालों से ज्यादा शास्त्रीयता बघार सकते थे। हमने अपनी बात बताने-समझाने के लिए कहा। जितने भी रचनाकार मिस-अंडरस्टुड हुए, उन्हें लिखना पड़ा। हां, मेरा यह अहित हुआ कि अब बीस साल से जो चीजें दिमाग में आती हैं, समीक्षा-दृष्टि के साथ, विश्लेषण रूप में आती हैं। दिमाग की कंडीशनिंग अलग हो जाती है। कहानी के माध्यम से नहीं, इस माध्यम से आप पाठक से जल्दी बात कर सकते हैं। पाठक से निरंतर होती रहने वाली जिरह ज्यादा सक्रिय रखती है, आपको। हां, अब कहानी के रूप में आते विचार या समस्याएं।

शब्द या किताब के भविष्य को लेकर क्या सोचते हैं आप?

'शब्द कभी हमारे यहां एक रूप में नहीं रहा। खास तौर से शब्द का अंकन। पहले पत्थर पर, मिट्टी पर लिखते थे, पट्टे होते थे, फिर भोज-पत्र, चमड़े पर। फिर कागज आया, उस पर लिखने की बात आई। पुराने सारे ग्रंथ पढ़ने के लिए एक-एक पन्ना पलटते-रखते थे- अलग। रूप बदलते रहे, कॉपी पर लिखा। टाइपराइटर आ गया। प्रेस में, बाइंडिंग में अंतर। पहले डोरी से बांधना और अब बाइंडिंग। अक्षर बना रहा, प्रस्तुतीकरण के रूप बदलते रहे। अभी अक्षरों को पढ़ने की मुद्रा हमारे-आपके इस तरह बैठे रहने की तरह रही। टाइप में नीचे देखना पड़ता था। आगे हम स्क्रीन पर देखेंगे-पढ़ेंगे। अक्षर कहीं नहीं जाएगा। जो भी भाषा हो, जब हम पढ़ते हैं तो शब्द एक दुनिया जगाता है- हमारे भीतर, शब्द बना रहेगा। रूप बदलेंगे। पढ़ने के तरीके बदलेंगे।' बोलते-बोलते अचानक बोले- 'संस्कृत की एक कहावत है, उसका अर्थ सुन लो अब। वाग-विसर्ग बोलना ज्यादा एकजास्टिंग है अपेक्षाकृत वीर्य-विसर्ग के।... तो अब बहुत हो गया, अब बस।' कहकर खूब हँसते रहे... देर तक।

एकजास्ट शब्द के हिचका-सा मैं उन्हें 'वॉन गाग' के तंबाखू के पाउच में से तंबाखू निकालकर पाइप में भरते देख रहा था। पूछ बैठा- 'आपका पाइप गुरु कौन है?' बड़ी गंभीरता के साथ बताया- मजरूह। मजरूह सुल्तानपुरी के साथ मॉरिशस गया था- सत्तर में। वहां देखा कि जैसे कोई बच्चे को नहलाए, चड्ढी-बनियान पहनाए, वैसे वे रोज सुबह पाइप को लेकर बैठ जाते और बड़े मन से तन्मयता के साथ उसे देर तक साफ करते रहते। मैं खरीद लाया और पीने लगा। सिगरेट की आदत अस्थाना के साथ लगी।

और कथा-गुरु?

कथा-गुरु- केशी महाराज! और एक था- भिक्खी चाट वाला, असली तो वही था। वही सुनता था। कस्बे से दूर से चाट लेकर आता था। पिता मना करते। मां महाराष्ट्रियन, चाट की शौकीन थीं। हम डटे रहते। पिता की शर्त कि हफ्ते में दो-तीन दिन आएगा। पंद्रह-बीस लोगों का परिवार था- अहाते में। आते ही चाट का खोमचा खाली। शर्त रहती कि रात में कहानी जरूर सुनाएगा। आठ-नौ बजे आता, ग्यारह-बारह बजे तक सुनता। बाहर बेला, गेंदा, मोगरे के फूलों, मेहंदी के बीच चारपाइयां, खुले आसमान के नीचे वह कहानी सुना रहा है। तब हमारी समझ में नहीं आता था कि रानी को नौलखा हार दिया तो टूट क्यों गया? वह राजा या राजकुमार छाती पर हाथ क्यों रख रहा था? अनेक किशोर उत्सुकताएं।

और संपादन-गुरु?

कन्हैयालाल प्रभाकर 'मिश्र' से रचनाएं देखना, चुनना और हिम्मत सीखी। जगदीशजी ने भी

सीखा और मोहन सिंह 'सेंगर' से भी। सेंगर जिस तरह से रचनाओं का संशोधन करते थे, उसके नमूने आज भी मेरे पास हैं।

अपने आज जितने राजेंद्र यादव होने का श्रेय किसे देंगे आप?

शुरू में मास्टर रामस्वरूपजी, बचपन में दोनों कथा-गुरु। बाद में आगरे में आकर घनश्याम अस्थाना, पद्म सिंह शर्मा 'कमलेश'। बाद में मोहन सिंह सेंगर, कृष्णाचार्य, मनमोहन ठाकौर, बाद में नागर और...।

तब मैंने राजेंद्रजी से उनके दोस्तों, दोस्ती की उम्र और दोस्ती के सुखद-दुःखद अहसासों के बारे में पूछा था। उनके बताने का अंदाज बता रहा था कि बताना उन्हें अच्छा लग रहा है- कलकत्ते में तो बहुत लोगों से अंतरंगता रही। वहां की ठाकौर वाली अंतरंगता दिल्ली में नहीं बनी। राकेश के साथ संबंध बने, पर उसके साथ नई कहानी की राजनीति थी। हम लोगों के बीच राकेश शतरंज का खिलाड़ी था और कमलेश्वर फुटबॉल का। मेरी स्थिति लगभग एंपायर जैसी। हां, कमलेश्वर का यह शुरू से है कि गोल हो, न हो, धुआंधार किक मारा और तालियां बटोरीं। इन लोगों ने निश्चित किस्म की पारिवारिकता नहीं जुड़ी। शुरू में सत्येंद्र शरत के साथ थी। पर जिसे पारिवारिक मित्रता कहते हैं, बाद में वैसी व्यक्तिगत नहीं बनी। सिर्फ पुराने ही रहे मित्र। दो-तीन जो नए बने, वे रिश्ते नहीं मित्रताएं थीं। इस तरह की कि जरा उनके मन का न करो तो नाराज हो जाएं। दोस्ती जैसी चीज कम। अच्छी दोस्तियां केवल वे नहीं होतीं जहां दोस्त केवल अच्छी बातों को शेयर करें। जिनसे आप हरामजदगियां, कमजोरियां शेयर करते हैं, वे अच्छे दोस्त होते हैं।

अपने अतीत की ओर मुड़-मुड़कर देखने की उस प्रक्रिया में उन्हें फिर कुछ लोग, कुछ संदर्भ याद आए। कथा-गुरु का जब जिक्र आया तो फिर अपने लेखन-गुरु को याद करने लगे- 'चेखव मेरा असली गुरु है। ऐसा गुरु जिसने कहानी पढ़ना, समझना, सीखना सिखाया। चेखव से परिचय भी अजीब ढंग से हुआ। आगरे में गोकुलपुरा में नाले की तरफ- जिसे कंसपुरा कहा जाता है- एक गोलमटोल तमिल सज्जन एक कोठरी लेकर अकेले रहते थे। बेहद पढ़ाकू थे और कृष्णास्वामी नाम था। सोवियत किताबें मंगाते-जुटाते और उन्हें लोगों को पढ़ने को बांटते। एक दिन बोले- 'तुम कहानी लिखते हो। चेखव है ये, इसे पढ़ो। तुमने नहीं पढ़ा तो सब बेकार है।' मजेदार था वह व्यक्ति। उसके यहां हम सब जाते। रांगेय राघव उसे प्यार से पप्पू कहते। खाने का बड़ा शौकीन, बड़ी मिशनरी फीलिंग के साथ किताबें देता। उसने परिचित कराया चेखव से। एक दूसरे कॉमरेड थे- रामन्ना शास्त्री। उनके साथ पढ़ते, बातें करते। हमारी एजुकेशन इन लोगों के साथ निरंतर संपर्क से हुई। रामविलासजी आदि तो बड़े लोग थे...।

जीवन की कोई स्मरणीय घटना?

स्नेहलता सहगल से मिलने आगरे से दिल्ली आया था। स्टेशन पर उतरा तो अंधेरा हो चुका था। इतना याद है कि सरोज नगर या सेवा नगर की बस आई मैं उसमें बैठ गया। मेरे पास दस रुपए थे। कंडक्टर ने खुले पैसे पांगे। चार-आठ आने का तब रहा होगा टिकिट। मैंने खुले पैसे न होने की बात कही तो कंडक्टर ने घंटी बजा दी और कहा कि उतर जाइए। और अचानक बगल में बैठे एक बूढ़े सज्जन ने कहा- 'उतारो मत, ये हैं इनकी टिकिट के पैसे।' याद भी नहीं कि धन्यवाद भी दिया या नहीं। पर संकट में जो उन्होंने मेरी मदद की वह नहीं भूलता। तब से हर मदद के साथ

मैं सोच लेता हूं कि उसका ब्याज चुका रहा हूं। वह रात, वह अंधेरा बीच में सुनसान सड़क पर उतारना आज भी याद है। उसकी बहुत गहरी कृतज्ञता मेरे मन में आज भी याद है। बिहार से भागकर जो लड़के-लड़कियां यहां आ जाते हैं तो यदि मैं उनकी कुछ मदद कर देता हूं तो लगता है कि मूल नहीं, ब्याज चुका रहा हूं।

कोई ऐसी किताब जिसने आपको बहुत प्रभावित किया हो?

एक किताब जिसने मेरी बनावट, मेरी जिंदगी बदल दी वह है लिलियन राय की आत्मकथा 'आय विल क्राई टुमारो'। सौ-सवा सौ पेज की थी, पढ़ी। लेखिका अमेरिका में छोटी-मोटी एक्ट्रेस थी। उसकी मां चवन्निया रंडी थी। आर्थिक तंगी ऐसी कि सुबह से शाम तक खाने का कोई पता नहीं, बस भूख। जैसा कि होता है, बच्ची चीजों को देखकर मचलती। वह कुछ समझती नहीं थी। मां समझाती-डांटती। एक बार कुछ लेने को बच्ची बहुत मचली। समझाया- 'देख बेटे, रो मत। मैं वायदा करती हूं कि तुझे ये कल दिलाऊंगी। अगर कल न दिलाऊं तो कल रोना, आज मत रो।' लेखिका कहती है कि बड़े से बड़े संकटों से गुजरने का। एक यह भी मंत्र रहा मेरा। इन दो चीजों का मेरे अंतर्मन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। बहुत पढ़ा इस रचना और इस वाक्य पर। कुछ ऐसी चीजें होती हैं जो मन में खुद जाती हैं।

पश्चाताप का ऐसा कोई भाव कभी....?

वाक्य पूरा भी नहीं हुआ था कि बताने लगे... पश्चाताप दो चीजों का। दो मित्रों को लेकिन तकलीफ होती है। श्याम प्रकाश दीक्षित दिल्ली आ गए थे और 'समाज' के संपादक थे। उनके कोई बच्चा नहीं था। बड़ी आकांक्षा थी बच्चे की। मुझे बेटे की तरह मानते थे। क्वींस रोड पर रहते थे। बच्चे के न होने को लेकर अकसर दुःखी होते, रोते। उनकी पत्नी इसी कारण चिड़चिड़ी हो गई। वो मुझे बहुत मानती थीं। दिल्ली में जब दीक्षित जी की डेथ हो गई, तो पत्नी झांसी के आसपास कहीं चली गई। बहुत पता लगाया, नहीं लगा। बहुत चाहा कि पता लगे। अफसोस है कि उनके लिए जो करना चाहिए वह नहीं कर सका। दूसरा अफसोस मुझे गिरीश अस्थाना को लेकर है। बहुत अच्छी कहानियां और उपन्यास लिखे उन्होंने। दिल्ली में था मिलना-जुलना होता था। चितरंजन पार्क में मकान भी बनवा लिया था। उसकी भी डेथ हो गई और भाभीजी का मुझे पता नहीं। दिल्ली में हूं, भागदौड़ करूं तो पता लगा लूं। उनकी बेटी अडॉप्टेड थी, और उलझनें थीं- संपत्ति को लेकर। कुछ करना चाहता था पर वैसी मेरी स्थिति नहीं है। इसका अफसोस है...।

क्या कभी खूब रोना आया है आपको?

कुछ पल याद किया, पीछे लौटकर जैसे- ऐसा याद नहीं आ रहा है। अभी नहीं याद आ रहा है। कभी रोया नहीं। शायद नहीं। दुःखी रहा, टेंशन में रहा पर रोया नहीं। यूं तो अब उसे रोना कहेंगे या क्या 'तब बेटी पांच साल की थी। मन्नू की बड़ी बहन के साथ जुड़ी थी। तब हम भावनात्मक टेंशन से गुजर रहे थे। बेटी उससे प्रभावित न हो, सो उसे कलकत्ते भेजना था और कलकत्ते के जहाज पर उसे अकेले चढ़ा दिया' 'हां, उस वक्त घर आकर बहुत रोया था। बड़ा रोना आया था तब। इतनी छोटी बच्ची' 'अकेले जहाज पर! हां, वह अभी भी मुझे डायबिटीज है। जब मीठी चीज खाता हूं तो ये किशन और कमल दोनों बहुत डराते हैं यह कहकर कि अभी दीदी से शिकायत कर देंगे, फोन करके।

कोई रिश्ता जो आपको सबसे खूबसूरत लगा हो?

हेमलता नाम की महिला से या फिर संयुक्ता से। संयुक्ता से जब कसौली में परिचय हुआ तो वह बाईस-तेईस साल की थी। बहुत ही खूबसूरत, बहुत क्वालीफाइड, संपन्न परिवार की। जैसे ललानी से पैंसठ से रिश्ता है, वैसे ही उससे... बासठ-तिरसठ से। अच्छी मित्रता का रिश्ता आज भी है। दिल्ली में है- कभी बात कर लेते हैं, लड़-बोल लेते हैं। सालों बात न हो फिर भी अजीब किस्म का कॉन्फिडेंस।

महिला के साथ की मित्रता में पुरुष की मित्रता से क्या अंतर व खूबसूरती अनुभव करते हैं आप?

हां, इन पर विश्वास अधिक किया जा सकता है। राजनीतिक दंद-फंद नहीं है वहां। आपके लिए एक खास तरह की केयरिंग का भाव है। हम इस दुनिया से कट रहे हैं। इनके साथ की निकटता एक दूसरे नक्षत्र की खोज जैसी। डिस्कवर करने जैसा रोमांच होता है। पुरुष की मानसिक बनावट, रेस्पॉन्स के बारे में सब जानते हैं। इनके बारे में इतना कम जानते हैं कि यह एक अलग दुनिया लगती है। जैसे आप नए प्रदेश में आए हों, सुखद-चकित। महिलाओं के साथ मेरे संबंध भावनात्मक रहे हैं। अंतरंगताएं रही हैं, घनिष्ठताएं रहीं हैं पर सेक्स-संबंध दो-तीन को छोड़कर रहे ही नहीं- जिनमें मन्नू भी एक है।

यकायक ध्यान आया कि पहला खिंचाव, विवाह तक की बातें जैन परिवार की लड़की से और बाद में शादी भी जैन परिवार में। मैंने राजेंद्रजी से जानना चाहा कि क्या यह संयोग-भर है अथवा उनके मन के भीतर की किसी रुचि या पसंद-विशेष का परिणाम? बताने लगे कि ये शायद इसलिए कि ये दोनों हलकी-सी मुक्त थीं। जड़-सनातनी नहीं थीं, आर्य समाज के बैकग्राउंड की वजह से। शायद इसलिए अट्रैक्ट हुआ। इनमें भी अपनी घुटन, सीमाओं, बंधनों से निकलने की आकांक्षा होती थी।

शादी के निर्णय से जुड़ी यादें क्या कभी परेशान करती हैं आपको?

हकीर कहो या फकीर कहो, मैंने बता दिया है। चेखव के नाटक 'तीन बहनें' की एक पात्र इरीनी कहती है- 'काश! हमने जो कुछ जिया है वह एक जिंदगी का रफ ड्राफ्ट होता और इसे फेयर करने का एक अवसर हमें और मिलता!' सुनते हैं, किसी जर्मन या फ्रेंच नाटककार के दिमाग में ये वाक्य गूंजता रहा और उसने एक नाटक लिखा। उसमें एक सज्जन दारू पीते रहते हैं। हताश-निराश सोचते हैं कि जिंदगी बरबाद कर दी मैंने। दूसरा जीवन मिले तो उसमें पूर्व की गलतियां न करें। इसके लिए वे निर्णायक घटनाओं का विश्लेषण करते हैं- वह टर्निंग प्वाइंट कहां होता है जहां से गलती को सुधारता? मैं अकेला था, हँसमुख था, डासं क्लब जाता था- इसमें कहीं कुछ गलत था। पार्टी, खूबसूरत लड़की, आकर्षण क्या गलत था? अगर पार्टी के बाहर मैंने उससे पूछ लिया कि आप बाहर कैसे जाएंगी? फिर गाड़ी में घर छोड़ दिया उसे। इसमें क्या गलत है? हर मोड़ पर सोचता हूं और तय करता है कि उस समय जैसा किया, वही हो सकता था, कुछ और नहीं। यही अच्छा कनक्लूजन है, जो किया सब ठीक किया। असल में मेरी जिंदगी इतनी आकुपायड है, भीतर से इतनी व्यस्त है कि मुझे यह सब सोचने का टाइम नहीं मिलता। मैं किताबों से लगा रहता हूं। अकेला होता हूं तो अपने भीतर एक किताब खोल लेता हूं। कभी बोर नहीं होता। किताबों में नहीं, तो दोस्तों में होता हूं।

अगर आपकी बेटी किसी दिन हस्तक्षेप करे और कहे कि आपको अकेले नहीं रहना है तो?

कहेगी नहीं। उसने शादी का निर्णय लिया था और तब लगा था, अरे, यह लड़की तो बहुत मैच्योर हो गई है, हमसे तब भी उसने यही कहा था कि आप पढ़े-लिखे लोग हैं, जो भी करेंगे, ठीक करेंगे। हमारे और बेटी के संबंध को लेकर तब मन्नू ने एक बहुत अच्छी कहानी लिखी थी- 'त्रिशंकु'। वैसे भी यह तभी संभव है जब हमारे मनों में इस तरह की जरूरत महसूस हो। दोनों जब महसूस करेंगे, तभी कुछ हो सकता है, बीच का कुछ नहीं हो सकता।

मन में कहीं कोई क्षीण-सी आशा है?

इस बारे में सोचता नहीं हूं। होगा, हो जाएगा। जिस दिन ऐसी स्थिति आएगी, हो जाएगा, नहीं तो नहीं।

अपनी किसी बात या स्टैंड को संशोधित करने की कोशिश का भी मन हुआ है कभी?

गलत बात कभी निकली हो तो पता नहीं, ध्यान नहीं। कभी-कभी लगता है कि सही है पर ऐसा प्वाइंट नहीं जिससे कि संबंध खराब किया जाए। सिद्धांत की ही नहीं, व्यवहार की भी ऐसी कोई बात रही हो तो क्यों एक-दूसरे को कष्ट दिया जाए? हां, सारी कहानी कहने में क्या हर्ज है?

क्या कभी ऐसा लगा कि आपकी दृढ़ता ने क्रूर होकर सैडसस्टिक प्लेजर जैसा कुछ लेना चाहा हो?

नहीं, पर मैं क्रूर रहा हूं। बचपन की एक क्रूरता को भूल नहीं सकता। मेरा एक बहुत अच्छा दोस्त था। तब मैं बी.ए. में था। उससे रोज मिलना-जुलना होता। उसे टी.बी. थी। वह अस्पताल में भर्ती हुआ, मर गया। मैं अस्थाना और राजेंद्र शर्मा के साथ था। एक मिनट सुना, चुप रहा। फिर उनसे ऐसे ही बातें करता रहा। बाद में अफसोस हुआ, जा क्यों नहीं सकता था? इसे मैं कभी माफ नहीं कर सकता।

किसी को परेशान करके सुख जिया है कभी?

नहीं, ऐसा नहीं है। प्यार के भी संदर्भ में नहीं। आज के संदर्भ में प्यार? आज तो मैं उसे बौद्धिक रूप से समझने की कोशिश करूंगा। पहले वह भावनात्मक था। कोई भी भाव स्थायी नहीं हो सकता- एक जैसा नहीं रहता। हर इमोशन गुजर जाता है। फिर दोबारा आए, अलग बात है। प्यार भी इमोशन है। उससे यह उम्मीद कि वही व्याकुलता रहेगी- नामुमकिन। यह भाव की प्रकृति नहीं है। एक-दूसरे की अंडरस्टैंडिंग आज प्यार का अर्थ है। संयुक्ता में से मैं साल-भर बात न करूं पर मुझे विश्वास है। यह जो विश्वास है, वही प्यार का मूल है।

कोई ऐसी राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय घटना जिसने आपको विचलित किया हो?

जब टी.वी. पर बाबरी मस्जिद को टूटते देखा और ईराक पर अमेरिकी हमला, उसने मुझे दहला दिया था। आतिशबाजी का खेल हो जैसे। इन दोनों घटनाओं ने बहुत अधिक विचलित किया। स्टेंस वाली घटना ने भी बहुत बेचैन किया।

कोई यह पूछे कि राजेंद्र यादव ने घर या दुनिया को क्या दिया तो आप क्या कहेंगे?

कुछ खास नहीं। अगर कुछ दिया होगा दुनिया को तो क्वेश्चनिंग की टेंडेंसी। हर चीज पर सवाल करो, जो भी हो, उस पर सवाल करो। ईश्वर हो या सार्त्र हो या महान् व्यक्ति का कथन, वैसे ही स्वीकार मत करो, विश्लेषण करो उसका। उस पर विचार करो। इस प्रक्रिया ने, विखंडित करके देखने की प्रक्रिया ने शायद घर तोड़ दिया। यह लगता रहा कि वहां पति या घर के नाम पर जो

चीजें दे दी गई हैं, उन्हें वैसा ही क्यों स्वीकार करें? हालांकि मन्नू जवाब में कहती है कि 'फिर एक्सेप्ट क्यों करें? एक्चुअली मुझे घर की जरूरत नहीं।

आंखें बंद किए वे चुप बैठे थे तब। जैसे राजेंद्रजी के ड्राइंगरूम में शिवलिंग, चक्रवाली तस्वीरों ने मुझे लगभग चौंकाया था, वैसे ही उनके आसपास के या सहायकों-साथियों के नामों ने भी मेरा ध्यान खींचा- किशन, कमल, गौरनाथ, बीना, दुर्गा, अर्चना, श्याम प्रकाश, कृष्णाचार्य, रामविलास, मनमोहन, कमलाकांत, हरिनारायण 'विचित्र और विरोधाभासी-सा संयोग। कहां देवी-देवताओं और पूजाओं को दुत्कारते-नकारते राजेंद्रजी और कहां उनके करीब ऐसे नामों का जमावड़ा। अपने द्वारा सहसा किए गए एक प्रश्न से भी मैं चौंका।

'यदि आपको मैं हिंदी साहित्य का राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री कहूं तो...?'

उनके उत्तर देने के सहज, तुरंत ढंग से मुझे राहत दी। बिना रुके वे कह रहे थे- 'ऐसी स्थिति की मैं कल्पना नहीं करता कि सारी चीजों को मैं ही कंट्रोल करने लगूंगा। मुझमें लोकतांत्रिकता है, किशन दोस्त है, बीना दोस्त है। बॉस वाला संबंध नहीं है यहां। हमें कोई भ्रम नहीं है। गालिबेखस्ता के बगैर, कौन काम बंद? दुनिया की सारी कब्रें ऐसे लोगों से भरी हैं जो अपने समय में अपने आप को अपरिहार्य समझते थे। ऐसा कोई भ्रम नहीं है, जो हो रहा है...। सेवा, निर्माण जैसे शब्दों से मुझे चिढ़ पैदा होती है। भाषा की सेवा, साहित्य की साधना।

लोग आपको साहित्य का टैररिस्ट, आतंकवादी तक कहते हैं?

वही विवादास्पद वाली बात! लोग जो भय में, लिहाज में कहते नहीं, हम कह देते हैं। आज राजा को नंगा कहना, सबसे बड़ा टैररिस्ट होना है।

यदि आपको साहित्य का मंहत कहें तो?

सुनते हैं साहित्य में कभी महंत होते थे। अब हमें नहीं मालूम। महंत वह होता है जो चीजें तय करता है, दूसरों के भाग्य तय करता है। हमें कौन पूछता है? ज्यादा से ज्यादा 'हंस' में कहानी नहीं छापेंगे। उससे किसी की क्या जिंदगी बिगड़ जाएगी? बल्कि छाप के ज्यादा बिगड़ेगी। महंत वह होते हैं जिनमें पावर होती है। नगेंद्र थे, आजकल नामवर हैं या मैनेजर पांडे हैं, कभी अशोक वाजपेयी थे। हम भला कहां?

अच्छा, कोई अगर आपको हिंदी का सार्त्र कहे तो?

नहीं, हम लोग बहुत कम तैयारी के लोग हैं। वे बड़े लोग हैं, बड़ी तैयारी के। तुलना की क्या है, पैगंबर से कर लो। पर वही बात- कहां मूंछ के बाल और कहां पूंछ के बाल।

स्मृति शेष

राजेंद्र यादव का लोकतंत्र

विभूति नारायण राय

राजेंद्र यादव के अचानक 28 अक्टूबर 2013 को महाप्रयाण कर जाने के बाद मुझे जरूरी लगा कि उनकी स्मृति में बहुवचन में सामग्री प्रकाशित की जानी चाहिए। इस सिलसिले में मैंने हिंदी के प्रतिष्ठित कथाकार और महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के कुलपति, विभूति नारायण राय से राजेंद्र यादव पर लिखने का आग्रह किया। अपनी अत्यधिक व्यस्तता के चलते उनका लिखना टलता रहा। अंततः बहुवचन के लिए उनका लेख अंतिम समय में मिला।

क्या कहेंगे आप यदि राजेंद्र यादव की बात करते हुए आपको फिराक गोरखपुरी की याद आने लगे? ऊपर से देखने में दोनों में कोई समानता नजर नहीं आती। दोनों अलग-अलग भाषाओं में लिखते थे, एक कवि था दूसरा घोषित कविता विरोधी पर दोनों के बीच कुछ ऐसी समानता जरूर थी कि आज जब मैं राजेंद्र यादव पर लिखने बैठा हूं तो मुझे फिराक की याद आ रही है। मैंने दोनों के साथ कुछ शामें बिताई हैं जिन्हें बहुत ज्यादा तो नहीं कहा जा सकता पर उनकी संख्या इतनी अवश्य थी कि बिताए वक्त के आधार पर आप किसी के बारे में मुकम्मल और काफी हद तक सही राय बना सकें। दोनों के व्यक्तित्व में एक अद्‌भुत समानता थी, दोनों अपने विरोधी स्वयं बनाते थे और दोनों ही ऐसे लोकतंत्र में यकीन रखते थे, जिसमें विरोधियों के लिए पर्याप्त स्पेस था। फिराक की ही तरह आप राजेंद्र यादव से उनके मुंह पर उनके खिलाफ कुछ भी बोलकर निकल सकते थे और इस बात की भी उम्मीद कर सकते थे कि दूसरे दिन फिर जब उनसे मुलाकात हो तो जैसे कुछ हुआ ही न हो इस भाव से फिर संवाद शुरू हो जाए। मुझे दिल्ली की सर्दियों की एक सांझ बेतरह याद आ रही है। राजेंद्रजी उन दिनों हंस में न लिखने के कारण तलाश रहे थे और जोर-शोर से सबको आश्वस्त करने में लगे थे कि चूंकि आज का पूरा समय ही रचना विरोधी है अतः कुछ बड़ा नहीं रचा जा सकता। मैं सोचता था कि चूंकि राजेंद्रजी ने वर्षों से संपादकीय आलेखों के अलावा कुछ महत्वपूर्ण नहीं लिखा इसलिए वे नहीं चाहते कि दूसरे भी कुछ लिखें। इसीलिए वे ऐसी सैद्धांतिकी गढ़ने की कोशिश कर रहे हैं। उस शाम जब हंस का दफ्तर बंद हुआ तो हम चार-पांच लोग वहीं जम गए। तरल-गरल के साथ जो कुछ राजेंद्रजी को सुनने को मिला उसके बाद तो किसी मझोले दर्जे के लेखक से भी आप उम्मीद कर सकते थे कि उससे आपकी दुआ-सलाम भी खत्म हो जाएगी पर राजेंद्रजी तो मेरे जैसे नशे में चूर मगरूरों द्वारा यह उपदेश दिए जाने के बावजूद कि जितना मुश्किल वक्त होगा उतना ही महत्वपूर्ण लिखा जाएगा और चूंकि वे चुक गए हैं इसलिए दूसरों को भी लिखते हुए नहीं देख सकते, सो यह शिगूफा छोड़ रहे हैं, तनिक भी विचलित नहीं हुए। अपने

स्वभाव के अनुसार राजेंद्रजी अकेले ही सबसे मुचेहटा लिए रहे। सर्दियों की उस रात जब हम लड़खड़ाते कदमों और ठंड़ से सिकुड़ते हुए बाहर निकले, अंदर हुई गर्म बहस की तल्खी हम पर तारी थी और कम से कम मुझे तो लग ही रहा था कि अब राजेंद्रजी से ताल्लुकात खत्म पर ऐसा नहीं हुआ। लगभग वैसा ही हुआ जैसा छात्र जीवन में इलाहाबाद में बैक रोड़ वाले फिराक साहब के घर से निकलते समय होता था। एक अच्छी बौद्धिक शाम बिताने के बाद तीन-चार शरारती लड़कों को अचानक याद आता कि हॉस्टल में मेस बंद होने का वक्त हो गया है और थोड़ी सी देर होने पर रात का खाना नहीं मिलेगा और वे फिराक साहब को रिगाने वाली कोई बात कह देते। अकसर यह बात हिंदी के किसी जीवित इलाहाबादी कवि से उनकी तुलना होती जिसमें उस कवि को फिराक से श्रेष्ठ बताया जाता और फिर कोटरों से बाहर निकलने को बेताब अपनी लाल-लाल गोल आंखों को घुमाते हुए फिराक उन लड़कों की मां बहन करते हुए उन्हें घर से भगा देते। लड़के घर का गेट पार करते ही पेट पकड़ पकड़कर हँसते और दूसरे दिन शाम को फिर हाजिर हो जाते। न फिराक कुछ कहते और न लड़कों को कुछ याद रखने की जरूरत पड़ती। राजेंद्रजी के साथ भी यही हुआ। उस सर्द रात के बाद बिना लंबे अंतराल के हम फिर मिले और न उन्होंने जताया कि उन्हें कुछ याद था और न मुझे झेंपने की जरूरत पड़ी।

मरने के फौरन बाद अगर आप किसी पर लिख रहे हों तो आपसे स्वाभाविक अपेक्षा यही होगी कि आप उसकी महानता के गीत गाए पर राजेंद्रजी पर लिखते समय इस अलिखित सामाजिक रीति का पालन करना उनके साथ ज्यादती होगी। वे स्वयं इस परंपरा के खिलाफ थे और 'मेरी तेरी उसकी बात' में इसके तमाम उदाहरण मौजूद हैं। इसलिए मुझे लगता है कि राजेंद्र यादव पर लिखते समय साफगोई से काम लिया जा सकता है और मैं बिना किसी लाग-लपेट के कह सकता हूं कि मुझे वे कभी भी बड़े रचनाकार नहीं लगे। नई कहानी आंदोलन की स्वयं घोषित महान त्रयी में सबसे प्रतिभाशाली मोहन राकेश थे जिन्हें दुर्भाग्य से अधिक समय नहीं मिला और जिन दो कमलेश्वर और राजेंद्र यादव- को लंबा जीवन मिला, वे प्रारंभ में कुछ महत्वपूर्ण रचकर बाद में सिर्फ अपने को दुहराते रहे। दोनों ने बाद में संपादकीय लेखों और अखबारी लेखन के कुछ भी ऐसा नहीं लिखा जिसे उल्लेखनीय कहा जाए। कमलेश्वर के अंतिम उपन्यास 'कितने पाकिस्तान' को जोड़ तोड़ और साहित्य अकादेमी की राजनीति के चलते सम्मान जरूर मिल गया पर उनके प्रशसंक मानते हैं कि उनकी शुरुआती रचनाओं उदाहरणार्थ 'राजा निरबंसिया' कहानी या 'समुद्र में खोया आदमी' के बरक्स यह सम्मानित उपन्यास कहीं नहीं ठहरता। राजेंद्र यादव ने तो बाद में सिर्फ दयनीय लेखन किया। उनकी कहानी 'हासिल' और उपन्यास 'भूत' इसके बड़े उदाहरण हैं। सेक्स राजेंद्र यादव के जीवन की सबसे बड़ी कुंठा थी और उसी कुंठा की फूहड़ तथा गैर रचनात्मक अभिव्यक्ति हैं उनकी अंतिम रचनाएं। बाद के सालों में जब वे हंस के संपादन जैसा महत्वपूर्ण काम कर रहे थे, उनके मन में कहीं न कहीं एक कथाकार छटपटाता रहता था और वे किसी एक कथाकृति से लोगों को चमत्कृत करने का दयनीय प्रयास करते रहते थे। इन प्रयासों से उपजी किसी कथा रचना से उन्हें कभी कोई सम्मान नहीं मिला पर वे कोशिश करते ही रहे।

एक औसत लेखक भी एक बड़ा संपादक हो सकता है इसके सबसे बड़े उदाहरण हैं राजेंद्र यादव। मुझे लगता है कि उन्हें सबसे ज्यादा याद हंस के संपादन के लिए किया जाएगा। हंस के

संस्थापक संपादक, बकौल राजेंद्र यादव संपादित 'हंस', प्रेमचंद थे पर प्रेमचंद को हम कथाकार के रूप में याद करते हैं जबकि संपादक के रूप में उनका बहुत छोटा सा हिस्सा हमें याद आता है। शायद यह इसलिए है कि हम किसी भी व्यक्तित्व को उसकी गतिविधियों के बड़े दायरे से पहचानते हैं। प्रेमचंद के लिए कथाकार होना अधिक महत्वपूर्ण था, हंस का संपादन गौण था। इसके बरक्स राजेंद्र यादव शायद खुद को हंस का संपादक ज्यादा मानते थे। 1983 के बाद के उनके आचरण से यह बड़ा स्पष्ट झलकता है। कई बार एक सरलीकृत वाक्य सुनने को मिलता है कि जिस समय राजेंद्रजी ने हंस का संपादन/प्रकाशन प्रारंभ किया था उस समय तक वे लगभग भुला दिए जाने की स्थिति में पहुंच गए थे। यह शायद पूरी तरह सही न भी हो पर इतना तो सच है ही उस समय एक सक्रिय रचनात्मक लेखक के रूप में वे शायद ही उनकी उपस्थिति दर्ज की जाती थी। यह हंस का संपादक ही था जो शारीरिक रूप से पूरी तरह अशक्त होने तक अश्वमेध यज्ञ के घोड़े की तरह उन्नत ग्रीवा और गर्वोन्नमत्त चाल के साथ पूरे देश की साहित्यिक गोष्ठियों के अध्यक्ष और मुख्य अतिथि के आसनों को सुशोभित कर रहा था या जिससे हर दो साल बाद दिल्ली के पुस्तक मेले में नए पुराने लेखक अपनी पुस्तकों का विमोचन कराने के लालायित रहते थे।

संपादक राजेंद्र यादव की यह हैसियत अचानक नहीं बनी। इसके पीछे उनके व्यक्तित्व का लोकतंत्र ही था जिसने पूरी वैचारिक दृढ़ता के साथ साहित्य के लोकतंत्र की सैद्धांतिकी रची थी। 'हंस' ने हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता में पहली बार हाशिए के लोगों को बिना किसी क्षमा प्रार्थना के बल्कि यूं कहा जाना चाहिए कि चिढ़ाने वाली आक्रामकता के साथ, मुख्यधारा में स्थान दिया। दलित और स्त्री से जुड़े मुद्दों को जिस प्रखरता से राजेंद्र यादव ने अपने संपादकीय लेखों और बहस के पन्नों पर उठाया और उनसे जो विमर्श निर्मित हुए वे हिंदी संसार के लिए अभूतपूर्व थे। यह वह समय था जब हिंदी साहित्य में हाशिए के लोग सचमुच हाशिए पर ही थे। तब दलित लेखकों को कोई संपादक छापने के लिए तैयार नहीं था, उनकी पांडुलिपियां प्रकाशकों के कबाड़खानों से अपने ऊपर धूल की मोटी पर्त चढ़ाकर लौट आया करती थीं। इसी समय लगभग ललकारते हुए राजेंद्र यादव संपादित हंस का मंच पर प्रवेश हुआ और नाटक का पूरा परिदृश्य बदल गया। 'मेरी तेरी उसकी बात' में उन्होंने जिस आक्रामकता से वर्ण व्यवस्था, कर्मकांड, पुनर्जन्म और योनि शुचिता जैसे मुद्दों पर लिखा उससे शाकाहारी आभिजात्य के सारे गढ़ ढ़ह गए। स्वाभाविक था कि प्रारंभ में तो उनके लिखे को गंभीरता से नहीं लिया गया और उसकी उपेक्षा की गई पर राजेंद्र यादव जिद में और दुहराव का खतरा मोल लेकर भी लिखते रहे और कुछ ही वर्षों में नतीजे भी सामने आने लगे।

यौनिकता पर जो बहस कई दशकों से चल रही थी वह पहली बार जोर-शोर से 'हंस' में शुरू हुई और जल्द ही दूसरे पत्र पत्रिकाओं में भी छा गई। वर्जित क्षेत्रों में खास तौर से स्त्रियों ने प्रवेश किया। बहुत सी नई लेखिकाएं 'हंस' ने खड़ी की, जिनमें दम था वे टिकी रहीं और जो महज राजेंद्र यादव की यौन कुंठाओं की उपज थीं वे नहीं टिकीं और समय के साथ भुला दी गईं। जो विमर्श इस प्रक्रिया के साथ उपजा और परवान चढ़ा वह अभी भी फल-फूल रहा है। हिंदी की तमाम पत्र-पत्रिकाओं में यह विमर्श देखा जा सकता है। 'हंस' ने दलित मुद्दों पर भी एकदम नई तरह की बहस की शुरुआत की। वर्ण व्यवस्था और द्विज श्रेष्ठता की अवधारणा के विरुद्ध तो राजेंद्र यादव के मन में इतना आक्रोश था कि वे लगभग गाली-गलौज की भाषा में उस पर हमला करते थे पर

इस आक्रामकता ने उन्हें वंचितों के बड़े तबके का ड़ार्लिंग बना दिया था। असंख्य ऐसे दलित लेखक थे जिन्हें उन्होंने 'हंस' में जगह दी, वे सपने में भी मुख्यधारा की पत्रिकाओं में छपने की सोच नहीं सकते थे। यहां भी वही हुआ- जो प्रतिभाशाली थे वे टिके रहे और मुख्यधारा के लेखक बन गए और जिन्हें सिर्फ ग्रेस मार्क देकर छापा गया था वे अपनी जगह पर ही कदमताल कर रहे हैं। यदि आज हिंदी के प्रकाशक दलित लेखकों को हाथोंहाथ ले रहे हैं और वे धड़ाधड़ छप और खूब बिक रहे हैं तो इसके लिए हमें कुछ श्रेय राजेंद्र यादव संपादित 'हंस' को भी देना होगा।

मैं एक और मुद्दे पर भी राजेंद्र यादव का प्रशंसक हूं। उन्होनें जमकर हिंदुत्व और उसके उपादानों यथा वर्ण व्यवस्था, कर्मकांड और पुनर्जन्म की अवधारणा को कोसा और एक दो बार तो अपने अतिरिक्त उत्साह के चलते पुलिस के हत्थे चढ़ते-चढ़ते बचे पर इस मामले में बहुत से वामपंथी बुद्धिजीवियों के मुकाबले उनका रवैया अधिक स्वागत योग्य था। उन्होंने मुस्लिम कट्टरता को भी कभी नहीं बक्शा। मुस्लिम औरतों की स्थिति और फतवों पर उन्होंने खुद भी ईमानदारी से लिखा और कई मुसलमान औरतों से भी लिखवाया। इस मामले में हमें उनकी तारीफ करनी चाहिए क्योंकि ज्यादातर वामपंथी बुद्धिजीवी हिंदू सांप्रदायिकता पर तो जमकर हमला करते हैं पर मुस्लिम कट्टरता का जिक्र आते ही रणनैतिक चुप्पी साध लेते हैं। आज जब राजेंद्र यादव नहीं हैं मुझे उनका लोकतंत्र याद रहा है शायद इसलिए भी कि हममें से बहुत कम में यह बचा है।

खोल कफन देखा होगा, तुमने 'हंस' की ओर
(धर्मवीर भारती से क्षमा सहित)

भारत भारद्वाज

भारत भारद्वाज हिंदी के अकेले टिप्पणीकार हैं जो खुद को साहित्य का लेखा-जोखा रखने वाला बनिया कहते हैं। वे एक लंबे अरसे तक 'हंस' में समकालीन सृजन संदर्भ लिखते रहे हैं। वे इन दिनों नई पत्रिका 'पाखी' से जुड़े हुए हैं। उन्होंने लगभग पांच साल तक विश्वविद्यालय की द्वैमासिक समीक्षा पत्रिका 'पुस्तक वार्ता' का संपादन भी किया। वे राजेंद्रजी के काफी करीबी रहे हैं इसलिए उनसे जुडी स्मृतियों को पाठकों के साथ साझा कर रहे हैं :

यह शीर्षक मैंने अज्ञेय द्वारा संपादित 'दूसरा सप्तक' (1951) के कवि धर्मवीर भारती की 'सुभाष की मृत्यु पर' लिखी उस संग्रह में संकलित कविता की अंतिम पंक्ति से उठाया है। अंतिम पंक्ति थी 'खोल कफन ताका होगा तुमने भारत का भोर'। मैंने इस पंक्ति में थोड़ा फेरबदल किया है। राजेंद्रजी के प्रसंग में यह शीर्षक मुझे इसलिए बहुत माकूल लगा है कि अपने लेखकीय जीवन-संघर्ष में आगरा विश्वविद्यालय से एम.ए. (हिंदी) में प्रथम श्रेणी में प्रथम (गोल्ड मेडलिस्ट) होते हुए भी अपने लेखकीय स्वाभिमान की रक्षा करने के लिए उन्होंने स्वतंत्र लेखन का चुनाव किया। वे चाहते तो बहुत आसानी से किसी विश्वविद्यालय में हिंदी के प्राध्यापक हो सकते थे और रीडर, प्रोफेसर होते हुए अवकाश ग्रहण करते लेकिन उन्होंने 'रिस्क' लिया। 22 वर्ष की उम्र में उनका पहला उपन्यास 'प्रेत बोलते हैं' प्रगति प्रकाशन, नई दिल्ली से 1951 ई. में छपा। इसका वितरण ठीक से नहीं हुआ लेकिन पता नहीं कहां से उनका यह पहला उपन्यास मेरे अग्रज ले आए थे। अक्षरारंभ के बाद, जब मुझे पढ़ना-लिखना आ गया, तो मैं साहित्य की दुनिया में डुबकी लगाने लगा। 7-8 साल की उम्र से। तब मेरी साहित्यिक समझ क्या होगी, लेकिन पत्र-पत्रिकाएं और नई-से-नई पुस्तकें मुझे उलटने-पलटने का चस्का लग चुका था। मैंने अन्यत्र कहीं लिखा है कि मेरा यज्ञोपवीत संस्कार तो बाद में हुआ उसके पहले मेरा साहित्यिक संस्कार हो गया था। 'प्रेत बोलते हैं' का संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली से 'सारा आकाश' नाम से 1959 में प्रकाशित हुआ। बाद में बासु चटर्जी ने इसी शीर्षक से इस पर फिल्म भी बनाई।

जब मैं मिडिल स्कूल का विद्यार्थी तो अपने अग्रजों के नाम घर पर आए साहित्यकारों के पत्र पढ़ता था। 'कल्पना', 'आलोचना', 'कहानी', 'रानी', 'चिनगारी', 'ज्ञानोदय', 'अजंता' (हैदराबाद), 'विश्वज्योति' (होशियारपुर), 'नया समाज' (कलकत्ता) जैसी पत्रिकाएं भी देखता था। बच्चों की पत्रिकाएं 'बालक', 'चुन्नू मुन्नू', 'चन्दामामा', 'बाल भारती' और मित्र प्रकाशन की पत्रिका '*मनमोहन*' भी देखता था। मेरी बाल बुद्धि विकसित हो रही थी। उसी दौरान मैंने नागार्जुन के

चार-पांच उपन्यास पढ़े। रेणु का 'मैला आंचल' और 'परती : परिकथा' भी। तब मुझमें साहित्य के प्रति गहरी ललक ही नहीं, उत्सुकता भी थी। मैं पत्र-पत्रिकाएं देखता था। उन्हीं दिनों मुझे पता चला कि राजेंद्र यादव 'ज्ञानोदय' से जुड़ गए हैं। कलकत्ता में रहते हुए उन्होंने अपना दूसरा उपन्यास 'उखड़े हुए लोग' लिखा। उन्होंने अनेक कहानियां लिखीं और तुर्गनेव, चेखव, लर्मन्तोव और अल्बैर कामू की पुस्तकों के अनुवाद कार्य किए। तब हिंदी में श्रीपत राय के संपादन में प्रकाशित पत्रिका 'कहानी' की खूब चर्चा थी। नई कहानी आंदोलन का भी यही समय था। इस आंदोलन के त्रयी मोहन राकेश, कमलेश्वर और राजेंद्र यादव ने कहानी की पुरानी परंपरा को चुनौती देते हुए नई कहानी के केंद्र में मध्यवर्ग के जीवनानुभव को सामने लाने की कोशिश की। उनकी खूब चर्चा भी हुई।

नामवर सिंह ने श्रीपत राय द्वारा संपादित 'कहानी' के वार्षिकांक में ही 'कहानी : नई कहानी' पर टिप्पणी शुरू कर दी थी। लेकिन उन्होंने निर्मल वर्मा की कहानी 'परिंदे' को पहली नई कहानी बताकर इस आंदोलन को पंक्चर कर दिया। बाकी काम उन्होंने भैरव प्रसाद गुप्त द्वारा संपादित 'नई कहानियां' (मई 1960) में प्रकाशित अपने स्तंभ 'हाशिए पर' से किया। जहां तक मुझे याद है, नामवरजी ने मोहन राकेश और कमलेश्वर की कई कहानियों की तारीफ की, लेकिन राजेंद्र यादव की किसी कहानी की नहीं। नई कहानी आंदोलन के त्रयी में दो संपादक थे मोहन राकेश और कमलेश्वर। स्वभावतः इन लोगों ने नई कहानी को खूब उछाला 'मेरा हमदम : मेरा दोस्त' और 'आईने के सामने' से। एक बार ऐसा लगा कि कहानी की दुनिया में इस त्रयी को छोड़कर और कोई नहीं जबकि सच्चाई यह थी कि उन्हीं दिनों कृष्णा सोबती, निर्मला वर्मा, रेणु, परसाई और भीष्म साहनी भी कहानियां लिख रहे थे लेकिन इन्हें हाशिये पर डाल दिया गया। कलकत्ता में आयोजित 'कथा कुम्भ' (1965) में भी बहुत घपला हुआ। नई कहानी आंदोलन की त्रयी ने अपने बचाव में डॉ. धनंजय वर्मा और देवी शंकर अवस्थी को प्रवक्ता के रूप में उतारा। खुद राजेंद्र यादव ने एक लंबी भूमिका के साथ 'एक दुनिया समानांतर' पुस्तक का संपादन किया और कमलेश्वर ने 'नई कहानी की भूमिका' जैसी पुस्तक लिखी लेकिन नई कहानी आंदोलन को एक जबर्दस्त धक्का दिया साठोत्तरी पीढ़ी के कहानीकार ज्ञानरंजन, दूधनाथ सिंह, काशीनाथ सिंह और रवींद्र कालिया ने। इनके हस्तक्षेप के बाद नई कहानी आंदोलन का शिराजा बिखर गया।

राजेंद्र यादव ने बार-बार 'ज्ञानोदय' की नौकरी छोड़ते अनुवाद और स्वतंत्र लेखन किया। बीच में कलकत्ता छोड़कर एक-डेढ़ वर्ष दिल्ली में प्रवास किया। 1959 में मन्नू भंडारी से उन्होंने विवाह किया। अंततः वे दिल्ली आ गए और 1964 ई. में अक्षर प्रकाशन की स्थापना की। राजेंद्र यादव छठे दशक के आरंभ से ही एक बड़ा प्रकाशन संस्थान बनाने की योजना बना रहे थे। इस संबंध में उन्होंने मोहन राकेश से भी संपर्क किया था। लेकिन उनकी महत्वाकांक्षी योजना व्यावहारिक नहीं थी। लेकिन उनके भीतर एक सपना पल रहा था। इसी की परिणति अक्षर प्रकाशन की स्थापना में हुई। इस प्रकाशन से हिंदी के महत्वपूर्ण लेखकों अज्ञेय, रामविलास शर्मा और अन्य कई की पुस्तकें प्रकाशित हुईं। चूंकि उनके पास पुस्तकों की खपत और बाजार में वितरण का अनुभव नहीं था। इसलिए जैसे-तैसे इस प्रकाशन को 15-20 वर्षों तक चलाने के घाटे के सौदे को देखते हुए अंततः उन्होंने राधाकृष्ण प्रकाशन के कर्ता-धर्ता अरविंद कुमार से अपने प्रकाशन की तमाम पुस्तकों का सौदा किया। इस बीच कई बातें हुईं। अक्षर प्रकाशन के सहयोगी जवाहर चौधरी से उनका संबंध-विच्छेद

हुआ और उन पर लेखकों की रॉयल्टी न देने के भी अनेक आरोप लगे। बेशक, राजेंद्रजी बार-बार मेरे निकट के पड़ोसी रहे हैं। पहले हिंदुस्तान टाइम्स अपार्टमेंट्स और बाद में आकाश दर्शन अपार्टमेंट्स मयूर विहार, फेज-I में। हिंदुस्तान टाइम्स अपार्टमेंट्स में वे पूर्वी छोर पर थे और मैं पश्चिमी छोर पर। आकाश दर्शन में स्थिति उलट गई। मैं पूर्वी छोर पर और वे पश्चिमी छोर पर थे लेकिन उनका व्यवहार मेरे साथ पड़ोसी देश पाकिस्तान की तरह था। भीतर से मुझे पसंद नहीं करते थे बर्दाश्त जरूर करते थे।

सचमुच राजेंद्र यादव 'इक जिंदा जालिम चंगा' थे। कभी 'हंस' के दफ्तर में ही कवि केदारनाथ सिंह ने उन्हें 'जालिम लोशन' कहा था लेकिन राजेंद्र यादव को किसी संज्ञा, सर्वनाम और विशेषण से अभिहित नहीं किया जा सकता। वे एक साथ पूरब और पश्चिम की संधि थे। साथ ही वे सार्त्र-सिमोन द बोउआर का लिव-इन-रिलेशन पसंद करते थे, तो दूसरी तरफ चेखव के प्रेम प्रसंग को भी। उन्हें एडवर्ड सईद की पुस्तक 'ओरियंटलिज्म' भी खूब पसंद थी। राजेंद्रजी में जितनी खूबियां और कमियां थीं, उनके समकालीन किसी एक साहित्यकार में उसके होने की कल्पना नहीं की जा सकती। श्रीकांत वर्मा ने 'माया दर्पण' की एक कविता में कहा 'मैं समूचा आकाश इस भुजा पर ताबीज की तरह बांध लेना चाहता हूं।'

लेकिन राजेंद्रजी केदारनाथ सिंह के पहले संग्रह 'अभी बिल्कुल अभी' की एक कविता की अंतिम पंक्ति 'समूचा विश्व होना चाहता हूं' चाहते थे। साहित्य में 'रस सिद्धांत' के अंतर्गत जितने रस की कल्पना की गई है, उन्होंने तमाम रसों को निचोड़ा है। वे वस्तुतः ययाति थे और उन्होंने 'हंस' में प्रकाशित युवा लेखिकाओं के जीवन और यौवन से रस लिया ही नहीं, अपने जीवन का हर पल-क्षण सचमुच जिया है।

राजेंद्र यादव से मेरा लगभग 25 वर्षों का संबंध रहा है। इस बीच मतभेद और मनमुटाव के अनेक अवसर आए। मई 1991 से, मेरे प्रस्ताव पर राजेंद्रजी की सहर्ष सहमति से, मेरे स्तंभ का आरंभ हुआ 'हंस' में। राजेंद्रजी ने लगभग 20 वर्षों तक मेरे स्तंभ का प्रकाशन किया। यह मेरे लिए बड़ी बात है लेकिन कई बार मतभेद, जो गलत था, के कारण भी हमारे बीच गलतफहमी हुई। संभवतः 1994-95 में पत्रकार अवध नारायण मुद्गल, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली से, एक पत्रिका का प्रकाशन संपादन करना चाहते थे। उन्होंने मुझसे संपर्क किया और मैं उनके साथ आर.के. पुरम के RNI के दफ्तर गया। 'छाया मयूर' पत्रिका का नाम मैंने ही सुझाया था। उनकी योजना थी कि पत्रिका में भारतेंदु युग से लेकर अब तक 'बेस्ट सेलर' की एक शोधपरक सूची दी जाए। उस सूची में राजेंद्र यादव की पुस्तक 'सारा आकाश' भी थी लेकिन जब पत्रिका का अंक आया तो संपादक ने इस पुस्तक का उल्लेख हटा दिया। मुझे नहीं मालूम, उन्होंने ऐसा क्यों किया लेकिन राजेंद्र यादव सूची में अपना नाम न देखकर मुझसे नाराज हो गए। न केवल 'हंस' में मेरा स्तंभ स्थगित किया, बल्कि वीरेंद्र जैन और शिवकुमार 'शिव' से मेरे सर्वेक्षण पर कठोर टिप्पणी भी प्रकाशित की। उन्हीं दिनों एक दिन जब मैं अक्षर प्रकाशन गया तो उन्होंने 'सारा आकाश' की अंग्रेजी प्रति मेरे सामने फेंकते हुए कहा 'तुम देखो, इस अनुवाद को। इस पर लिखा है कि इस पुस्तक की 5 लाख प्रतियां बिक चुकी हैं।' मैंने राजेंद्रजी को कहा कि उनके उपन्यास 'सारा आकाश' के उल्लेख को अवध नारायण मुद्गल ने हटा दिया है। मेरे स्पष्टीकरण से वे संतुष्ट नहीं हुए।

राजेंद्रजी ने कई बार अपने मित्रों के दबाव के कारण 'हंस' से मुझे निकाला और फिर मेरे निवास पर आकर लौटने का आग्रह किया। हर बार मैंने एक वरिष्ठ कथाकार और 'हंस' जैसी पत्रिका के सम्मानित संपादक की मर्यादा और प्रतिष्ठा की रक्षा की। राजेंद्रजी के व्यक्तित्व की अनेक विभाजित छवियां हैं। वे खुद विवाद उठाते थे और जब साहित्य में सन्नाटा होता था, तो अपने चेले-चपाटियों से विवाद उठवाते थे। जीवन के अंतिम दिनों में 'हंस' उनकी एकमात्र जिजीविषा था। वे 'हंस' के कारण ही जीवित थे। वे 'हंस' का वार्षिक आयोजन करके और नियत समय पर निकालकर अपने को जीवित रखते थे।

राजेंद्रजी के अंतिम दिनों का मैं गवाह हूं। ज्योति कुमारी ने 31 जुलाई 2013 को उनके घर पर मेडिकल एटेंडेंट प्रमोद के अमर्यादित व्यवहार से क्षुब्ध होकर उन्हीं के घर से लैंडलाइन पर पुलिस को फोन किया। पुलिस आई और बाद की स्थिति जटिल हो गई। ज्योति कुमारी ने उनके खिलाफ DCP, East के Grievance Cell में एक बार नहीं, दो बार शिकायत की। हर बार मैं उनके साथ DCP, East के Office में गया। राजेंद्रजी इस स्थिति से विचलित ही नहीं, भीतर से बेहद अशांत और तनाव में थे। अंतिम बार, 23 Oct को DCP Office से लौटते हुए राजेंद्रजी ज्योति कुमारी से आग्रह कर रहे थे कि गाड़ी पर बैठ जाओ, तुम्हें घर छोड़ देंगे। मैंने ही ज्योति को मना किया। 26 अक्टूबर को मैं राजेंद्रजी के साथ दूरदर्शन निदेशालय जा रहा था, अजित राय द्वारा संपादित पत्रिका 'दृश्यांतर' के प्रवेशांक के लोकार्पण के लिए। रास्ते में उनसे मेरी खूब बातें हुईं। मैंने उनसे कहा 'राजेंद्रजी भूत-प्रेत से अपना पीछा छुड़ाइए और साहित्य की मुख्य धारा में आइए।' उनका जवाब था 'तुम मेरे लेखन के स्वभाव को नहीं बदल सकते।' मैं चुप रह गया। राजेंद्र यादव ने 'आलोचना' पत्रिका में देवकी नंदन खत्री के उपन्यास 'चंद्रकांता संतति' पर एक अच्छा विश्लेषणात्मक लेख लिखा था लेकिन उनके लिए खत्री की दुनिया से अपने लेखन में निकलना संभव नहीं हुआ। पहले 'प्रेत बोलते हैं' और अभी 'दृश्यांतर' में धारावाहिक प्रकाशित हो रहा उनका अंतिम उपन्यास 'भूत' इसका प्रमाण है।

दरअसल राजेंद्र यादव क्या थे। उनके निकट का पड़ोसी होते हुए भी ठीक से मैं कभी समझ नहीं पाया लेकिन हमेशा मैंने महसूस किया कि उन्हें अच्छा भोजन, खूबसूरत लड़कियों से मित्रता और नई-से-नई पुस्तकें पढ़ने का शौक था। मेरे जम्मू प्रवास, संभवतः 1988 या 1999 में, मैंने उन्हें एक साहित्यिक कार्यक्रम में बुलाया था। वे मैत्रेयी पुष्पा के साथ आए थे। दोनों मेरे निवास पर ही ठहरे थे। कार्यक्रम बहुत अच्छा हुआ और उन्हें वहां के सबसे अच्छे होटल में लंच दिया गया। उस लंच में जगन्नाथ आजाद, कश्मीर टाइम्स के संपादक, रमेश मेहता, चंचल डोगरा, मनोज शर्मा के अतिरिक्त कई अन्य साहित्यकार उपस्थित थे। राजेंद्रजी को कश्मीरी व्यंजन बहुत पसंद थे। उनकी फर्माइश पर गुस्तावा और रोगनजोश सहित कई अन्य कश्मीरी सामिष भोजन परोसे गए। जम्मू शहर उन्हें अच्छा लगा। जब हम लोग उन्हें जम्मू स्टेशन पर झेलम एक्सप्रेस से दिल्ली के लिए विदा करने गए तो उन्होंने उर्दू के किसी पाएदार शायर का यह शेर सुनाया 'शिकस्ता किस्ती को पार लेकर हमारा इल्मो हुनर गया है/नए खिवैये कहीं न समझे नदी का पानी उतर गया है।' नामवरजी की तरह राजेंद्र यादव की स्मृति भी गजब थी। अपने संपादकीय में वे प्रायः देशी-विदेशी पुस्तकों के नाम का उल्लेख करते थे। ढूंढ-ढूंढकर उन्होंने विश्व के क्लासिक्स खासकर रूस के महान लेखकों को पढ़ा

था। पश्चिमी साहित्य का उन्होंने खूब अध्ययन किया था। इसी तरह विश्व के महत्वपूर्ण जासूसी और अपराधी साहित्य को भी उन्होंने सावधानी से पढ़ा था। कुछ महीने पूर्व 'हंस' के अपने एक संपादकीय में उन्होंने विश्व के सबसे बड़े अपराधी हेनरी शैरर के बारे में लिखा था। पिछले दिनों उस अपराधी की मृत्यु हुई। यह खबर मैंने 'दि हिंदू' में दिसंबर 13 के किसी अंक में पढ़ी थी। सहसा राजेंद्रजी मुझे याद आए। राजेंद्रजी की एक बड़ी विशेषता थी कि वे साहित्य की सरहद पर हमेशा Update रहना चाहते। मुझसे या अनंत विजय से किसी अच्छी नई पुस्तक और नई पत्रिका निकलने की सूचना मिलती, तत्काल आग्रह करके वे मंगवाते थे। अनिल यादव की पुस्तक 'यह कौन सा देस है महाराज' उन्होंने मुझसे ली थी। यह पुस्तक पिछले साल मेरे आग्रह पर कवि श्याम कश्यप ने विश्व पुस्तक मेले के दौरान खरीदी थी।

हिंदी लेखकों की दिनचर्या प्रायः अनियमित, अराजक और उच्छृंखल होती है लेकिन राजेंद्रजी की दिनचर्या बहुत अनुशासित थी। वे भोर में 4:30-5 बजे के बीच उठ जाते थे। शौचकर्म से निवृत्त होकर पढ़ते-लिखते थे फिर 9 बजे नाश्ता करके सो जाते थे। पहले 12 बजे दिन में, इधर वर्षों से 1 बजे अक्षर प्रकाशन, दरियागंज जाते थे। शाम ठीक छह बजे वहां से निकलते थे। 'हंस' के दफ्तर में प्रायः हर दिन उनसे मिलने-जुलने वाले आते ही रहते थे। गर्मजोशी से वे शहर के या बाहर से आने वाले लेखकों का स्वागत करते थे और गर्म चाय पिलाते थे। और खूब हँसी-मजाक करते थे। बहुत पहले कभी-कभार 'हंस' के कार्यालय में चंदा करके रसरंजन का कार्यक्रम भी चलता था। एक बार बाहर से आए कथाकार स्वयंप्रकाश को यह स्थिति अच्छी नहीं लगी। उन्होंने इस पर नाराजगी व्यक्त की। शाम में अपने निवास लौटने के बाद राजेंद्रजी नियमित रूप से टेलीविजन देखते थे। पता नहीं टी.वी. के धारावाहिकों में वे क्या तलाशते थे लेकिन कई बार इसकी तारीफ भी करते थे। घर पर भी लोग उनसे मिलने प्रायः आते-जाते रहते थे। खाने और पीने में वे बेहद नपे-तुले थे। डेढ़-दो पेग से ज्यादा ड्रिंक नहीं लेते थे और खाने में सूप के अतिरिक्त दो चपाती और सब्जी। वे चटोरे थे लेकिन सुरुचि संपन्न। मुझे मालूम है कि डॉ. रामविलास शर्मा की दिनचर्या बहुत अनुशासित थी। अंग्रेजी लेखक खुशवंत सिंह की भी, जो अब 97 वर्ष के हैं। राजेंद्रजी की दिनचर्या बेहद अनुशासित थी। राहुलजी ने कहीं लिखा है कि अपने जीवन में सेकेंड का हिसाब मैंने नहीं रखा, लेकिन मिनट का हिसाब अवश्य रखा है। उनकी तरह ही राजेंद्रजी ने अपने लंबे जीवन में मिनट का हिसाब रखा है। वक्त की पाबंदी के वे कायल थे। उनकी इस आदत की तारीफ उनके मित्र मोहन राकेश और कमलेश्वर ने भी की है। भले राजेंद्रजी हिंदू सामाजिक रीतियों की रूढ़ियों को तोड़ते थे लेकिन सामाजिक संबंधों शादी-विवाह, आयोजन और लेखकों की शवयात्रा में हमेशा शामिल होते थे। वे सब कुछ पढ़ते थे और समकालीन साहित्य की नब्ज पर उनकी उंगली रहती थी। कई बार वे मुझसे Update होते थे और कई बार, मुझे भी Update करते थे।

ऊपर एक प्रसंग में राजेंद्रजी की जासूसी और अपराध साहित्य में रुचि का उल्लेख किया गया है। हम लोग इस साहित्य को हेय दृष्टि से देखते हैं लेकिन कई महत्वपूर्ण मार्क्सवादी साहित्यकारों की रुचि इस साहित्य में थी। लैटिन अमेरिकी कवि पाब्लो नेरुदा से जब एक साक्षात्कार में किसी ने पूछा कि यदि आपके घर में अचानक आग लग जाए तो आप क्या बचाना चाहेंगे। बेलाग उन्होंने उत्तर दिया कुछ जासूसी साहित्य। एक और बात। सुबह में जल्दी जगने की बात। उनके अभिन्न

मित्र थे पहले राजकमल प्रकाशन के कर्ता-धर्ता ओमप्रकाशजी, बाद में उन्होंने राधाकृष्ण प्रकाशन की स्थापना की, से भोर में प्रायः उनकी बातें होती थीं। अपनी पुस्तक 'औरों के बहाने' में उन पर लिखा उनका संस्मरण बेहद उल्लेखनीय है। मैं 'लेट राइजर' हूं और इसके लिए हिंदी साहित्य में अब कुख्यात हो चुका हूं लेकिन जब कभी-कभार मैं अल्लसुबह जग जाता था तो राजेंद्रजी को फोन करता था। उधर से आवाज आती 'साले, इतनी जल्दी तुम कैसे जग गए। आज किसकी हत्या करनी है।' मैं कहता कि मेरी नींद अचानक खुल गई क्योंकि कल रात मैंने कम शराब पी थी और आपको इसलिए फोन किया कि अब साहित्य में कौन नया विवाद उठाने जा रहे हैं और किस बालिका का वध करने जा रहे हैं। वे कहते, दुष्ट वध तो तुम कर रहे हो। सबूत तो लाओ। मैं उनसे कहता, आप मौका तो दो, मैं आपके सामने Live Demonstration दूंगा। इस तरह प्रायः हमारी अनौपचारिक बातचीत हुआ करती थीं। राजेंद्रजी संपादकीय लिखते, जहां कहीं किसी लेखक के नाम या उसकी पुस्तक के नाम को लेकर अटकते, मुझे फोन करते। प्रायः मैं उनको निराश नहीं करता। यह सिलसिला अनवरत लगभग 25 वर्षों तक चला। पिछले दिनों एक रात सुबह 4:30 पर मेरी नींद खुली, मैंने उन्हें फोन मिलाया। घंटी बजती रही। उधर से कोई आवाज नहीं आई। बाद में मुझे अपनी गलती का अहसास हुआ। मुझे लगता है कि कुछ लोग इतने जीवंत और दीवाने आम होते हैं कि उनकी मृत्यु को सहजता से स्वीकार नहीं किया जा सकता। अपने निकटतम पड़ोसी, जिसका व्यवहार लगभग पाकिस्तान की तरह था और जिसने मुझे कभी अपने विश्वास में नहीं लिया, के बिछुड़ने का गम मुझसे ज्यादा किसको होगा। जहां-कहीं बाहर गोष्ठियों में मैं जाता था, लौटकर उन्हें पूरा वृतांत बताता। देश में या विदेश-यात्रा में रहू, मैं प्रायः उनको फोन करता था। यह मेरा दुर्भाग्य है कि वर्ष 2012 के अक्टूबर में मैं उरई (झांसी) में था एक संगोष्ठी में, जहां मुझे श्याम सुशील ने कवि कुबेर दत्त की अप्रत्याशित मृत्यु की दुखद सूचना दी। इस बार भी मैं 28 अक्टूबर को सागर में था। 29 अक्टूबर राजेंद्रजी के नहीं रहने की दुखद खबर मेरे साथ होटल में ठहरे कवि श्याम कश्यप ने दी। मैं भीतर से हिल गया।

राजेंद्रजी से जुड़े अनेक रोचक प्रसंग हैं। आरंभिक वर्षों में, जब से मैं 'हंस' के स्तंभ लिखने लगा, वे मुझे महानगर की गोष्ठियों में या बाहर की गोष्ठियों में अपने साथ ले जाते थे। एक बार हम लोग जयपुर जा रहे थे। हम बीकानेर हाउस पहुंच गए थे। राजस्थान परिवहन की बस से जयपुर जाने के लिए। मैं टिकट खिड़की पर था। पता नहीं राजेंद्रजी किस दुनिया में थे। अचानक उन्होंने बताया कि उनका पर्स (बैग), जिसमें उनकी पता वाली डायरी और कुछ पैसे थे, कोई ले गया। दौड़-धूप की गई लेकिन इसका नतीजा कुछ नहीं निकला। मन मार के हम जयपुर गए। गोष्ठी में हिस्सा लिया। जयपुर क्लब में हरीश भदानी के गाए गीत 'रेत है मन' की मुझे याद है। लवलीन हमें 'ज्ञानोदय' के पूर्व संपादक शरद देवड़ा के घर ले गई थी। यह यात्रा एक साथ दुखद-सुखद रही।

वस्तुतः राजेंद्र यादव के व्यक्तित्व की संरचना कई कठोर और कोमल द्रव्य और धातुओं से बनी थी इसलिए वे एक साथ ग्रंथिल, जटिल और संश्लिष्ट थे। 'हंस' के अपने संपादकीय से वे प्रायः विवाद उठाते थे और मुकदमे में फंसते थे। एक बार अपने संपादकीय में उन्होंने हनुमान को पहला आतंकवादी बताया। फिर क्या था हिंदू कट्टरपंथी उन पर टूट पड़े। लखनऊ और भोपाल की अदालत में उन पर मुकदमा दर्ज किया गया। उन दिनों मैं भारत सरकार, गृह मंत्रालय में इंटिलिजेंस ब्यूरो,

नई दिल्ली के कंट्रोल रूम में प्रस्थापित था। लगभग दिन के एक बजे उनका फोन आया 'दुष्ट तुम कहां हो? म.प्र. की पुलिस मुझे गिरफ्तार करने के लिए अक्षर प्रकाशन में आई हुई है। तुम कुछ जल्दी करो।' मैंने म.प्र. के डी.जी. कवि दिनेश जुगरान को फोन लगाया लेकिन वे नहीं मिले। फिर आई.जी. को फोन करके कहा कि आपकी पुलिस हिंदी के प्रसिद्ध साहित्यकार राजेंद्र यादव को गिरफ्तार करने के लिए आई है। इस केस में लखनऊ की एक अदालत से उन्हें पहले ही जमानत मिल चुकी है। ऐसी स्थिति में उस केस में उन्हें फिर कैसे गिरफ्तार किया जा सकता है। मेरा तर्क आई.जी. की समझ में आ गया। फिर उन्होंने म.प्र. पुलिस की टीम से बात करके उन्हें लौट आने का आदेश दिया। राजेंद्र यादव की रुकी सांस फिर चलने लगी। उन्हें बड़ी राहत मिली। मैंने उनसे कहा कि पुलिस पार्टी को पूरी-कचौड़ी और जलेबी खिलाकर विदा करें और उनसे पूछें कि उनमें कोई कविता या कहानी लिखता हो तो 'हंस' में प्रकाशनार्थ भेज दे। दूसरी घटना भी दिलचस्प है। राजेंद्रजी अपने विचार और लेखन में लगभग 'ऊलाड़' थे। वे संपादकीय निर्भीकतापूर्वक लिखते थे, अपने लिखे के परिणाम को जाने बिना। एक और बार फिर उन्होंने कुछ विवादास्पद लिख दिया। मुझे लगा कि उन पर फिर संकट के बादल मंडरा रहे हैं। अपनी प्रज्ञा से मैंने दिल्ली पुलिस को फोन करके उनकी व्यक्तिगत सुरक्षा की व्यवस्था करवा दी। पुलिस की एक टुकड़ी उनके घर पर आ गई, जो उनकी कार में बैठकर दरियागंज के दफ्तर में जाती थी। वापसी में उनके घर के ड्राइंगरूम में बैठकर उनसे मिलने-जुलने आने वाले लोगों की तलाशी लेती थी। राजेंद्रजी को प्रदत्त सुरक्षा की स्थिति असहज लगी। दूसरे दिन उन्होंने फोन पर मुझे डांटते हुए कहा 'दुष्ट, तुमने मुझ पर पहरेदारी लगवा दी है। मेरी 'प्रायवेसी' का भी थोड़ा ख्याल रखो।' तीसरे दिन उनके आग्रह पर पुलिस सुरक्षा हटा ली गई।

राजेंद्रजी में गहरी जिजीविषा थी अर्नेस्ट हेमिंग्वे के नोबेल पुरस्कार से पुरस्कृत उपन्यास 'दि ओल्ड मैन एंड दि सी' के नायक सेंटयागो की तरह लेकिन वे फंस गए ज्योति स्त्री विमर्श के दलदल में। मेरा अनुमान था कि वे आसानी से दस साल और जी सकते थे लेकिन वे प्रेम की बलिवेदी पर शहीद हो गए। राजेंद्र यादव हिंदी के बड़े 'स्टार' लेखक ही नहीं थे, जेनुइन लेखक भी थे। प्रेमचंद के 'हंस' को उन्होंने ऊंचाई पर पहुंचाया और कई कथा पीढ़ियों का निर्माण किया। यह अलग बात है कि अपने जीवन के अंतिम दिनों में वे मीडियाकर लेखकों से घिर गए थे, वे किसी लेखक के तेज को बर्दाश्त नहीं कर सकते थे।

अभी मैंने जिमिकंद (ओल) का अचार बनवाया है, मैं उन्हें भेजना चाहता था अब किसे भेजूं? हमारे बीच प्रायः आदान-प्रदान होता रहता था पटना के सुधा पेड़ा और सत्तू या करनाल से लाए गए मशरूम या लहसुन के अचार का। हर बार राजेंद्रजी मुझे धन्यवाद देते थे। राजेंद्रजी का असमय जाना सचमुच मुझे अच्छा नहीं लगा। हिंदी की दुनिया वीरान हो गई। उनके जाने के बाद उनके घर पर तो मैं कई बार गया लेकिन अभी तक अक्षर प्रकाशन, दरियागंज जाने का साहस अपने भीतर नहीं संजो पा रहा हूं। उनको श्रद्धांजलि देते हुए मुझे मीर का एक शेर याद आता है

'मीर के दीनो-मजश्हब को अब पूछते क्या हो उनने तो
क श्क ा खैंचा, दैर में बैठा, कब का तर्क-इस्लाम किया।'

राजेन्द्र यादव

दिनांक 27·7·92

प्रिय सदानन्द जी,

आपका पत्र मिला । आपकी टिप्पणी और अपने पत्र को मैंने दोबारा पढ़ा । माफ कीजिए, मुझे टिप्पणी में ऐसा कोई मुद्दा नहीं लगता जिसे लेकर कोई स्वस्थ बातचीत शुरू की जा सके । बच्चनें जी के सारे लेखन में या "दशद्वार से सोपान तक" पुस्तक में क्या यही दो-चार बातें सबसे महत्वपूर्ण हैं ? चार सौ-पांच सौ पन्नों की किताब में कुछ और भी तो महत्वपूर्ण कहा गया होगा ? 'फ्रेलिटी' का शाब्दिक अर्थ कमजोरी, विचलन, अस्थिरता कुछ भी हो सकता है लेकिन शेक्सपियर का पात्र जिस घृणा से 'फ्रेल' शब्द को बोलता है वहां छिनरपन के अलावा कुछ और हो ही नहीं सकता । संदर्भों से काटकर इस तरह अर्थ निकालने में शायद हम अपना अज्ञान ही प्रकट करते हैं । जहां तक मुझे याद पड़ता है कि यह वाक्य हैमलेट ने अपनी उस मां के लिए कहे हैं जो पिता के मरते ही चाचा की गोद में जा बैठती है । इसी तरह शूर्पणखा वाली बात शुद्ध विनोद में कही गई है । साहित्य को इतना मनहूस और गम्भीर न बनाइए जहां विनोद की कोई गुंजाइश ही न रहे ।

मैं अभी भी नहीं समझता कि इस टिप्पणी को "हंस" में या कहीं भी क्यों आना चाहिए ? मगर सिर्फ अपनी स्मार्ट बातों से छोटी-मोटी हलचल मचाना आपका उद्देश्य हो तो ज्यादा गहरे मुद्दे उठाइए । अजिताभ की बेटी के जन्म पर बच्चन जी का दुखी होना भारतीय पुरुष के संस्कार हैं और प्रेमचंद द्वारा अपनी बेटी के ऊपर आए भूत को ओझा द्वारा झड़वाने के मुकाबले कम आपत्तिजनक हैं । जिन बातों को आज हम आसानी से स्वीकार या अस्वीकार कर लेते हैं उन्हें ऐतिहासिक संदर्भों में देखना चाहिए कि क्या सौ-पचास साल पहले वाला आदमी ठीक वैसा ही कर सकता है ? अगर अभी कोई टिप्पणी आवश्यक है तो उसे लिखना चाहिए आपकी समीक्षा बहुत शीघ्र आएगी । आशा है स्वस्थ और सानन्द हैं ।

आपका

(राजेन्द्र यादव)

श्री सदानंद शाही
एम·आई·जी·-137
राप्तीनगर, प्रथम चरण
गोरखपुर-273003

AKSHAR PRAKASHAN PVT. LTD.
Regd. Office : 2/36, ANSARI ROAD, DARYA GANJ,
NEW DELHI-110002 Tel. 270321, 270377 Res. 655617

नए लेखक से बराबरी पर बहस करने की सामर्थ्य

सदानंद शाही

राजेंद्र यादव ने 1986 से हंस पत्रिका का संपादन अपने हाथ मे लिया और तब से निरंतर हंस निकालते रहे। हंस का अनवरत प्रकाशन हिमालय जैसे संकल्प की मांग करता है। राजेंद्र यादव के आलोचकों का कहना था कि कहानीकार के रूप में चुक जाने के बाद उन्होंने हंस का प्रकाशन शुरू किया। यह ठीक है कि हंस के प्रकाशन से राजेंद्र यादव का अपना लेखन काफी प्रभावित हुआ लेकिन नयी रचनाशीलता को विकसित, प्रोत्साहित और स्थापित करने में हंस की भूमिका बेहद महत्वपूर्ण रही है। तीन दशकों की सुदीर्घ यात्रा में हंस ने कम से कम कथाकारों की तीन पीढ़ियों के विकास में योगदान दिया।

'हंस' पत्रिका जब शुरू हो रही थी तब एक एक कर बड़े घरानों से निकालने वाली साहित्यिक पत्रिकाएं बंद हो रही थीं। धर्मयुग, साप्ताहिक हिंदुस्तान, दिनमान ही नहीं कहानियों की पत्रिका सारिका भी बंद हो चली थी। इन सभी पत्रिकाओं की जगह अकेले हंस ने भरी। सच बात तो ये है कि हंस ने केवल खाली जगह नहीं भरी बल्कि अपने लिए अलग से जगह बनाई। राजेन्द्र यादव ने हिन्दी में मौजूद सामंती चेतना से लगातार संघर्ष किया। हंस ने स्त्री और दलित लेखन को प्रकाशित और स्थापित ही नहीं किया बल्कि इसके लिए एक आंदोलन जैसा चलाया। राजेंद्र यादव ने यह करके साहित्य के दायरे को विस्तारित ही नहीं किया बल्कि उसके सरोकारों को भी फिर से परिभाषित किया। हंस के माध्यम से राजेंद्र यादव जीवन भर पिछड़ी सामंती चेतना से संघर्ष करते रहे।

राजेंद्र यादव ने अपने संपादकीय दायित्व का किस निष्ठा और समर्पण के साथ निर्वाह किया इसका गवाह राजेंद्र जी का 27.7.92 को मुझे लिखा यह पत्र है।

राजेंद्र यादव के पास हंस में छपने के लिए मैंने एक टिप्पणी भेजी थी। हरिवंश राय बच्चन की आत्मकथा का चौथा भाग दशद्वार से सोपान तक को सरस्वती सम्मान मिला था। सरस्वती सम्मान समस्त भारतीय साहित्य में पिछले दस वर्षों में प्रकाशित किसी श्रेष्ठ कृति को दिया जाता है। मुझे दश द्वार से सोपान तक पढ़ कर थोड़ी निराशा हुई थी। एक तो बच्चन जी की आत्मकथा के पहले तीन खंडों की तुलना में चौथा कमजोर लगा था। दूसरे इसमे स्त्रियों के बारे में कुछ ऐसी टिप्पणियां थी जो मुझे नागवार लगी थीं। मैंने अपनी आपत्ति हंस के संपादक को भेज दी। मुझे लग रहा था स्त्री अस्मिता के लिए अनथक संघर्ष चलाने वाले राजेंद्र यादव को टिप्पणी पसंद आएगी। लेकिन थोड़े दिन बाद वह टिप्पणी मेरे पास लौट आई। साथ में राजेंद्र जी का छोटा सा पत्र था। जहां तक याद आ रहा है उसमे राजेंद्र जी ने तीन चार पंक्तियों में मेरे तर्कों से असहमति जताते हुए उसे छापने

से मना कर दिया था। मैं राजेंद्र जी के तर्कों से सहमत नहीं था। मैंने बहस करते हुए एक और चिट्ठी लिखी और उसे राजेंद्र जी के पास दोबारा भेज दिया। मुझे दोबारा उत्तर की कोई उम्मीद नहीं थी लेकिन अबकी राजेंद्र जी का अपेक्षाकृत लंबा पत्र मिला। राजेंद्र जी के पत्र के बावजूद मैं अपनी बात पर तब भी कायम था और मैं अब भी हूं। लेकिन राजेंद्र जी की इस संपादकीय ईमानदारी और निष्ठा ने मुझे कायल बना दिया। उन्होंने समय निकाल कर मेरे जैसे नौसिखुए लेखक को न केवल पत्र लिखा बल्कि जब भेट हुई तो बड़ी देर तक मुझसे बाकायदा बहस की। उन्होंने अपने बड़े होने के विशेषाधिकार से मुझे समझाने बुझाने की कोशिश नहीं की। अपने विचारों पर दृढ रहते हुए नए लेखक को बराबरी के स्तर पर बहस के लिए आमंत्रित ही नहीं लगभग उद्वेलित किया। हिंदी के आचार्यों से फरक राजेंद्र जी के इस व्यवहार ने मुझे काफी प्रभावित किया और काफी कुछ बदला। राजेंद्रजी के पत्र और उस बहस से मेरी समझदारी और विचार प्रक्रिया पर काफी असर पड़ा। नए से नए और लगभग अनाम लेखक से बराबरी बरने की इस सामर्थ्य से राजेंद्रजी ने कितने लेखकों की चेतना में हलचल पैदा की होगी, कितनों की सोच को झकझोरा होगा इसका अनुमान लगना कठिन है। मुझे खेद है की उस पत्रचार का एक ही पत्र मेरे कागजों में सुरक्षित मिला पाया।

अमर होकर तो आया नहीं : राजेंद्र यादव

संजीव

यह जानते हुए भी कि मौत तो एक दिन आनी ही आनी है, हम उस डरावने सच से कन्नी काटते रहते हैं। राजेंद्रजी के न रहने पर इस सच का कुछ ज्यादा ही अहसास होने लगा है। गुजरा महीना राजेंद्रजी के साथ-साथ मेरे कई मित्रों, अंतरंगों का विछोह दे गया। बिज्जी, भाई प्रेम भारद्वाज की पत्नी लता, अजय कुमार (जौनपुर) के अनुज शिरीष सिंह और भी कितनी मर्मांतक मौतें। मन किसी तरह मानता नहीं। मगर आज का यह संस्मरणात्मक आलेख सिर्फ राजेंद्रजी को समर्पित है- वह इसलिए कि भी 'बात बोलेगी' स्तंभ उन्हीं का दिया हुआ था, जो अब मेरे साथ-साथ है। वैसे तो राजेंद्रजी से जुड़ाव की अपनी कई जड़ें हैं, रह-रह कर याद आती हैं, वे बातें, पर आज कुछ विरल बातें मेरे साथ राजेंद्रजी कभी-कभी मौत के प्रति अपने विचारों का साझा करते....

'अमर होकर तो आया नहीं। मेरे बाद 'हंस' का क्या होगा?' इसी भय के तहत कभी उन्होंने 'आत्मतर्पण' स्तंभ 'हंस' में प्रारंभ किया था जिसमें व्यक्ति खुद को मृत मान कर अपना 'तर्पण' करता है। मुझसे भी लिखने को कहा, 'स्वयं प्रकाश ने लिख डाला, सभी लिख रहे हैं, तुम भी अब लिख ही डालो।' मैंने कहा, 'जहां मुझसे ज्यादा योग्य और महत्वपूर्ण व्यक्ति रोज ही मर रहे हों, मेरी अपनी मौत, मुझे उल्लेख्य कतई नहीं लगती। यह आत्मविलाप क्यों...? मेरे मरने के बाद भी दुनिया के क्रिया-कलाप अपने ढंग से चलते रहेंगे, फर्क सिर्फ इतना पड़ेगा कि उसमें मैं कोई हस्तक्षेप नहीं कर पाऊंगा.... जीते जी जो किया, न किया, मरने पर कौन-सा तीर मार लूंगा।' कुछ देर के लिए वे बुरा मान लेते, जैसे मैं उन्हें समझ नहीं पा रहा। वाकई तब उन्हें समझ नहीं पा रहा था, बाद में धीरे-धीरे जो समझ पाया, वह यह कि मृत्यु भय से भी वे लगातार जूझते रहे। और इस भय के बावजूद कभी-कभी लगता 'जिंदगी और जोंक' के नायक की तरह जिंदगी से चिपके हुए हैं। काफ्का उनके प्रिय लेखक थे जो पिता के भय से आक्रांत रहे... राजेंद्रजी उस तरह आक्रांत न भी रहे हों पर उससे अब्सेस्ड जरूर रहे खासकर आखिरी बीस सालों में। यह मृत्यु भय सफेद आइसबर्ग-सा विशाल काले समुद्र में तैरता-दिखता है, पर जो दिखता है वह मात्र 'टिप ऑफ द आइसबर्ग है, जो नहीं दिखता वह उससे कई गुना ज्यादा है और वह कितने-कितने रूपों में उन्हें प्रभावित करता रहा, इसका आकलन कर पाना मुश्किल है। रचनाओं के माध्यम से इसे समझने की कोशिश करते हैं

सबसे पहले अपनी मौत पर विनोद भरा उनका आत्मतर्पण- 'हम न मरैं मरिहैं संसारा।' उनके मित्र कम्युनिस्ट मित्र मनमोहन ठाकौर ने कुछ अखबारी रपटों की चिंदियां भेजी थीं, कुछ उन्होंने बटोरी थीं, जिनमें 'राजेंद्र यादव' नामक किसी शख्स की मौत होती है- स्थान, काल, परिस्थितियां और पात्र

अलग-अलग पर नाम वही- राजेंद्र यादव!

'मुड़-मुड़ कर देखता हूं' का एक अंश है- 'दुर्घटनाओं पर तो किसी का वश नहीं है, मगर न मृत्यु भय, कभी दूर-दूर तक चिंता की चीज रही, न डर का हिस्सा। डर सिर्फ एक रहा, दीन और दयनीय बन जाने का। मौत तो जिस दिन होगी, वह हो जाएगी- अपने आप या दूसरे के हाथ। अफसोस यही है कि बहुत कुछ अधूरा और बिखरा छूट जाएगा।'

अंतिम कुछ सालों में इसी 'बहुत कुछ अधूरा और बिखरा' को संजोते रहे- अधूरे उपन्यास, कहानियां- अन्य रचनाएं?

एक बार टुंडला के पास भीषण ट्रेन हादसे में डब्बे पर डब्बा था, और उस पर अकेले बैठकर राजेंद्रजी पाइप पी रहे थे तो प्रियंवद अपनी भाभी को ढूंढ़ते हुए आए और जलावतन को जलवा देखा और साथ लिवा गए।

कानुपर के संगमन में आग लगने की बहुत छोटी-सी घटना थी, दो-चार को छोड़कर सब भाग चले थे, पर वे बैठे रहे।

अपनी शारीरिक सीमा, पर मजबूत काठी में उन्होंने कुछ जोखिम भरी यात्राएं कीं। यह सारा कुछ उनकी मौत से हाथ आजमाई जैसा था। कई बार लोगों के आक्रमण हुए।

मृत्यु का एक रूप उनकी कल्पना में इस तरह का था 'मरघटों के साथ कुछ अजीब डरावनी तस्वीरें हम सबकी चेतना में बहुत गहरे पैठी हुई हैं, जैसे सांप की तरह एक मटमैली नदी, मनहूस और उजाड़, पीपल और पाकड़ के पेड़ लाखों साल पुराने कछुओं जैसे बेडौल टीले, कुछ पेड़ों की नंगी शाखों पर घुस्सा दिए सिकुड़े, बैठे चौकन्ने गिद्ध, अदृश्य जगहों से पृष्ठभूमि, संगीत देते सियार, कुंडली मारे राख में सोते कुत्ते....।'

मुझसे (संभवतः रवींद्रनाथ की) कोई पंक्ति बताने- 'मौत हमारी जिंदगी के साथ ही आती है। उसके चंगुल से कितने दिन छीन पाते हैं, वही हमारा जीवन है।'.... या शायद ऐसा ही कुछ।

यमुनानगर में आर.एस.एस. वाले जब 'राजेंद्र यादव गो-बैंक', 'राजेंद्र यादव वापस जाओ' का नारा लगाते हुए विरोध प्रदर्शन कर रहे थे, तब भी मैं उनके साथ था, और सृजन की 'हंस' में प्रकाशित कहानी 'कामरेड का कोट' पर हुए हिंदी कथा साहित्य के सबसे लंबे विवाद के वक्त भी...?

दरअसल हमने और उन्होंने कुछ साझे गुप्त अभियान छेड़े थे जिनमें 'कामरेड का कोट, पूर्णतया था 'जनवाद और सेक्स', पर बहसें तथा 'स्नोवबार्नो' प्रकरण आदि अंशतः। 'जनवाद और सेक्स' पर बहस का मतलब यह था कि जनवाद हमारा विवेक होता है और सेक्स एक दैहिक जरूरत। सेक्स का सेंटिमेंट इतना प्रबल होता है कि अकसर हमारे जनवाद के विवेक को अपनी गुंजलक में ले लेता है। राजेंद्रजी जनवादियों के छद्म को निष्पत्ति तक पहुंचाने में अकसर अंधी गली में आकर ठिठक जाते। दोनों हाथ में लड्डू कब तक बिना टकराए निभ पाएगा। उसका कोई रास्ता हम नहीं खोज पाए। उनका पलड़ा सेक्स की ओर बराबर झुका रहता। मैं किंचित आदर्शवादी था हालांकि यह मुझे भी मालूम न था। मेरे हिसाब से आज भी यह मानसिक, दैहिक समस्या है जो सामाजिक आग्रहों, अंतर्विरोधों में उलझकर रह गई है। बिना रेशनल बने, हम इससे उबर नहीं सकते और हमारे विवेक और रेशनलिटी को उद्दीपन का कोई ज्वार कभी भी दुर्बल बनाकर ध्वस्त कर सकता है। कोई संयम, कोई अंकुश, कारगर नहीं होता....। सो तनिक व्यावहारिकता जरूरी है।

हमारे उनके संग-साथ में सबसे बड़ा और गुप्त अभियान 'कामरेड का कोट' का था। मोटे तौर पर कहानी एक जनवादी-साम्यवादी राजनीतिक पार्टी के सिद्धांत और व्यवहार के फांक पर उंगली रखती थी। गरीबी और तंगदस्ती के बावजूद पार्टी के निष्ठावान कार्यकर्ता कमलाकांत पाठक पार्टी के वर्ग संघर्ष के सिद्धांतों पर अमल करते हुए भीषण ठंड की रात पार्टी मीटिंग में आते हैं। गांव के कुछ भूमिहीन किसानों की जमींदार ने हत्या करवा दी है। आगे पार्टी का क्या दिशा-निर्देश है, इसी प्रत्याशा में कमलाकांत और दूसरे लोग वहां आए हुए हैं। लिट्टी-चोखा का भोज चल रहा है। समझौतावादी कामरेड कोई भी दिशा-निर्देश देने में असफल रहते हैं बल्कि वे पार्टी वर्करों की आग पर ही पानी डालने का उपक्रम करते हैं। चूंकि पार्टियां अपनी पार्टी लाइन से भटक रही थीं सो हमारी चोर-इच्छा थी कि कहानी के बहाने पार्टी-लाइन पर बहस छेड़ी जाए। धीरेंद्र अस्थाना के एक पत्र के 'हंस' में प्रकाशन के साथ ही बहस छिड़ गई। सी.पी.एम. और कुछ कुछ सी.पी.आई (खगेंद्र ठाकुर आदि) ने इसे अपने विरुद्ध मान लिया और उन्हें लगा, यह कोई कहानी नहीं, यह सी.पी.आई.एम. एल. (जो उनमें से कइयों के अनुसार कांग्रेस या प्रतिक्रियावादी शक्तियों से मिली हुई है) का सी. पी.एम. पर सीधा प्रहार है। यहीं आकर बहस दलदल में फंस गई। अधिसंख्य सी.पी.एम. लेखकों और कार्यकर्ताओं का मानना था कि ऐसी कहानी को हंस में छपना ही नहीं चाहिए था और कि राजेंद्र यादव ने इसे 'हंस' में प्रकाशित कर पार्टी को बदनाम करने की कोशिश की है जो अक्षम्य है। अपराध तब और भी संगीन हो उठता है जब राजेंद्र यादव जनवादी लेखक संघ के उपाध्यक्ष भी हैं। हंस में पक्ष-विपक्ष में लंबे समय तक पत्र छपते रहे। यही नहीं यह विवाद 'हंस' के पन्नों से छिटककर पूरे जनवादी खेमे में फैल गया। पक्ष में भाकपा (माले) और उस धड़े के लेखक और विपक्ष में माकपा, भाकपा आदि।

कोलकाता में जलेस की राष्ट्रीय कार्यकारिणी में समर्पित वाम आलोचक शिवकुमार मिश्र ने राजेंद्रजी पर कड़ा प्रहार किया। राजेंद्रजी ने उनका जवाब मीर के एक शेर से दिया। अंत में इसराइल ने मीर के ही एक शेर से मेल-मिलाप कराने की कोशिश की। शिवकुमार मिश्र और राजेंद्रजी दोनों रोने लगे।

इधर आसनसोल की प्रेमचंद जयंती में भैरव प्रसाद गुप्त और मार्कण्डेय ने मुझे प्रेमचंद की कहानियों की 'अतिरंजनापूर्ण व्याख्या' के लिए डांटा। उनके एक मंत्री महोदय ने तो यहां तक चुनौती दे डाली कि आप क्या कहना चाहते हैं, यह कि आज अगर प्रेमचंद जीवित होते तो, नक्सलाइट होते! मैंने विन्रमतापूर्वक निवेदित किया कि यह अंश, 'इन महाजनों और पूंजीपतियों से गरीबों (किसानों, मजदूरों) के हितों की अपेक्षा करना वैसा ही है जैसे कुत्ते से चमड़े की रखवाली कराना....?

अंश प्रेमचंद के अधूरे उपन्यास 'मंगलद्वीप' का है जिसे उनके पुत्र अमृतराय ने 'कलम का सिपाही' में उद्धृत किया है। सारे हंगामे की जड़ में थी कहानी 'कामरेड का कोट'।

रात को मैं और संजय आसनसोल स्टेशन पहुंचे जहां कोलकाता के उस विवाद के बाद राजेंद्रजी कालका मेल से लौट रहे थे। दो मिनट को रुकती थी गाड़ी। हमने हाल-चाल पूछा-बताया बूझा... ..। हंगामा उग्र से उग्रतर होता गया। आग में घी डालते रहे लोग। 'कामरेड का कोट' विवाद के चलते हल्की-फुल्की धमकियां तो आए दिन मिला करतीं मगर एक धमकी राजेंद्रजी को जान से मार डालने की भी मिली, जिसकी स्पष्ट धमक को हम दोनों ने महसूसा। चूंकि इस गुप्त अभियान के

हमीं दो साझीदार थे, सो निर्णय भी हमें ही लेना था। उन्होंने मुझसे कहा, बहुत हो गया। तुम्हीं ने शुरू किया, तुम्हीं समापन करो। मैंने उस धमकी का जवाब 'हंस' में दिया 'विजय प्रकाश- दिल्ली' के नाम से। विवाद की यह अंतिम चिट्ठी थी लोग भांपते रह गए कि यह विजय प्रकाश कौन है, मगर राजेंद्रजी, संजय (जिन्हें मैंने बता दिया था) और मेरे सिवा कोई जान न पाया।

आदर और घृणा, सम्मोहन और विकर्षण के अजीब विरोधाभासों के केंद्र थे राजेंद्रजी। हो सकता था उन्हें अपना परम हितैषी मानकर कोई उनके साथ चल रहा है और अगले ही कुछ पलों में वे उसे केंद्र से निकालकर परिधि या हाशिए पर डाल दें, या उसके प्रति कोई ऐसी टिप्पणी कर बैठें कि वह आहत हो जाए। फिर भी उनसे लाभ-लोभ प्राप्त करने या सौख्य-सम्मानवश बहुतेरे जुड़ते रहे, खासकर औरतें, इनमें से बचे वे, जिन्होंने उनसे एक दूरी बनाए रखीं, वरना...। मुझे लगता है, चरित्र की यह विशेषता, शुरू से रही। मन्नूजी, मीताजी और भी किनके.... इनके प्रति हुए अन्याय तो जगजाहिर हैं मगर जीवन के अंतिम दिनों में बोलकर लिखवाई गई किताब में अपने कई अच्छे दोस्तों को उन्होंने खामखा आहत किया जिन्होंने उनके लिए बहुत कुछ किया था। मुझे याद है, कोलकाता में मैंने मनमोहन ठाकौरजी से मिल लेने की बात की, तो तैयार न हुए। आम तौर पर स्त्री सौंदर्य उन्हें प्राणवंत करता था, मगर उनको लाख चाहने वाली औरत जवान और सुंदर न हुई तो मुड़ कर या आंख उठाकर ताकते भी न थे।

बहुत धीरे-धीरे पंजे दबा-दबा कर आई थी मौत। वे उसका आना देख रहे थे। प्रतिपल प्रतिक्षण। अंतिम दिनों में उनकी स्थिति गिरिधर की कुंडली, 'टूटे नखरद कहरी'.... का जीवंत प्रतीक थी। 'हंस' के उपहार समेत जो भी पुस्तकें लिखी, लिखवाई, सब कूड़ा....। निरुपाय हो गए थे या ढीठ...! संत न थे, पक्षपात पहले भी करते थे पर 'पक्षाघात' तो नहीं हुआ था उनका। नाक से श्वास का यंत्र निकाल फेंका- बहुत हो चुका!' अंतिम वाक्य था संभवतः। इतने विरोधाभासों के बावजूद सम्मोहन का वह रहस्य.... कि उनके बिछड़ते ही कई अनाथ-उदास हो गए। बहुत सोचता हूं तो मुझे वर्षों पहले इन पर की गई अपनी टिप्पणी ही पुनः याद आती है 'देवमलाई एक यूनानी किरदार है। जादूगरनी। वह अपनी महबूब हस्ती को रात को तिलस्माती पलंग पर बड़ा करके सुलाती है। रात के संग-साथ के बाद दिन में उसे छोटा करके वापस बटुए में रख लेती है। इस खींचतान में एक दिन उसके महबूब की मौत हो जाती है। राजेंद्रजी जैसे बुभुक्षित आत्मा कहीं वही देवमलाई तो नहीं। जो जिंदा रहा, वह तो उनका जादू था, पर जो मर गया वह क्या था!'

(लेखक प्रख्यात वरिष्ठ कथाकार हैं)

कथाओं में लोक के सिरजनहार : बिज्जी

सूरज पालीवाल

राजस्थानी लोककथाओं के अद्‌भुत रचनाकार विजयदान देथा उर्फ बिज्जी का एक बड़ा अप्रितम योगदान यह रहा कि उन्होंने राजस्थानी लोककथाओं से हिंदी के पाठकों को परिचित कराया। उनके रचनात्मक योगदान पर प्रकाश डाल रहे हैं कथा आलोचक सूरज पालीवाल :

आधुनिक राजस्थानी गद्य का मानक देखना हो तो वह बिज्जी के गद्य में मिलेगा। बातपोशी की पुरानी परंपरा को आधुनिक सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति में प्रस्तुत करने का काम बहुत जटिल था, लेकिन इसे सरल और सहज रूप में प्रस्तुत करना था, यह काम बगैर लोक से गहरे जुड़ाव के संभव नहीं हो सकता था। बिज्जी के पास गहन सामाजिक अनुभव थे और जीवन के वे संघर्ष भी जो आदमी को लोक से जोड़ते हैं, दोनों के मिश्रण से उन्होंने लोक कथाओं को नए गद्य और नए शिल्प में प्रस्तुत किया। इस वजह से वे लगातार उस विवाद में घिरे रहे, जो उन्हें कथाकार मानने को बिल्कुल भी तैयार नहीं था। विरोधियों का मानना था कि राजस्थानी गद्य जो हिंदी से भी बहुत पुराना है, किस्से-कहानियां तो उसकी हैं, बिज्जी ने तो केवल उन्हें लिख भर दिया है। ऐसा आरोप लगाने वालों को यह बात बिल्कुल समझ में नहीं आती कि लिखना ही तो कला है, बाकी कहानियां तो लोक में सर्वत्र बिखरी पड़ी हैं। लेखक का विवेक तो उन कहानियों के सूत्रों का चयन और उनका प्रस्तुतीकरण करने में ही प्रगट होता है। बिज्जी ने यही काम मन से किया और उन लोगों की बिल्कुल परवाह नहीं की, जो उनकी मौलिकता पर प्रश्न लगाते रहे। यही कारण है कि जोधपुर के बहुत कम मंचों पर बिज्जी दिखाई देते थे। पर हिंदी प्रदेश का ऐसा कोई लेखक नहीं था, जो जोधपुर आकर बोरूंदा न जाए। बिज्जी से बगैर मिले किसी लेखक की साहित्यिक यात्रा पूरी नहीं होती थी। यह लगाव और आकर्षण नकल करने वाले लेखक के प्रति नहीं होता। यह केवल उसी लेखक के प्रति होता है, जो अपने लोक के प्रति ईमानदार बना रहता है। बिज्जी आजीवन अपने लोगों से अलग नहीं हुए इसलिए बोरूंदा छोड़कर कहीं नहीं गए। वे चाहते तो जोधपुर, जयपुर या दिल्ली में रह सकते थे पर अपनी धरती से अलग रहना उन्होंने कभी नहीं स्वीकार किया। राजस्थान और राजस्थानी भाषा में जैसे-जैसे विरोध होता रहा, वैसे-वैसे हिंदी प्रदेश में उनकी ख्याति और बढ़ती गई।

जोधपुर उनका घर था। उनके प्रिय पुत्र कैलाश कबीर जोधपुर ही रहते हैं। उनके अलावा उनके अपने बालसखा मरुधर मृदुल और कोमल कोठारी भी तो जोधपुर ही रहते थे। अपने घर यानी कैलाश कबीर के आवास में वे केवल अपने परिवार को संभालने आते थे बाकी समय तो अपने मित्रों के

बीच ही गुजरता था। मरुधर मृदुल विधिवेत्ता थे तो कोमल कोठारी लोक कलाओं के असली संग्राहक, लेकिन दोनों बहुत पढ़ाकू। मन की किताबें मिल जाएं फिर क्या? बिज्जी का साहित्यिक समाज व्यापक था, जोधपुर और राजस्थान के अलावा बाहर उनकी ख्याति थी इसलिए वे हर नए और अच्छे साहित्य और साहित्यकार दोनों से जुड़े हुए थे। जिन लोगों ने बिज्जी को दिल्ली में देखा है, वे भूले नहीं है ठेठ राजस्थानी वेशभूषा में महानगर की सड़कें नापते बिज्जी। शाम को काफी हाउस में मजमा जमाते तथा रात को राजस्थान भवन में दोस्तों के साथ दुनिया जहान में खोए बिज्जी। मित्र और पाठक संग साथ हों तो दुनिया को अपनी तरह से चलाना और उसके बारे में बताना उन्हें आता था। जो आदमी मंच के माइक को तोप का मुंह मानकर डरता हो वही आदमी व्यक्तिगत बातों में ऐसा डूब और डुबा दे कि लगे दुनिया में बिज्जी से अपना और कोई नहीं है। किस्से लिखना ही उन्हें नहीं आता था बल्कि किस्से सुनाकर अपना बनाने में भी वे सिद्धहस्त थे।

बिज्जी के पास लोक है और लोक के पास बिज्जी हैं, यह मात्र संयोग ही नहीं है। लोक हरेक आदमी के पास है, पर शर्त यह है कि वह उस लोक को कितना ग्रहण करता है। कुछ लोग हैं कि सारे जीवन लोक में रहते हैं लेकिन एक निश्चित दूरी हमेशा बनाए रहते हैं। लोक से दूरी बनाकर लोक को रचा नहीं जा सकता। बिज्जी का लोक बहुत व्यापक है इसलिए वह सामान्य घटना को भी लोक हृदय की मार्मिक अभिव्यक्ति के रूप में प्रस्तुत कर देते हैं। उनकी कहानी 'अनेकों हिटलर' का आरंभ और अंत देखने से यह बात और स्पष्ट हो जाएगी। कहानी के आरंभ में कहा गया है 'वे पांचों ही इनसान थे। कोई उम्र में छोटा, कोई बड़ा। सब तीस और पचास के बीच में थे। सबसे बड़े के बालों में कहीं-कहीं सफेदी झांकने लगी थी। बाकी सभी के बाल एकदम काले थे। चेहरे इनसान जैसे ही थे। आंखों की जगह आंखें। नाक की जगह नाक। दांतों की जगह दांत। हाथ-पैरों की जगह हाथ-पैर। तांबई रंग। सबके सफेद पगड़ियां। कोई नई। कोई पुरानी। लट्ठे के सफेद चोले और सफेद ही धोतियां। कानों में सोने की सांकलियां और मुरकियां। तीन के गले में काले डोरे से बंधी सोने की मूरतें। सभी इनसान की बोली बोलते थे और इनसान की ही चाल चलते थे।' और कहानी के अंत की पंक्तियां हैं 'हां, वे पांचों ही इनसान थे। इनसान की बोली बोलते थे और इनसान की ही चाल चलते थे।' कहानी के आरंभ में 'वे पांचों ही इनसान थे' और अंतिम पंक्तियों में 'हां, वे पांचों ही इनसान थे' लिखकर बिज्जी हिटलर की कहानी नहीं बल्कि इनसानों की कहानी कहना चाहते हैं इसलिए उनका जोर इनसान शब्द पर ज्यादा है। हिंदी में इस प्रकार की कहानी लिखने का प्रचलन नहीं है। यह कहानी किस्सागोई की तर्ज पर लिखी गई है, जिसमें श्रोताओं की तरह पाठकों से सीधा संवाद है। संवाद के बिना कहानी बांधे नहीं रख सकती। पूरी कहानी इन्हीं इनसानों की करतूतों के बारे में बताती है। गांव के किसान जोधपुर में ट्रैक्टर खरीदने आते हैं। ट्रैक्टर खरीदकर अतिरिक्त उत्साह के साथ जब वे अपने गांव लौट रहे होते हैं तो सड़क पर उन्हें साइकिल सवार मिलता है, जो अपनी धुन में तेज गति से साइकिल चला रहा है। वह राजस्थान का तेज साइकिल चालक था जो अखिल भारतीय साइकिल दौड़ प्रतियोगिता की तैयारी कर रहा था पर किसानों को लगता है कि यह उनके नए ट्रैक्टर से आगे निकलने की चुनौती दे रहा है। आधी से ज्यादा कहानी साइकिल चालक और ट्रैक्टर पर बैठे किसानों की क्रिया-प्रतिक्रिया से आगे बढ़ती है। साइकिल सवार अपनी मस्ती में अपनी प्रतियोगिता की तैयारी कर रहा है लेकिन किसानों के मन में उसकी इस

नादानी ने हिंस्र हिटलर को पैदा कर दिया है। बिज्जी अपनी कला से इस कहानी को और अधिक मार्मिक बनाने के लिए साइकिल चालक की आंखों में अपनी प्रियतमा का चेहरा उतार देते हैं, एक तो साइकिल दौड़ प्रतियोगिता की तैयारी और दूसरे अपनी प्रियतमा को अपनी खुशी का संदेश देने की आतुरता। इसलिए वे लिखते हैं 'तोप के गोले के नाईं ट्रैक्टर दौड़ रहा था। नंगे सिर वाले साइकिल सवार के पांवों में जैसे बवंडर ने शरण ले ली हो। प्रियतमा का चेहरा उसकी आंखों के आगे जगमगा रहा था। फासला बढ़ता गया। न उसके फेफड़े फटे और न उसकी सांस टूटी।' प्रतिस्पर्धा बढ़ती जा रही थी। एक ओर साइकिल सवार तेज और तेज गति से साइकिल चला रहा था तो दूसरी ओर नए ट्रेक्टर पर बैठे पांचों किसान पूरी ताकत के साथ उसे दौड़ा रहे थे। किसानों ने यह मान लिया था कि 'इस नंगे सिर वाले दोगले ने तो आज अपनी पगड़ियों को धूल चटा दी।' इसलिए वे लगातार इस कोशिश में थे कि साइकिल सवार को पीछे छोड़ दें। लेकिन 'साइकिल सवार शहरी छोकरे की आंखों के सामने एक दूसरा ही ब्रह्मांड जगमगा रहा था। ठौर-ठौर प्रियतमा के चेहरे झिलमिलाने लगे-इने-गिने तारों में, दरख्तों और झाड़ियों में, टीलों में, सामने जा रहे ट्रैक्टर में, ट्राली में। आज उसकी परख हो जानी है। अगर ट्रेक्टर से आगे निकल गया तो जल्दी ही ब्याह कर लेगा। वह मान जाए तो कल। नहीं तो परसों। तरसों। जब भी वह चाहे।' न जाने कब यह प्रतिस्पर्धा साइकिल सवार और ट्रैक्टर की न होकर इनसान के आदिम स्वभाव में बदल गई। किसानों को जो साठ हजार के नए ट्रैक्टर पर बैठे थे यह स्वीकार नहीं था कि साइकिल सवार उनसे आगे निकल जाए। पराजय के भय से 'उन्होंने छोटे भाई को एक नई जुगत बताई, पास आते ही ट्रैक्टर उसकी ओर घुमा देना। वह हरामी भी क्या सोचेगा कि...!' और वही हुआ। साइकिल सवार को ट्रैक्टर के पहिए के नीचे कुचलकर वे हँसे और कहा 'मां का खसम, ट्रैक्टर से आगे निकलने की जुर्रत कर रहा था !' एक निरपराध साइकिल सवार की बेवजह हत्या कर दिए जाने पर बिज्जी लिखते हैं 'उधर सड़क पर एक चित्र किसी ऊंचे पारखी की बाट जोह रहा था। लाल खून के बीच सफेद मगज। बोतल के टुकड़े। एक आदमी की लाश। सफेद निकर। फीरोजी बनियान। ठौर-ठौर खून के धब्बे। सपनों का कचूमर। मोह-प्रीत के रेले। चित्र कोई बुरा नहीं था। पर...पर दोनों महायुद्धों के चित्र, हिरोशिमा-नागासाकी के चित्र, वियतनाम के चित्र, बांग्लादेश के चित्र...इस नाकुछ चित्र से बहुत-बहुत बड़े थे। बहुत-बहुत मोहक। दिलकश। यह चित्र उनका मुकाबला तो नहीं कर सकता, पर गंवार हाथों से बना यह चित्र भी कोई खास बुरा नहीं था।'

कहानी के अंत में दो चित्र हैं, एक साइकिल सवार का जो बिना किसी अपराध के ट्रैक्टर से कुचलकर मारा जा चुका था तथा दूसरा, हिरोशिमा-नागासाकी, वियतनाम और बांग्लादेश के तानाशाहों द्वारा मारे गए निरपराध लोगों का। एक चित्र गंवार हाथों ने बनाया था तथा दूसरा चित्र कुशल हत्यारे तानाशाहों ने, पर दोनों में कोई अंतर नहीं था। इनसान के भीतर बैठा तानाशाह कब हिटलर बन जाता है और कैसे बिना किसी अपराध के दूसरों की जान लेकर प्रसन्न होता है, यह कहानी इसे मानवीय संवेदनाओं के साथ उभारती है इसीलिए बिज्जी अंत में लिखते हैं 'हां, वे पांचों ही इनसान थे। इनसान की बोली बोलते थे और इनसान की ही चाल चलते थे।'

बिज्जी की कहानियों के कई रंग हैं, जैसे लोक के अनंत रंग हैं। उनकी एक कहानी है 'लजवंती'। यह कहानी स्त्री विमर्श के दौर में बहुत प्रासंगिक है। लोक में स्त्री पुरुष संबंधों की इससे

अच्छी व्याख्या शायद ही कोई दूसरी हो। लाजवंती अपनी सहेलियों के साथ कुएं से पानी भरने जाती है। सारी औरतें स्त्री पुरुष संबंधों को लेकर परस्पर मजाक करती हैं लेकिन लजवंती घूंघट डाले किसी से कुछ नहीं कहती। एक कबूतरों का शौकीन आदमी उन्हें रोज मिलता है पर वह अपने कबूतरों की संख्या बढ़ाने में इस कदर खोया हुआ रहता है कि औरतों की ओर देखने की उसे फुरसत ही नहीं मिलती। औरतें उसके रूप पर फिदा हैं इसलिए एक औरत कहती है 'अगर यह बावला वचन दे तो मैं औरत की योनि छोड़कर कबूतरी बनने को तैयार हूं। फिर तो पीछा करके अपने हाथों से मुझे पकड़ेगा ही।' दूसरी औरत लजवंती को छेड़ती हुई कहती है 'क्यूं, तेरा मन कबूतरी बनने को होता है या नहीं।' लजवंती जवाब देती है 'इनसान की जिंदगी का ऐसा सुख छोड़कर मैं कबूतरी बनने की कामना क्यूं करने लगी? इस इलाके में मेरे पति से सुंदर और समझदार कितने चेहरे हैं?' लजवंती अपने साथ की औरतों को जवाब तो दे देती है लेकिन उसके मन में कबूतरवाला आदमी बैठ जाता है। बाहर से कोई आहट नहीं है, किसी प्रकार का कोई संकेत नहीं है पर अंदर ही अंदर लजवंती कबूतरवाले के प्रति आकर्षित होती है। और एक दिन एकांत में उससे कहती है 'कबूतर तो एक पल की खातिर भी कबूतरी का पीछा नहीं छोड़ते, पर तुमने तो अभी तक ब्याह ही नहीं किया। औरत जात से ही किनारा करते हो।' और एक दिन जब कबूतर वाले की प्रतिज्ञा पूरी हो जाती है तो लजवंती एक फटकार के साथ घूंघट हटाकर तेज सुर में उससे कहती है 'भोले कबूतरों की सोहबत से ही तुमने ये बिल्ली वाले छल-कपट सीखे हैं। तुम्हारी आंखों का मैल मुझे साफ नजर आ रहा है। इस सुनसान जंगल में मेरे साथ जबरदस्ती करना चाहते हो?' कबूतरवाले ने कहा 'पर मेरे दोनों हाथों में तो कबूतर हैं।' वह बोली 'तो क्या हुआ? कबूतर खाली घड़े में डालकर ऊपर से कलश का ढक्कन नहीं दिया जा सकता?' यह निमंत्रण था, लजवती का उस कबूतर वाले को जो अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर लेने के बाद किसी कबूतरी को पा लेना चाहता था। जो लजवंती अपने पति के रूप पर गर्व का अनुभव करती थी, वही लजवंती स्त्री संसर्ग के लिए उसे ललकारते हुए संकेतात्मक ढंग से आमंत्रित करती है। यह लोक है, जिसमें स्त्री पुरुष के संबंध सनातन हैं, एक ओर नैतिकता है, घर परिवार है, समाज के बंधन हैं तो दूसरी ओर स्वतंत्र संसर्ग की आदिम इच्छा भी है। यह आदिम इच्छा ही स्त्री पुरुष संबंधों का आधार रही है। जो औरतें वाचाल होकर अपने मन की इच्छा को प्रगट कर रही थीं, वे कबूतरवाले के आसपास कहीं नहीं हैं पर लजवंती ने उसे पा लिया है। लोक की यह खूबी है कि राग-विराग को वह एकसाथ लेकर चलता है। वह दोनों से ही किनारा नहीं करता बल्कि उसके महत्व को स्वीकार करता है। लजवंती जैसी स्त्री परंपरा का निर्वाह भी करना जानती है और अपने प्रिय को पाने के उपाय भी। पश्चिमी राजस्थान में पानी का कितना महत्व है, औरतें कितनी दूर-दूर तक पानी लेने जाती हैं, उन सब अभावों और कठिनाइयों का रोना न रोकर औरतों के हास-परिहास से लोक का जीवन संचालित होता है। हर आदमी अपने जीवन को सुखी और सक्रिय करने के साधन तलाश लेता है, इन औरतों ने भी ऐसे साधन तलाश कर लिए हैं इसलिए वे रेत के धोरों में कठिन जीवन जीते हुए भी प्रसन्न हैं और एक दूसरे से हास-विलास कर जीवन के आनंद को प्राप्त करती हैं। लजवंती जैसी सुंदरी भी उन्हीं कठिनाइयों में से अपने प्रिय को पा लेती है। यह एक लोक कथा है, जिसे बिज्जी ने अपनी भाषा देकर महत्वपूर्ण बनाया है।

अमरता प्रत्येक व्यक्ति की चाहत होती है, मरना कोई नहीं चाहता। जो भयंकर कष्ट में है उसे

भी उम्मीद रहती है कि कष्ट जल्दी ही दूर होंगे और फिर वह आराम से रह सकेगा। जो आराम में है, जिसके पास असीमित संपत्ति है, जो बड़े पदों पर हैं तथा जिनकी प्रतिभा को दुनिया मानती है, वे अमर होना चाहते हैं। लोक में ऐसे अमरत्व की चाह की असंख्य कहानियां हैं। बिज्जी की भी एक ऐसी ही महत्वपूर्ण कहानी है 'सिकंदर और कौआ'। सिकंदर को इसलिए चुना कि वह पहला विश्व विजेता था। अरस्तू जैसा उसका गुरु था। उसने पौरस जैसे बलशाली राजा को परास्त किया था, जो पराजित होने के बावजूद युद्ध के मैदान में राजाओं जैसे व्यवहार की उम्मीद करता है। सिकंदर तो महान है ही लेकिन अरस्तू और पौरस भी इतिहास में अपना कम महत्व नहीं रखते। बिज्जी ने मियादी बुखार से पीड़ित सिकंदर से अपनी कथा आरंभ की है, जो स्वस्थ होना चाहता है। जो भारतीय वैद्य के इलाज से स्वस्थ होता है। स्वस्थ होते ही उन्हें लगता है कि उन्हें कभी बीमार नहीं होना चाहिए, उन्हें कभी मरना नहीं चाहिए, उन्हें अमर होना चाहिए। सिकंदर यह कभी बर्दाश्त नहीं कर सकता कि 'मेरे न रहने पर दुनिया के असंख्य बाशिंदे जिंदा रहें, मैं यह बर्दाश्त नहीं कर सकता। मेरे मौजूद न रहने पर भी सूरज-चांद उगें, फूल खिलें, लोग सुहागरात मनाएं, जच्चा के गीत गाएं और बरसात में नहाएं, मैं हरगिज, हरगिज नहीं चाहता। एक अदना आदमी जिंदा रहे, हँसता-मुस्कुराता रहे और सिकंदर कूच कर जाए, ऐसा नहीं हो सकता।' वैद्य उन्हें समझाते हुए कहते हैं 'तुम्हें समझाना चाहूंगा कि मरण के चिर-वरदान की वजह से ही जीवन की महिमा है।' पर सिकंदर की समझ में कुछ नहीं आता, उन्हें इस बात का गर्व है कि उन्होंने विश्व के अपराजेय योद्धाओं को परास्त किया है, उनके पास असंख्य सम्पत्ति है, उनसे पहले ऐसा कोई सम्राट नहीं हुआ जिसके पास इतना बड़ा साम्राज्य हो। सिकंदर के पास अमर होने के लिए ये बहाने हैं। संसार का छोटे-से-छोटा आदमी भी जानता है कि जो जन्मा है वह मरेगा अवश्य। और यह माया यहीं रह जानी है, आज तक कोई साथ नहीं ले सका है। लेकिन लोक में यह प्रश्न दूसरे दंभी लोगों को समझाने के लिए हमेशा झूलता रहता है, बिज्जी ने भी इसीलिए इस लोक कथा को नए सिरे से रचा है। वैद्य सिकंदर को सुमेरु पर्वत के पास की गुफा में अकेले भेजते हैं, जहां एक कौआ रात-दिन क्रांव-क्रांव करता रहता है, उसे अमरता का वरदान मिला हुआ है। सिकंदर उस कौए के पास पहुंचता है, वैद्य के कथनानुसार झरने का पानी पीने का उपक्रम करता है वैसे ही कौआ उसे रोकते हुए कहता है 'जरा ठहरो सिकंदर! मेरी स्वीकृति के बिना इस झरने की एक बूंद भी चख ली तो यहीं ढेर हो जाओगे। जिस भूल के कारण मैं हजारों-हजार बरस से अमरता का यह अभिशाप भोग रहा हूं, तू सपने में भी यह गलती मत करना। मैं इस शाश्वत जिंदगी से तंग आ गया हूं। जाने कितनी शताब्दियों से मरना चाहता हूं लेकिन मर नहीं सकता। निरंतर क्रांव-क्रांव के रुदन से मेरे कान सर्वथा संवेदन-शून्य हो चुके हैं और जिस माया के प्रति तेरी चाह जागी, मैं ही उसका एकच्छत्र स्वामी हूं। यदि तू मृत्यु के देवता यमराज के पास जाकर मेरे लिए मरने का नुस्खा ले आए तो यह समूची संपदा तेरे हवाले कर दूंगा। ... जीने का सुख और आनंद तभी है जब मरने का संयोग उसके साथ जुड़े। मृत्युविहीन अमरता से बड़ा अभिशाप और कुछ भी नहीं है।' कौए का यह वक्तव्य अमरता के विरुद्ध है। जो बात कौए की समझ में आ गई वह बात विश्व विजेता सिकंदर की समझ में अभी तक नहीं आई थी। लोककथाएं ऐसे ही शाश्वत प्रश्नों के उत्तर देती हैं। अनंत काल से जर, जमीन और जोरू के लिए लड़ाइयां होती रही हैं, आज भी हो रही हैं। सारी दुनिया जानती है कि जो है वह कुछ ही समय के लिए है पर सब कुछ पा लेने

की चाह मनुष्य को जीवंत बनाए रखती है। यदि जीवन के आरंभ में ही सब कुछ मिल जाए तो बौद्ध जैसी मानसिकता निर्मित हो जाती है या सिकंदर जैसी। दोनों ही स्थितियां सुखद नहीं हैं। मनुष्य का विकास जो नहीं है उसे पाने में है, जो नहीं जानता उसे जानने में है। जिसने सब कुछ पा लिया और जो सब कुछ जानता है, उसके लिए जीवन का कोई आनंद शेष नहीं रहता। बिज्जी ने इस लोक कथा को बहुत ही तार्किक ढंग से बुना है, जो आज भी प्रासंगिक है।

कबीर को सभी ने अपनी-अपनी तरह से पढ़ा और समझा है। विद्वानों ने अभी तक कबीर की फक्कड़ी और उसकी निडरता पर खूब लिखा है लेकिन लोक में कबीर किस रूप में उपस्थित हैं, इसे बिज्जी की कहानी 'दूजौ कबीर' पढ़कर ही जाना जा सकता है। कबीर अक्खड़-फक्कड़ है, जिसे अपने श्रम पर भरोसा हो, जिसके मन में किसी से कुछ पाने की इच्छा न हो, उसे किसी से डरने की आवश्यकता नहीं है। कबीर लोक में जिंदा ही इसीलिए है कि वह लोक को बड़ी शक्ति मानता है, न वह ईश्वर से डरता है और न ईश्वर की किसी कृपा की आकांक्षा रखता है। इसलिए न वह गांव के ठाकुर से डरता है और न राजा से। एक दिन उसकी ख्याति सुनकर राजा अपनी राजकुमारी के आग्रह पर उसके घर आते हैं, कबीर अपने काम में मगन है, उसे फुरसत नहीं कि वह राजा की अगवानी कर सके, उसे भेंट दे और उनकी ओर से किसी भी भेंट को स्वीकार करे। राजकुमारी उसकी कारीगरी, स्वाभिमान और लगन देखकर उसके साथ शादी करना चाहती है, राजा स्वयं प्रस्ताव रखता है पर कबीर दोटूक मना कर देता है 'ऐसी भेंट का तो सपना ही बुरा। मैं तो शादी-ब्याह के लफड़े में ही नहीं पड़ना चाहता। और इस लफड़े के साथ राज्य का दहेज ! क्या मुझे आप इतना अबूझ समझते हैं कि आपके वमन को मैं प्रसाद की तरह ग्रहण करूंगा? अगर सत्ता का सुख ही सबसे बड़ा सुख है तो आप उसे छोड़ते ही क्यूं? आप खीज करें तो आपकी मरजी, इस भेंट के लिए भी मैं माफी चाहता हूं।' यह लोक का कबीर है, जो किसी बड़े से बड़े प्रलोभन के सामने भी झुकता नहीं है, जिसके मन में किसी प्रकार का लालच नहीं आता। अपने देश का राज्य और राजकुमारी से शादी करने की इच्छा इंद्रपद पाने के समान है, पर कबीर के लिए अपनी झोंपड़ी में अपना श्रम करने की कामना ही सर्वोपरि है। राजा नाराज होकर उसके बनाए कपड़ों की चिंदी-चिंदी करवा देता है पर कबीर अपने संकल्प से डिगता नहीं है, ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो कबीर को डरा सके, उसके मन में लालच उत्पन्न कर सके। न वह ईश्वर से डरता है और न राजा या ठाकुर से। अपनी दुनिया में मगन रहने वाले कबीर को अपनी तरह और खरी-खरी कहना ही अच्छा लगता है। इसलिए वह राजा के व्यवहार के प्रति क्रोध भी नहीं करता। राजकुमारी के पूछने पर कहता है 'एक आदमी के क्रोध से कुछ नहीं हो सकता। वो तो खुदकुशी के समान है। जिस दिन मेरे क्रोध की छूत जन-जन के हृदय में खुदबुदाएगी, उस दिन इनसानों की दुनिया में न तो कोई राजा होगा और न कोई रंक। न कोई ऊंच होगा और न कोई नीच, न सांच होगा और न झूठ। न पाप होगा, न पुण्य। न धर्म होगा, न अधर्म। न कोई अमीर होगा ओर न कोई गरीब। न कहीं मंदिर होगा और न कहीं मस्जिद। उस दिन न मजहब बचेगा और न जात। न फौज होगी और न हथियार। किसी इनसान को यह हक नहीं होगा कि अपनी सत्ता के बल पर, तलवार की ताकत के जोर से, अपने आदेश के जरिये किसी की कारीगरी के टुकड़े-टुकड़े करवा डाले।' यह लोक का कबीर है, जो ऐसी व्यवस्था में विश्वास करता है, जो सबको समान रूप से जीने और सोचने का अधिकार देती हो। कबीर को रटने और

विद्वानों द्वारा की गई व्याख्याओं से अधिक यह कहानी अधिक मानवीय रूप में प्रस्तुत करती है। यह बिज्जी की अपनी किस्सागोई है, जो बहुश्रुत कबीर को इस रूप में प्रतिष्ठित करती है।

बिज्जी की कहानियों को पढ़कर किसी को भी आश्चर्य हो सकता है कि पूरे विश्व के महान कथा साहित्य को बच्चों जैसी जिज्ञासा के साथ पढ़ने वाले बिज्जी ने राजस्थानी लोक के बाहर झांककर क्यों नहीं देखा? क्यों वे बोरूंदा छोड़कर कहीं नहीं गए? मैं समझता हूं इन प्रश्नों के उत्तर उनकी चौदह खंडों में प्रकाशित अनमोल पुस्तक 'बातां री फुलवारी' को पढ़ने से जाना और समझा जा सकता है। 'बातां री फुलवारी' में राजस्थानी लोक का हृदय धड़कता है, अद्‌भुत कथा शैली और आधुनिक भाषा में रची लोक कथाएं किसी भी समाज के लिए प्रतिमान हैं। बिज्जी इन्हीं प्रतिमानों को जीवन भर रचते और गढ़ते रहे।

श्रद्धांजलि

यह वर्ष साहित्य और कला संस्कृति के लिए काफी नुकसान देह रहा।

वरिष्ठ आलोचक रघुवंश, शिवकुमार मिश्र, परमानंद श्रीवास्तव एवं समाजवादी चिंतक मस्तराम कपूर, धर्म निरपेक्षता के पर्याय असगर अली इंजीनियर, गीतकार मन्नाडे, फिल्मकार के विक्रम सिंह, साहित्यकार शिवकुटीलाल वर्मा, के.पी. सक्सेना, हरिकृष्ण देवसरे, ओमप्रकाश वाल्मीकि, सुरेंद्र तिवारी विजयदान देथा और दूसरा सप्तक के कवि हरिनारायण व्यास, तेलुगु साहित्यकार रावूरी भारद्वाज के असमायिक अवसान से साहित्य और संस्कृति की दुनिया में एक सन्नाटा सा पसर गया।

इन सूफी को महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा और बहुवचन परिवार की ओर से हार्दिक श्रद्धांजलि।

गोरखपुर और परमानंदजी

मदन मोहन

वर्ष 2013 में जो साहित्यकार हमारे बीच नहीं रहे उनमें एक प्रमुख नाम कवि आलोचक परमानंद श्रीवास्तव का है। परमानंद श्रीवास्तव गोरखपुर में रहकर आलोचना के क्षेत्र में निरंतर अपनी उपस्थिति बनाए रखते थे। एक तरह से वे गोरखपुर का पर्याय बन गए थे। परमानंद श्रीवास्तव को याद कर रहे हैं चर्चित कथाकार मदन मोहन :

पांच नवंबर 13 का ही वह मनहूस दिन था, जब न केवल गोरखपुर, बल्कि साहित्य की दुनिया की एक और बड़ी शख्सियत ने हम सबको अलविदा कहा और दुनिया से कूच कर गई। राजेंद्र की के जाने के दुःख से हम अभी उबर भी नहीं पाए थे कि परमानंद श्रीवास्तव अचानक एक दिन, घर पर ही, कोमा में चले गए और फिर वहां से नहीं लौटे। लगभग पांच फिट की देह पर लो-कट का कुर्ता-पैजामा और कंधे से कमर तक लटकते झोले वाले शख्सियत जब किसी साहित्यिक गोष्ठी में पहुंचती, तो वातावरण उदात्त हो उठता। सबके अभिवादन स्वीकारते वे या तो सीधे मंच पर बुला लिए जाते या किंचित विलंब को भांपते हुए आगे की पंक्ति में स्थान ग्रहण कर लेते। विषय पर जब उनके बोलने की बारी आती, तो एक खास तरह की जिज्ञासा के साथ सभागार में शांति व्याप जाती। कुछ यूं कि जैसे उनका कहा कुछ सुनने-समझने से छूट न जाए। आवाज ऐसी कि तनिक ऊंचा सुनने वाले को भी ज्यादा ध्यान केंद्रित करने की जहमत न उठानी पड़े। बिना माइक के भी उनकी बुलंद आवाज सभागार के छोर तक आसानी से सुनी जा सकती थी।

'कविता का अर्थात' उनकी आखिरी अत्यंत महत्वपूर्ण आलोचनात्मक कृति रही, जिसने उन्हें शिखर आलोचक का दर्जा दिया। उसी कालजयी कृति के कृतिकार परमानंद श्रीवास्तव अब जब हमारे बीच नहीं हैं, तो गहन पीड़ा के साथ उनकी स्मृतियों से बच पाना कठिन ही नहीं असंभव जान पड़ता है। निधन के बाद उनके अंतरंग-अभिन्न मित्र कविवर केदारनाथ सिंह की मार्मिक प्रतिक्रिया को यहां याद कर लेना गैर मुनासिब न होगा। केदारजी ने कहा 'उनके बिना क्या गोरखपुर?' विद्रोह की घनीभूत पीड़ा इस एक छोटे से वाक्य में कैसे सिमट आई है, समझना मुश्किल नहीं है। केदार जी ने कुछ और पंक्तियों में उनसे अपने संबंधों का इजहार कुछ इस तरह किया- 'परमानंदजी मेरे पचपन वर्ष पुराने मित्र थे। मैं उनसे निरंतर संपर्क और संवाद में था। उनसे संबंध सिर्फ साहित्यिक ही नहीं अनेक स्तरों पर था। उनके बिना गोरखपुर की कल्पना भी नहीं कर पा रहा हूं। वे गोरखपुर के साहित्य-जीवन के दर्पण थे। पूरे हिंदुस्तान में उनकी जगह थी। उनको खोना अपने परिवार के अभिन्न सदस्य को खोना है।'

केदारजी गोरखपुर में एक-दो दिन के लिए भी आते, तो परमानंदजी से मिले बिना नहीं जाते।

अपनी बीमारी के दिनों में जब वे बेहद हताशा की मनःस्थिति में थे, तो केदारजी-केदारजी की रट से ही शायद उन्हें राहत मिल जाती थी। ये सारी जानकारियां हम सबको उनकी धर्म पत्नी से सहज ही मिल जाती थीं।

जी हां, परमानंदजी का जाना साहित्य के आत्मीय अभिन्न मित्रों को तो आघात दे ही गया, बहुत से ऐसे लोग भी आहत हुए, जो उनसे प्रायः कई मुद्दों पर असहमतियां रखते थे और वे भी, जिन्होंने उनकी रचनाएं पढ़ी थीं, नाम सुना था, पर उनसे मिलना-जुलना नहीं हो पाया था। श्मशान घाट पर ऐसे कई लोगों से भेंट हुई, जिन्होंने उनसे रू-ब-रू न हो पाने की व्यथा कही। किसी शख्सियत के न होने पर उसके होने में हासिल लोकप्रियता की जितनी व्यापक अभिव्यक्तियां साहित्य और साहित्येतर समाज में देखने-सुनने को मिलीं, उसका अनुमान शायद ही किसी को रहा हो। क्या हिंदू, क्या मुस्लिम, सिख, ईसाई सभी समुदाय के लोगों ने अपने-अपने तरीकों से उन्हें श्रद्धांजलियां अर्पित कीं।

पचहत्तर वर्ष पूरा होने पर गोरखपुर में परमानंदजी के लिए भव्य अभिनंदन समारोह हुआ था। नगर के कुछेक साहित्य से गहरे सरोकार रखने वाले छोटे-बड़े साहित्यकारों ने अभिनंदन की व्यवस्था कर डाली थी। समारोह में प्रख्यात आलोचक नामवर सिंह भी उपस्थित थे। उस अवसर पर 'प्रतिमानों के पार' शीर्षक से कवि देवेंद्र आर्य के संपादन में एक अभिनंदन ग्रंथ भी प्रकाशित हुआ। ग्रंथ के शीर्षक को लेकर कुछ खट्टी-मीठी बातें 'बड़ों' के विमर्श में आ गईं। लगा, यह परमानंदजी पर अटैक है। मगर परमानंदजी ने दो टूक जवाब दे दिया। कहा 'इसकी जिम्मेदारी संपादक और उसकी समझदारी की है, इसमें मैं कहां हूं?' पर भीतर कहीं कुछ टीस-टूट जरूर गया था, जिसका, बाद के दिनों में, गहरा प्रभाव न केवल उनके लेखन पर, बल्कि सक्रियताओं पर भी पड़ा। गोरखपुर से लेकर दिल्ली, भोपाल, पटना, इलाहाबाद और कोलकाता तक की दौड़ लगाते हुए वे बहरहाल एक साहित्यिक एक्टिविस्ट भी तो थे।

रही बात हम जैसों की उनके साथ संबंधों की, तो उसका एक विकासक्रम है क्योंकि न केवल उम्र, बल्कि साहित्यिक हैसियत में भी वे लगभग गुरुतुल्य थे। मुझे याद है, वर्ष 1983 के मई-जून का वह दिन और लम्हा, जब मेरा पहला कहानी संग्रह 'छलांग' छपकर आया था और उसकी प्रति सबसे पहले मैं परमानंदजी को भेंट करना चाहता था। उन दिन मैं उन्हें ढूंढ़ता रहा था। किसी गोष्ठी की तैयारी के लिए वे घर से निकल चुके थे। शाम को चार बजे के आसपास बंगालीजी (तत्कालीन सुपरिचित कवि-गीतकार स्व. देवेंद्रकुमार बंगाली) के साथ अलहदादपुर चौराहे पर, रिक्शे पर, कहीं जाते हुए मिले। बयान नहीं कर सकता कि मन में कितना उत्साह, कितनी जिज्ञासा थी, सर्वप्रथम प्रति उन्हें भेंट कर, उनकी तात्कालिक प्रतिक्रिया जानने की। इस समय तक वे बाकायदा चर्चित-स्थापित कवि-आलोचक थे। हमें लगता था, दुनिया में यदि कोई लेखक-साहित्यकार है, तो वह अकेले परमानंद श्रीवास्तव हैं। हम लोगों में उन्हें देखने और उनसे मिलने की ललक-सी रहती थी। पर उनसे बात करने से हम सकुचाते-डरते। डरने की वजह उनकी ओर से कोई नहीं थी, सिर्फ अपने भीतर गंवईपन की एक कसक थी जो खुली नहीं थी। तब से अब तक वे प्रख्यात हो चुके थे।

हममें भी वह भावुकता, कसक और कच्चापन नहीं रह गया था। उनके बड़े साहित्यकार होने की हमारी समझ के पीछे हमारी प्रौढ़ होती रचनाशीलता और विवेक की भूमिका तो थी ही, नयों के प्रति उनमें निरंतर गहरी होती संवेदनशीलता और उदारता का भी योगदान कम नहीं था। इन सबकी

बुनियाद में उनका वह व्यक्तित्व और कृतित्व रहा, जो भारतीय हिंदी साहित्य की थाती भी है। अपने विशिष्ट साहित्यिक अवदान के नाते वे गोरखपुर के गौरव रहे हैं और रहेंगे। कहना न होगा कि साहित्य के क्षेत्र में गोरखपुर के लिए यह उपलब्धि फिराक गोरखपुरी के बाद परमानंद श्रीवास्तव के ही खाते में जाती है। खासकर गरिमामय 'व्यास सम्मान' और उ.प्र. के 'भारत भारती सम्मान' के बाद उनके कृतित्व को, बिना किसी विवाद के जो महत्ता मिली, वह उनके प्रशंसकों के लिए सुखद अनुभव रही। वहीं कुछेक के लिए ईर्ष्या की वजह भी। व्यास सम्मान पाने वालों में परमानंदजी इसलिए विरल साहित्यकार थे, क्योंकि संस्था के अधिकारियों ने, सूर्यकुंड स्थित उनके आवास पर जाकर सम्मान प्रदान किया।

मेरा रिश्ता परमानंदजी से शुरुआत के वर्षों में औपचारिक साहित्यिक ही रहा पर धीरे-धीरे अनौपचारिक होने की पृष्ठभूमि बनने लगी थी। गोष्ठियों-संगोष्ठियों में हम एक साथ जाने-आने लगे थे। खासकर नगर की और 'कथाक्रम' की संगोष्ठियों में। 'रसरंजन' की अरंतरंग बैठकों में भी प्रायः हम साथ होते। हँसी-ठहाके में भी। एक बार साथ-साथ कोलकाता भी गए। ट्रेन लेट हो गई थी उनके चहेरे पर परेशानी दिखी मैं हैरान। अनुमान- अटकलों में कुछ पकड़ में न आया पर प्लेटफार्म पर उतरते ही, कंधे से लटकते बैग के साथ, वे दौड़ने-से लगे, तो सहज पूछ पड़ा- 'दौड़ क्यों रहे हैं, फिसलकर गिर जाएंगे। कहा उन्होंने- 'देर हो गई इसी सत्र को अध्यक्षता करनी है।' तब मोबाइल का जमाना नहीं था कि पहुंच की सूचना देकर निश्चिंत हो लिया जाता। कोलकाता में लघु पत्रिकाओं के संचालकों, संपादकों और लेखकों की संगोष्ठी थी, जो 'पहल' और ज्ञानरंजन की अगुवाई में आयोजित थी। समय के वे कितने पाबंद थे, और यह कि आयोजकों को उनकी वजह से कोई असुविधा न हो, वह घटना मेरे लिए एक मिसाल के तौर पर थी।

एक लंबे समय तक उन्हें गुट विशेष से जोड़कर देखा जाता रहा। कहा गया कि वे नामवर गुट के सारथी हैं। 'आलोचना' पत्रिका के संपादक का दायित्व मिल जाने के बाद तो उनके कथित गुट विशेष की चर्चा और मुखर हो उठी लेकिन वास्तव में इसमें सच्चाई से ज्यादा कलावाद के पक्षधर विरोधियों का ईर्ष्या-भाव और प्रगतिशीलता से घृणा ज्यादा थी क्योंकि उनके समकालीन आलोचकों में वे ही नामवर सिंह के सर्वाधिक निकट अंतरंग थे। वस्तुतः गुट के नाम पर विरोध परमानंदजी का नहीं, नामवरजी का हो रहा था। शायद नामवरजी का भी नहीं, उनके बहाने मार्क्सवाद और प्रगतिशीलता का। आरोप-प्रत्यारोप के इस बेहूदे खेल में स्वायत्तता प्रेमी कविवर केदारनाथ सिंह को भी घसीटने से लोग बाज नहीं आए जबकि परमानंदजी, केदारजी के पड़रौना (जहां वे महाविद्यालय के प्राचार्य थे) प्रवास के दौरान से ही, अभिन्न मित्र थे। इसी दौरान परमानंदजी पर यह आरोप भी लगा कि उनकी कोई भी समीक्षा-टिप्पणी और आलोचनात्मक लेख उन नामों के वगैर पूरा नहीं होता, जो नाम नामवर सिंह और केदारजी द्वारा पहले से उपकृत हो चुके होते हैं। सही मायने में इसमें भी घनिष्ठता और प्रगतिशीलता का निर्विकार किस्म के सामंजस्य मात्र के अलावा और कुछ नहीं था। इसके अलावा जेनुइन रचनाकारों और उनकी रचनाओं के रेखांकन का प्रश्न भी अहम था, जिसे नामवर या परमानंदजी जैसे ख्यातलब्ध प्रगतिशील आलोचक उपेक्षित करके नहीं चल सकते थे। अपने समय-समाज की गहरी सर्जनात्मक अभिव्यक्ति वाली रचनाओं का दबाव सचेत आलोचकों पर पड़ना स्वाभाविक है। ऐसे में दोनों आलोचकों के बीच कुछेक रचनाकारों के नामों की समानता का कोई सतही निकलना हास्यापद ही कहा जाएगा। वैसे भी परमानंदजी कई बार अनेक

कवियों-कथाकारों के रेखांकन के संदर्भ में नामवरजी से असहमत होते हुए भी देखे गए हैं। खास कर उन रचनाकारों के बारे में, जिन्हें प्रगतिशीलता के खाने में रखना कठिन जान पड़ता है। ऐसे लेखकों के लिए परमानंदजी यह तक कहने में नहीं हिचकते कि बौद्धिक काहिली और अदम्य दर्प के चलते कतिपय आलोचक महत्वपूर्ण कृति पर टिप्पणी करने से बचते हैं।' समझना मुश्किल नहीं है कि इस कथन के निशाने पर कौन से आलोचक है लेकिन यह बाद के दिनों की निर्भीकता है। पहले उनमें आलोचकीय खुद्दारी का अभाव, उनके ही पाठकों-प्रशंसकों के लिए, विस्मय का सबब हुआ करता था। विस्मय इस बात पर भी कि उन्हें इन सब चीजों की परवाह भी न थी। कारण वे तो सिर्फ साहित्य जीते थे, एक साधक के बतौर। साहित्य की उनकी इस धुनी में सारी शिकवा-शिकायतें भस्म हो जाती थीं। उन्होंने विरोधियों के लिए भी अपना दरवाजा कभी बंद नहीं किया। उनकी आलोचकीय जिज्ञासा का क्षेत्र कविता, कहानी, उपन्यास से लेकर साहित्य-शास्त्र तक फैला हुआ है। कई नामचीनों की तुलना में उनका लेखन इतना विविध और विपुल है कि कोई भी उनके समग्र का पाठक होने का दावा नहीं कर सकता। एक बार मुझे डॉ. कृष्णचंद्र लाल के संपादन में निकल रही साहित्यिक पत्रिका 'सहचर' के फरवरी 1996 के अंक के लिए उनसे एक लंबा साक्षात्कार लेना पड़ा था। जाहिर है, तब उनकी कृतियों से गुजरना, और ठीक से गुजरना लाजमी था। तब भी मैं दावा नहीं कर सकता कि मुझसे कुछ छूटा न हो और जो कुछ छूटा हो वह महत्वपूर्ण न हो।

बरहाल जितनी कृतियां हमारे पाठ के दायरे में आ सकीं उनके आधार पर कहा जा सकता है कि परमानंदजी 'तय करो कि किस ओर हो तुम' या 'पार्टनर तुम्हारी पालिटिक्स क्या है' जैसी परिचित उक्तियों से बचते हुए भी व्यापक संदर्भों में एक उदार प्रगतिशील आलोचक की भूमिका में अपने लिए एक अलग रंगमंच तैयार करते हैं। इस रंगमंच के अनेक परदे हैं, उनके रंगों और चित्रकारियों वाले। सबके होने के अर्थ हैं, भाव हैं। परमानंद की आलोचना की भाषा, उनके समकालीनों की तुलना में, ज्यादा संश्लिष्ट, ज्यादा काव्यात्मक है। उनकी आलोचना प्रविधि और सैद्धांतिकी के साक्ष्यों की तलाश उनकी कृतियों में डूबकर ही की जा सकती है। 'नई कविता का परिप्रेक्ष्य', 'कवि कर्म और काव्य भाषा' 'उपन्यास का यथार्थ और रचनात्मक भाषा', 'जैनेंद्र के उपन्यास', 'समकालीन कविता का व्याकरण', 'समकालीन कविता का यथार्थ', 'शब्द और मनुष्य', 'कविता का अर्थात', 'कविता का उत्तर जीवन', 'अंधेरे कुएं से आवाज' 'अंधेरे समय में शब्द', 'उत्तर समय में साहित्य', 'सन्नाटे में बारिश', 'उत्तर औपनिवेशिक समय में साहित्य की संस्कृति', 'प्रतिरोध की संस्कृति और साहित्य' इन सभी आलोचना की कृतियों के अलावा उनके आधा दर्जन कविता संग्रह और दो कहानी संग्रह भी प्रकाशित हैं। 'उजली हँसी के छोर पर' उनकी पहली कविता की पुस्तक है।

इधर कुछेक वर्षों के स्वास्थ्य संबंधी मजबूरियों, खासकर मानसिक के बावजूद कहानी के युवा पीढ़ी की रचनाशीलता पर उनकी पैनी-खोजी नजर की सक्रियता हैरत में डालने वाली रही है। युवा कथा-पीढ़ी को जमाने में बहैसियत संपादक यदि रवींद्र कालिया की भूमिका सराही जाएगी, तो बहैसियत आलोचक परमानंद श्रीवास्तव की सक्रियता-सकारात्मक भूमिका भी किसी मायने में, कमतर न आंकी जाएगी। उनके निधन से युवा लेखकों की भी भारी क्षति हुई है। अब, जब वे नहीं हैं, तो साहित्य की दुनिया का एक अहम हिस्सा कुछ यूं सूना हो गया है कि उसका भरा जाना शायद ही संभव हो पाए। 'शायद' इसलिए कि उनके ही शब्दों में, संभावनाएं कभी खत्म नहीं होतीं।

परमानंद श्रीवास्तव : समर्थ आलोचक का अवसान

ओम निश्चल

परमानंद श्रीवास्तव के न रहने पर उनके कवि व्यक्तित्व और आलोचक के रूप में किए गए उनके कार्यों की चर्चा कर रहे हैं कवि आलोचक ओम निश्चल। ओम निश्चल ने गहरी संलग्नता के साथ परमानंद जी के कवि व्यक्तित्व का सम्यक् मूल्यांकन किया है। इसी के साथ उन्होंने पिछले दिनों दिवंगत हुए प्रख्यात बाल साहित्यकार हरिकृष्ण देवसरे एवं हास्य व्यंग्य लेखक के. पी. सक्सेना के रचना कर्म की चर्चा की है :

परमानंद श्रीवास्तव का हमारे बीच न रहना आलोचना में एक गहरे सन्नाटे का परिचायक है। लगभग तीन दशकों से परमानंद श्रीवास्तव को जानता हूं। आलोचना की लगभग उनकी पहली ही किताब 'नई कविता का परिप्रेक्ष्य' पढ़ने का सौभाग्य मुझे मिला है। इस किताब से एक ऐसे आलोचक से मेरा परिचय हुआ जो आलोचना को जैसे एक प्रांजल भाषा और नए मुहावरे देने के लिए कटिबद्ध होकर निकला हो। लेखन की शुरुआत उन्होंने गीतों से की। नए बिंब और उपमानों के आकर्षण का वह दौर था जब गोरखपुर में भी गीतों का एक सहज वातावरण था। 'उजली हँसी के छोर पर' संग्रह में शामिल उनके गीतों में एक अपूर्व ताजगी मिलती है। गीतों में छंद का जो संयम चाहिए वह उनके गीतों में मौजूद था। 'पांच जोड़ बांसुरी में' चंद्रदेव सिंह ने उनके कुछ गीत संकलित किए हैं। इसी में एक गीत है : 'हिलती कहीं नीम की टहनी/भूल गईं वे बातें सबकी सब जो तुमको कहनी। या जो न हुए उनके क्षण अपने मन के।' उनकी गीत पंक्तियां हैं : 'चमकता आकाश-जल हो/चांद प्यारा हो/ फूल जैसा तन, सुरभि-सा मन तुम्हारा हो।' ऐसे गीतों का सर्जक भीतर से कितना रोमांटिक होगा, यह अनुमान लगाना मुश्किल नहीं है। यही वजह है कि आगे चलकर उन्होंने देवेंद्र कुमार के गीतों पर बड़े मनोयोग से लिखा जब कि नई कविता के आलोचक गीत पर लिखने से प्रायः परहेज करते रहे हैं। यों तो उन्होंने कहानी व उपन्यासों पर भी लगातार लिखा है किंतु वे मूलतः कवि और काव्यालोचक ही माने जाते हैं। 'उजली हंसी के छोर पर', 'अगली शताब्दी के बारे में', 'चौथा शब्द' एवं 'एक अनायक का वृत्तांत' जैसे कविता संग्रह एवं 'कवि कर्म और 'काव्यभाषा', 'समकालीन कविता का व्याकरण', 'समकालीन कविता का यथार्थ', 'शब्द और मनुष्य', 'कविता का अर्थात', 'कविता का उत्तर जीवन', 'अंधेरे कुंए से आवाज' जैसी आलोचनात्मक कृतियां उनके खाते में हैं। कविता और आलोचना से उनकी मैत्री आजीवन बनी रही। यही वजह है कि उनकी डायरी, अंतःप्रक्रियाओं और जर्नल्स में भी आदि से अंत तक कविता और काव्य चर्चा के प्रसंग भरे हैं।

बांसगांव, गोरखपुर में 9 फरवरी, 1935 को जन्मे परमानंद श्रीवास्तव को एक उदारचित्त आलोचक के रूप में याद किया जाता है। वे अरसे तक गोरखपुर विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग से

संबद्ध रहे। कुछ समय बर्दवान विश्वविद्यालय में प्रोफेसर के पद पर भी रहे। जो कुछ लिखा जा रहा है उसमें उल्लेखनीय की नोटिस लेने में वे सजग रहते थे। हो सकता है ऐसा करने में यदा-कदा उत्साह का एक अतिरेक उनके निकट रहा हो पर अपने समय की रचनात्मकता पर उनकी अचूक निगाह थी। उन्होंने अपने समकालीनों और आज की पीढ़ी के जितने कवियों पर लिखा है उतना और किसी अन्य आलोचक ने नहीं। वे सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों किस्म की आलोचना में संतुलन साधकर चलते थे। काव्यालोचन पर समय समय पर आई उनकी लगभग सभी कृतियां देखी हैं तथा पाया है कि उन्होंने कविता को बारीकी से पढ़ा है। कविता का विश्लेषण करते हुए वे हर कवि की विशिष्टता को अलग से लक्षित करते थे। वे व्यक्ति, समाज, विचारधारा व जीवन को देखने के कवियों के अलग अलग ढंग को सदैव ध्यान में रखते थे। उदाहरणतः अज्ञेय और मुक्तिबोध के मूल्यांकन में वे यह जानते थे कि व्यक्ति दोनों के यहां महत्वपूर्ण है पर मुक्तिबोध का व्यक्ति वही नहीं है जो अज्ञेय का है। मुक्तिबोध सामाजिक चिंता के कवि हैं पर व्यक्ति-चिंता के समूचे गहरे बोध के साथ। वे त्रिलोचन व नागार्जुन के समाज के बीच के अंतर को भी पहचानते थे और रघुवीर सहाय व केदारनाथ सिंह की अलग-अलग जीवन दृष्टियों को भी। किसी भी कवि को उसकी मौलिक प्रवृत्तियों के साथ पहचानना उनकी विशिष्टता रही है।

हिंदी में कुछ इने-गिने आलोचक हैं, जिन्होंने आलोचना को रचना की तरह ही व्यवस्थित रूप देने की कोशिश की है. परमानंद श्रीवास्तव ने नई कविता का परिप्रेक्ष्य के समय से ही कविता के मूल्यांकन-अनुशीलन के लिए कुछ बीज शब्द निर्मित करने आरंभ कर दिए थे। नामवर सिंह के बाद उनकी आलोचना सैद्धांतिकी के निर्माण के साथ-साथ व्यावहारिक आलोचना का मार्ग प्रशस्त करती है, जिसकी ओर रुझान उनके समकालीनों में प्रायः नहीं दीख पड़ता। उन्होंने निराला और समकालीन कविता की परस्परता का आकलन किया। उस समय के अंतर्विरोध और विरोध की कविता के केंद्र में नागार्जुन जैसे कवि का भी। यह उनकी आलोचना की साहसिकता ही कही जाएगी कि उन्होंने अज्ञेय के होते हुए भी समकालीन कविता के केंद्र में निराला और मुक्तिबोध को रखा। वे इस बात से अवगत थे कि जो छायावाद के बाद की कविता को सीधे अज्ञेय व तार सप्तक से प्रवर्तित मानने के अभ्यस्त रहे हैं, उन्हें समकालीन हिंदी कविता को निराला से जोड़ना अच्छा न लगेगा न ही उन्हें भी जो मुक्तिबोध से समकालीन कविता की शुरुआत माानते रहे हैं। परमानंदजी का मानना था कि छायावादी रोमांटिक काव्य संस्कारों से पहला संघर्ष निराला ने ही किया तथा कविता के नए सांचे को हिंदी ने बरता व्यवहृत किया। इस बात पर उन्हें कोई ऐतराज न था कि नागार्जुन या मुक्तिबोध कविता के केंद्रीय व्यक्तित्व माने जाएं पर निराला से क्या समकालीन कविता का कोई संबंध बनता है।कृयह देखना उन्हें हिंदी कविता की समकालीनता को जांचने का एक जोखिम भरा उपक्रम था। किंतु शब्द और मनुष्य का पहला निबंध निराला और समकालीन कविता कविता के कृत व्यक्तित्व निराला और समकालीन कविता पर उनके प्रभावों के आकलन की एक महत्वपूर्ण कोशिश है। वे यह भूल नहीं जाते कि निराला ने कविता को मनुष्य की मुक्ति का पर्याय माना था। उन्होंने कविता को छंद के बंधन से मुक्त किया है। अचरज नहीं कि आज के कई सुपरिचित कवि अपनी कविता का रिश्ता मुक्तिबोध से नहीं, निराला जैसे कवि से जोड़ते हैं। परमानंदजी ने केदारनाथ अग्रवाल, रघुवीर सहाय, त्रिलोचन, केदारनाथ सिंह, भवानी प्रसाद मिश्र आदि के उदाहरणों से यह सिद्ध किया है कि

समकालीन कविता यदि तमाम रूढ़ियों से मुक्त हो पाई है तो इसमें निराला का योगदान सर्वाधिक है।

काव्यालोचन में परमानंद श्रीवास्तव कवियों की विशेषताओं को केंद्र में रखते हैं। जैसे अज्ञेय के काव्य के परिप्रेक्ष्य में वे जिस शीर्षक को केंद्र में रखते हैं, यानी इतिहास से विच्छिन्नता की काव्यात्मक फलश्रुति उसे वे अपने तार्किक विश्लेषण से पुष्ट भी करते हैं। अज्ञेय ने जब लिखना शुरू किया, तब छायावादी प्रभावों का युग था। इन संस्कारों के बीच उन्होंने नई राहें खोजीं और लेखकीय स्वाधीनता और साहित्य विवेक के प्रति अपनी प्रतिश्रुति व्यक्त की। केदारनाथ अग्रवाल के काव्य को तात्कालिक यथार्थ का रचनात्मक दस्तावेज मानते हुए वे केदार को मूलतः जीवन आस्था का कवि मानते रहे हैं, जिसने मार्क्सवादी विचारधारा से जीवन ग्रहण किया। शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट के लिए शमशेर का ही एक पद जितना उनकी काव्यानुभूति की निजता और गहनता का परिचायक है, उतना और शायद ही कोई पद हो और ऐसे पद को परमानंदजी शमशेर पर लिखे आलोचनात्मक निबंध के शीर्ष पर बिठाते हैं : शब्द का परिष्कार स्वयं दिशा है। नई कविता के भीतर जड़ीभूत सौंदर्याभिरुचि की आलोचना करने वाले मुक्तिबोध को परमानंद जी कविता में उदात्त का पुनराविष्कार करने वाला कवि मानते हैं। मुक्तिबोध का आत्म इतना दीप्त और उदात्त है कि उसमें भारतीय जन मानस के बीहड़ संघर्षों की छवियां झिलमिलाती हैं। परमानंद श्रीवास्तव ने जिस दौर में आलोचना शुरू की, उस वक्त एक कवि के रूप में अज्ञेय की प्रतिमा को क्षीण करने के प्रयास जारी थे, तथा प्रगतिशील शक्तियां मुक्तिबोध को नई कविता के केंद्र में देखना चाहती थीं। ऐसे समय में मार्क्सवादी आलोचना के हामी परमानंद श्रीवास्तव ने अज्ञेय के योगदान को कमतर नहीं आंका बल्कि उनके ऐतिहासिक प्रयत्नों और कविता की बारीक बीनाई की प्रशंसा की। किंतु मुक्तिबोध को भी जिन्हें बाद में भारतीय सभ्यता समीक्षा का एक बड़ा कवि करार दिया गया, उन्होंने मनुष्य की कठिन जिजीविषा, संघर्ष क्षमता और अपराजेय शक्ति का कवि माना। उनके समाज-चेतन दृष्टिकोण को परमानंदजी ने सदैव महत्व दिया। केवल महत्व ही नहीं दिया, बल्कि अज्ञेय और रामस्वरूप चतुर्वेदी जैसे आलोचक के पूर्वाग्रहों की आलोचना भी की।

युवा कविता के तेवर को पहचानने का बड़ा जोखिम यदि किसी आलोचक ने उठाया है तो वे परमानंद श्रीवास्तव हैं। साठोत्तर कविता के केंद्र में रहे धूमिल और धूमिल के बाद की कविता को अरुण कमल के काव्य पद 'अपनी केवल धार' से रेखांकित और चिह्नित करने वाले वे अकेले आलोचक हैं जो सातवें और आठवें दशक के नए यथार्थ के उद्घाटन के लिए काव्येतिहास में हस्तक्षेप करने वाली नई कवि पीढ़ी पर एक बड़ा निबंध लिखते हैं, जिसमें धूमिल की जमीन पर विकसित युवा कविता के अनेक संभावनाशील कवियों पर उंगली रखते हैं। यह तो सच है कि मुक्तिबोध के बाद अपने कविता समय में पहचाना जा सकने वाला बदलाव धूमिल के यहां ही लक्षित किया जा सकता है, जिन्होंने अकविता के अराजक और अतर्क्य दौर में कविता को भाषा में आदमी होने की तमीज माना था। परमानंदजी ने धूमिल के साथ कवियों में उदित होते प्रतिरोध को चिह्नित करते हुए लीलाधर जगूड़ी, कुमार विमल, विनोद कुमार शुक्ल, चंद्रकांत देवताले, ऋतुराज और वेणुगोपाल की कविता को पहचानने और मूल्यांकित करने का काम किया। उन्होंने इन कवियों की मौलिकता को रेखांकित किया तो इनके यहां बनती हुई रूढ़ियों और सीमाओं की ओर भी संकेत किया। यह परमानंद श्रीवास्तव की काव्यात्मक संवेदना ही है कि उन्होंने विनोद कुमार शुक्ल की कविताओं के

साथ साहित्यिक वातावरण में उभरते कलावाद और रूपवाद की योजनाबद्ध कोशिशों की सराहना नहीं की और इसे कविता के इतिहास की दुर्घटना कहने का साहस किया। 'अपनी केवल धार' जैसा पद बेशक अरुण कमल ने व्यवहरित किया हो पर यह उस दौर के युवा कवियों की अपनी स्वायत्त पहचान का भी केंद्रीय पद बन गया। इस क्रम में उन्होंने मंगलेश डबराल, ज्ञानेंद्रपति, असद जैदी, अरुण कमल, राजेश जोशी और उदय प्रकाश जैसे कवियों के रूप, रस, गंध और कथ्य की यथार्थवादी पड़ताल की। उन्होंने देखा कि आठवें दशक के कवियों में एक स्पष्ट राजनीतिक रुझान है जो एक तरफ मुक्तिबोध से रस ग्रहण करती है, दूसरी तरफ त्रिलोचन, रघुवीर सहाय और केदारनाथ सिंह जैसे कवियों से भी प्रेरणा पाती है। परमानंदजी ने काव्यात्मक यथार्थ, जीवनधर्मिता, विरुद्धों का सामंजस्य, काव्यात्मक विडंबना, सर्जनात्मक तनाव, परिप्रेक्ष्य संपन्नता जैसे शब्दों का लगातार व्यवहार किया और नए काव्यास्वाद की पहचान के लिए सदैव उत्सुक रहते हुए कविता के प्रतिमानों पर जारी बहस में हस्तक्षेप करते हुए कहा कि प्रतिमानों से कविता नहीं बनती, कविता से ही प्रतिमान बनते हैं। प्रतिमानों से हर हालत में बड़ी ही कविता और कविता से भी बड़ा है जीवन----दुनिया की तमाम महत्वपूर्ण कविताएं मिलकर जिस जीवन समग्रता को पाना चाहती हैं और जो निरंतर कवियों के लिए चुनौती है।

परमानंद श्रीवास्तव ने प्रभूत मात्रा में लिखा है तो जाहिर है इस लिखने की कोई न कोई सार्थक वजह भी उनके पास होगी। अपने कई निबंधों में उन्होंने अपनी रचना प्रक्रिया को भी डायराइज किया है। आलोचना के सृजन सुख में निमग्न रहने वाले परमानंदजी की आलोचना भी रचना की तरह आस्वादक रही है इसलिए अकसर वह दो टूक फैसले देने से बचती और प्रायः समीक्षा की चमकदार पदावलियों में ही बिलम कर रह जाती रही है। तब भी बतौर कवि आलोचक, लिखना सदैव उनके लिए एक नैतिक कार्रवाई की तरह रहा है और बेशक उनका बहुतेरा लेखन तात्कालिक बाध्यताओं की ही उपज है, किंतु रचना के आभ्यंतरिक पाठ और बाह्य प्रभावों को पकड़ने तथा समाज में उसके अंतःसूत्र तलाशने में वे कभी-कभार चकित कर देने वाले निष्कर्षों तक पहुंच सके हैं। इधर उत्तरवर्ती लेखन में उनका ध्यान अकसर ऐसे जुमलों या पदों पर रहा है : 'मसलन गद्य की ताकत कहां है', 'कहानी का अपना छंद कहां हैं', 'प्रगति के नक्शे पर स्त्रियां कहां हैं' या ऐसे प्रत्यय भी उनके यहां बार-बार आते हैं जैसे 'उपन्यास के विरुद्ध उपन्यास', 'आख्यान के विरुद्ध आख्यान', 'कथा के विरुद्ध कथाविनोद', 'धारा के विरुद्ध धारा' यानी उम्मीद के विरुद्ध उम्मीद की तर्ज पर। ऐसा अकसर लगता रहा है कि वे आलोचना में किसी को नाराज नहीं करना चाहते और आलोचक से सब खुश रहें, यह संभव नहीं। इसीलिए वे आलोचना की आस्वादवादी लीक से अलग चलने का जोखिम नहीं उठा पाते थे। वे एक बेहतर समीक्षक तो नजर आते हैं किंतु आलोचना को जिस हद तक सरलीकृत निष्कर्षों से बचाने और अपने दौर की खराब रचना को भी गंभीरता से वर्गीकृत करते हुए खराब बताने की तार्किक परिणतियों तक पहुंचने और उसे समाज के यथार्थ के समानांतर रख कर जांचने का प्रश्न है, वैसे जोखिम उठाने से वे बचते थे। यह अकारण नहीं कि उनकी मेधा कविता के अर्थ की अनेक संभावनाओं की टोह लेती रहती थी तथा यह जानती थी कि अगर कविता का उत्तर जीवन मुमकिन है तो अर्थ की भी अनेक खिड़कियां इस उत्तर समय में खुल सकती हैं।

अंत में कुछ शब्द उनकी कविता पर। समकालीन भारतीय साहित्य के अपने एक संपादकीय में शानी ने एक बार परमानंद श्रीवास्तव की मां पर लिखी एक कविता की कुछ पंक्तियां उद्धृत की

थीं---'वह एक बार फिर खोजता है/तारों में मां का चेहरा/देखता है वह कि एक जरा-से धब्बे- में सिकुड़ कर बैठी है मां/अपनी गिरस्ती का आखिरी दमखम बचाए/उतने छोटे तारे में वहीं समा सकती है--- और लिखा था, 'उपर्युक्त पंक्तियां सिर्फ इसलिए महत्वपूर्ण नहीं हैं कि 'मां' पर लिखी अनेक हिंदी कविताओं से अलग यह अपनी सादालौही, दो टूक मार्मिकता, जड़ों से फूटने वाले जल और सपने की तरह चमकीली और साफ है बल्कि इस बात का भी उदाहरण हो सकती है कि बिना किसी भी तरह के बौद्धिक छद्म, आरोपित मुद्रा और सैद्धांतिक आतंक का सहारा लिए भी तेज धार की प्रासंगिक और कारगर कविता लिखी जा सकती है---तब और जब कविता का विषय स्वयं अपने चरित्र के कारण करुणा का पर्याय बन चुका हो और शायद इसलिए और भी मुश्किल और जोखिम-भरा हो।' 'उजली हँसी के छोर पर', 'अगली शताब्दी के बारे में', 'चौथा शब्द' और 'एक अनायक का वृत्तांत' जैसे संग्रहों के कवि परमानंद श्रीवास्तव को भले ही कविता में विशेष ख्याति न मिली हो किंतु अपने समय की संवेदना को पहचानने की शक्ति उनमें अचूक थी। उनकी कविता इसी संवेदना का आश्रय ग्रहण करती है। हादसे का एक दिन शीर्षक एक कविता में वे लिखते हैं: 'एक दिन ऐसे ही गिरूंगा टूटकर/महावृक्ष के पत्ते-सा/ कुछ पता नहीं चलेगा/ निचाट सुनसान में/चीख फट पड़ेगी बाहर/झूल जाऊंगा रिक्शेत से/लिटा दिया जाएगा खुरदरी जमीन पर/क्या यह अंत से पहले की शुरुआत है?' उन्हें पुरस्कार तो बहुतेरे मिले, 'भारत भारती' भी पर साहित्य अकादेमी सम्मान नहीं मिला और इसका मलाल उन्हें रहा। कविता पर नहीं तो आलोचना पर तो मिल सकता था। उनके पहले संग्रह 'उजली हँसी के छोर पर' पर कुंवर नारायण ने कल्पना में लिखा, 'चौथा शब्द' पर भी काफी कुछ लिखा गया, 'एक अनायक का वृत्तांत' पर मैंने भी लिखा है। चर्चा हुई पर उनका कवि उनके ही आलोचक के आगे बौना रह गया। उनकी संवेदनशीलता का आलम यह कि वह राह चलते ट्रेन में अचानक मिल गई एक स्त्री 'दक्षा पटेल के लिए' एक अत्यंत मार्मिक कविता लिख सकते थे, और अपने अंत का एक आनुमानिक वृत्तांत भी 'हादसे का एक दिन' जैसी छोटी कविता में। 'एक अनायक का वृत्तांत' में उनकी एक कविता है 'हाट बाजार'। कविता सादे ढंग से रची हुई है पर हमारा समय इसमें प्रतिबिंबित होता है : कविता की शुरुआत में लें मुलाहिजा हो।

तुम अश्लीलता बेचते हो
हम तन ढंकने के लिए सूत कपास
तुम विज्ञापनों पर कायम हो विश्व बाजार में
मैं गांव के साप्ताहिक बाजार में खरीदने आया हूं
गेहूं और किरासिन तेल
पशुओं के लिए खली व चारा
तुम बुश के लिए चिंतित हो
मैं बगदाद और बर्बाद इराक के लिए।

उनकी कविता में हमारे समय की कुछ शख्सियतें बार-बार आती हैं जैसे रतन थियम, कारंत, एडवर्ड सईद, निर्मला देशपांडे, गिरिजा देवी, मालिनी राजुरकर, मेधा पाटकर, शबाना आजमी, अरुंधती राय, भानू मजूमदार, असगर अली इंजीनियर, राजेंद्र शाह, रंजना अरगड़े, बिंदु भट्ट और मृदुला पारीक---ये उनके लिए केवल नाम भर न थे, इनके बहाने वे अपने समय से संवाद व जिरह का

रिश्ता, बनाते थे। सच कहें तो वे कविता के अहेरी थे। आलोचना के संपादन काल में उन्होंने अनेक कवियों की कविताएं छापीं किंतु कविता और कवियों से उनकी आशिकी अलग तरह की थी। वे कवियों की सोहबत में जीने वाले इनसान थे पर विश्रांति उन्हें आलोचना की दुनिया में लौट कर ही मिलता था। वे लेखक मित्रों से बतियाते हुए खुरदुरी हथेलियां, नींद थी और रात थी, पानी का स्वाद, पद कुपद, एक जन्म में सब, रोशनी के रास्ते पर, कलिकथा वाया बाईपास, मिट्टी के फल, मैं बोरिशाइल्ला, हमारा शहर उस बरस व यह आकांक्षा समय नहीं और अन्य तमाम ताजातर कृतियों के बहाने जिस तरह अनामिका, सविता सिंह, नीलेश रघुवंशी, अष्टभुजा शुक्ल, अनीता वर्मा, अलका सरावगी, प्रेमरंजन अनिमेष, महुआ माझी, गीतांजलिश्री व गगन गिल आदि कवियों-कथाकारों की चर्चा करते रहते थे, उस सहज भाव से आज भला कौन चर्चा करेगा? वे आज नहीं हैं तो युवा कवियों को आंखों पर बिठा रखने वाला आलोचक जैसे हमारे बीच से विदा हो गया है। अच्छीं कविताएं लिखी जा रही हैं, लिखी जाती रहेंगी पर अच्छी कविताओं की नोटिस लेने वाला उन जैसा सहृदय आलोचक शायद ही मिले।

हरिकृष्ण देवसरे : बच्चों के पसंदीदा लेखक

यह कितने अचरज की बात है कि बच्चों का एक लेखक बाल दिवस को ही महाप्रयाण करे। ऐसा ही हुआ बच्चों के अप्रतिम लेखक हरिकृष्ण देवसरे के साथ। जब समूचा देश नेहरू के जन्म दिवस पर बाल दिवस मना रहा था, विद्यालयों संस्थानों आदि में बच्चों के समारोह आयोजित हो रहे थे, बाल साहित्य पर यत्र-तत्र गोष्ठियां चल रही थीं, उसी दिन हिंदी का यह लाड़ला बाल साहित्यकार इस जीवन से अपना जाल समेट रहा था। 14 नवंबर 2013 को देवसरेजी ने इहलोक में अंतिम सांसें लीं।

मध्य प्रदेश के नागोद में 9 मार्च 1938 को पैदा हुए देवसरे हिंदी साहित्य के अग्रणी लेखकों में शुमार किए जाते हैं। बाल साहित्य में योगदान के लिए उन्हें 2011 में साहित्य अकादेमी बाल साहित्य लाइफटाइम पुरस्कार से सम्मानित किया गया था। 250 से ज्यादा पुस्तकें लिख चुके देवसरे को बाल साहित्यकार सम्मान, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान के बाल साहित्य सम्मान, कीर्ति सम्मान (2001) और हिंदी अकादमी के साहित्यकार सम्मान (2004) व वात्सल्य पुरस्कार सहित कई पुरस्कारों और सम्मानों से अलंकृत किया गया है। वे ऐसे पहले लेखक हैं जिन्होंने बाल साहित्य में पीएचडी की उपाधि ग्रहण की। उन्होंने भारतीय भाषाओं में रचित बाल-साहित्य में रचनात्मकता पर बल दिया और बच्चों के लिए मौजूद विज्ञान-कथाओं और एकांकी के खालीपन को भरने की कोशिश की। देवसरे ने 2007 में न्यूयॉर्क में आयोजित विश्व हिंदी सम्मेलन में भी भाग लिया था।

बाल साहित्य को एक अरसे तक हिंदी साहित्य के इतिहास में चर्चा के योग्य नहीं समझा जाता था। यहां तक कि बाल रचनाकारों को हिंदी की अन्य विधाओं के रचनाकार हेय दृष्टि रखते थे। वे बाल साहित्य को कमतर प्रतिभा के लेखकों का साहित्य समझते थे। ऐसे वक्त में द्वारिकाप्रसाद माहेश्वरी, निरंकार देव सेवक व हरिकृष्ण देवसरे जैसे लेखकों ने बाल साहित्य की कमान अपने हाथ में ली। संभवतः निरंकार देव सेवक की शोध कृति के बाद 'हिंदी बाल साहित्य एक अध्ययन' बाल साहित्य पर एक ऐसी पुस्तक थी जिसके आधार पर बाल साहित्य का व्यवस्थित अध्ययन शुरु हुआ।

जब मैंने हिंदी के जाने माने बालगीतकार द्वारिकाप्रसाद माहेश्वरी पर आलोचनात्मक कृति लिखनी शुरू की तो सबसे पहले मैंने देवसरेजी व निरंकार देव सेवक की बाल साहित्य विषयक पुस्तक का ही

संदर्भ ग्रहण किया। हिंदी में बाल साहित्य का ऐसा व्यवस्थित लेखा-जोखा करने वाला दूसरा लेखक आज हमारे बीच नहीं है। कविता, कहानी, नाटक, आलोचना आदि विधाओं में उनकी लगभग 250 पुस्तकें प्रकाशित हैं। वे अरसे तक बच्चों की लोकप्रिय पत्रिका पराग के संपादक रहे तथा अंत तक बाल साहित्य की विभिन्न विधाओं को अपनी कृतियों से समृद्ध करते रहे।

देवसरेजी लेखक होने के साथ-साथ कुशल संपादक भी थे। उनके संपादन में बाल साहित्य की विभिन्न विधाओं की कई पुस्तकें प्रकाशित हुईं। मुझसे अकसर द्वारिकाप्रसाद माहेश्वरी कहा करते थे कि हिदी बाल साहित्य में देवसरे का काम बड़ा है। देवसरे एक ऐसे आधुनिक बाल साहित्य लेखक व संपादक थे जिन्होंने बाल साहित्य के नाम पर राजा-रानियों तथा परियों तथा भूतप्रेतों की कहानियों की प्रासंगिकता के सवाल खड़े किए और मौलिक लेखन को प्रोत्साहित किया।

और अंत में के.पी.

जिस दौर में श्रीलाल शुक्ल, हरिशंकर परसाई और शरद जोशी जैसे लेखकों का बोलबाला रहा हो, व्यंग्य की महीन-से-महीन बुनावट और धारदार व्यंग्य से इसे एक सम्यक विधा के रूप में स्थापित किया जा रहा हो, ऐसे समय में हास्य-व्यंग्य की एक अलग शैली से खुद को व्यंग्यकार के रूप में स्थापित कर पाना आासान नहीं है। के.पी. सक्सेना उसी दौर की अगली पीढ़ी के ज्वलंत हस्ताक्षर रहे हैं, जिन्होंने अपनी हास्य-व्यंग्यपरक रचनाओं से लगभग तीन-चार दशकों तक पाठकों को अपना मुरीद बनाए रखा हो। गत 31 अगस्त, 2013 को वे हमारे बीच नहीं रहे।

एक समय 'धर्मयुग' और 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' और दैनिक अखबारों में उनकी व्यंग्य रचना छाई रहती थीं। उन्हें पढ़ना अपने भीतर के अवसादों से मुक्ति पाने जैसा था। उनके व्यंग्य में गजब की पठनीयता होती थी और अनेक बार आप बिना खिलखिलाए हुए नहीं रह सकते थे। उनके व्यंग्य संग्रह 'नया गिरगिट' में एक ऐसी शैली की व्यंग्य रचनाएं देखने को मिलती हैं, जिसे पढ़ते हुए माथे पर बल नहीं पड़ते। वे एक तरफ पाठकों को गुदगुदाने वाले लेखक थे तो दूसरी तरफ दुनिया-भर की चिंता ओढ़े हुए पाठकों को चिंतामुक्ति का मार्ग भी सुझाते थे। हास्य कवियों के बीच वे मंच पर भी खूब जमते थे। उनके गद्य की एक-एक पंक्ति श्रोताओं को लोटपोट कर देती थीं।

अकसर लोगों का रेलवे से वास्ता पड़ता है पर रेल की खटर-पटर के बीच कोई कालिका प्रसाद सक्सेना भी है जो स्टेशन मास्टर होते हुए भी अपने व्यंग्य से लाखों को गुदगुदा देने की क्षमता रखता है। यह जानकारी बहुतों को न थी। आकाशवाणी, दूरदर्शन के लिए उन्होंने अनगिनत नाटक लिखे। दूरदर्शन के लिए लिखे उनके धारावाहिक 'बीबी नातियों वाली' को बेहद पसंद किया गया। उन्होंने अपने व्यंग्य के पात्रों--भैनजी और मिर्जा के जरिए अपने वक्त की विडंबनाओं की जमकर खबर ली। यूं तो वे रहने वाले बरेली के थे, किंतु उनके व्यंग्य का मिजाज लखनऊ था। लखनऊ में बसने के साथ-साथ उन्होंने अपने हास्य-व्यंग्य को उस व्यंग्य की तेजोदीप्त परंपरा से अलग किया, जिसके उन्नोय लेखकों में हरिशंकर परसाई, श्रीलाल शुक्ल, शरद जोशी, रवींद्रनाथ त्यागी और मनोहर श्याम जोशी जैसे लेखक रहे हैं और जिस तेवर का प्रतिनिधित्व आज ज्ञान चतुर्वेदी जैसे लेखक कर रहे हैं। के.पी. सक्सेना प्रथमतः और अंततः अपनी किस्म के एक अलग लेखक थे, जिनका व्यंग्य अपनी भाषा, अपने शिल्प, अपने अंदाजे बयां और लखनवी मिजाज से दूर से ही पहचाना जाता रहा है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि : वंचितों की आवाज

अजय नावरिया

ओमप्रकाश वाल्मीकि हिंदी के पहले ऐसे दलित कथाकार थे जिनके बिना हिंदी में दलित विमर्श पर कोई भी चर्चा बेमानी है। उन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से हाशिए पर पड़े दलित समाज की सच्चाई से हिंदी पाठकों को परिचित कराया। उनका आसमयिक निधन हिंदी के दलित साहित्य के लिए अपूर्णनीय क्षति है। ओमप्रकाश वाल्मीकि को रचनाकर्म और व्यक्तित्व के माध्यम से याद कर रहे हैं प्रतिभाशाली युवा दलित कथाकार अजय नावरिया :

वर्ष 2013 जा रहा है और इस जाते हुए साल ने हमारे साहित्यिक परिवार के कई प्रिय संबंधियों को हमसे दूर कर दिया। 28 अक्टूबर को आदरणीय राजेंद्र यादवजी का जाना तो कुछ दिनों के लिए एकदम स्तब्ध कर गया। मुझे लगता है कि मैंने पहली बार किसी की मृत्यु को महसूस किया। इससे पहले मृत्यु हमेशा मुझसे बहुत दूर घटित होती थी, आसपास नहीं।

ओमप्रकाश वाल्मीकि के निधन ने भी मुझे विचलित किया। उनसे मेरे बहुत लंबे साहित्यिक संबंध थे। लगभग सन् 2000 से हमरी नजदीकियां बनना शुरू हुई थी।

दलित साहित्य से मेरा परिचय दया पवार की आत्मकथा 'अछूत' से हुई थी। इस आत्मकथा से पूर्व मैं डॉ. अंबेडकर के संपूर्ण साहित्य को पढ़ता रहता था जिसे अंबेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली प्रकाशित करता है। डॉ. अंबेडकर के विचारों ने मुझे एक नई दृष्टि दी। बाद में, मैंने ज्योतिबा फुले की 'गुलामगिरी' पढ़ी और उनकी शैली, कहना चाहिए कि आक्रामक शैली से अचंभित रह गया।

सन् 2000 में, ओमप्रकाश वाल्मीकि को जब पहली बार देखा, तब वे व्याख्यान दे रहे थे और लगभग वही आक्रामक मुद्रा उनकी भी थी। दलित साहित्य के प्रेरणास्रोत डॉ. अंबेडकर के विचार हैं, शायद इसीलिए दलित साहित्य की शुरुआत सर्वप्रथम महाराष्ट्र में ही हुई। आत्मकथा के अलावा, कहानी, कविता, विचारात्मक निबंधों में भी मराठी साहित्य को समृद्ध किया।

आत्मकथा विधा की दृष्टि से देखें तो मराठी भाषा में अतुल्य साहित्य पहले से विद्यमान था। दया पवार, बेबी कांबले, बाबूराव बागुल आदि ने इस विधा को समृद्ध किया है।

यह सही है कि हिंदी पट्टी में दलित साहित्य को स्थापित करने वाले श्री ओमप्रकाश वाल्मीकि ही थे। वाल्मीकिजी ने दलित साहित्य में अखिल भारतीय स्तर पर छवि बनाई। पूरे भारत में दलित साहित्य की महानायकत्व छवि में जिन साहित्यकारों को गिना जाता है, वाल्मीकिजी उनमें से एक थे।

यों देखा जाए तो ओमप्रकाश वाल्मीकि लगभग अपनी युवावस्था से ही साहित्य में सक्रिय थे। परंतु उन्हें व्यापक पहचान 1995 के बाद हंस में छपने के बाद मिली। वाल्मीकिजी ने इतने कम

समय में अपनी साहित्यिक और सामाजिक, सक्रियता के अनेक रूप, रंग समाज को दिए। कविताओं, कहानियों के अलावा, आत्मकथा, अनुवाद तथा वैचारिक लेखन के माध्यम से उन्होंने बहुत कुछ रचा।

उन्होंने शुरुआत कविताओं से की थी और फिर कहानियां और आत्मकथांश लिखे। शुरुआती दौर के उनके दो कविता संग्रह हैं- 'सदियों का संताप' और 'बस्स बहुत हो चुका'। इसके बाद हाल ही में 'अब और नहीं' संग्रह भी आया। वाल्मीकिजी ने हिंदी में एम.ए. स्तर तक शिक्षा जरूर प्राप्त की थी परंतु यह नियमित अध्ययन नहीं था। वे युवतर अवस्था में ही तकनीक के क्षेत्र में चले गए थे और वहीं से नौकरी करते हुए उन्होंने विषम परिस्थितियों में अपनी शिक्षा जारी रखी। शुरुआती कविताओं से ही यह आभास होता है कि उन्हें हिंदी भाषा की गहरी समझ थी। उन्होंने शब्दों के नए अर्थों के अन्वेषण का भी सार्थक प्रयास किया।

हिंदी साहित्य में सन् 1990 के बाद की समयावधि कई अर्थों में महत्वपूर्ण है। संभवतः पहली बार, इतने बड़े पैमाने पर साहित्यिक विमर्शों की शुरुआत, इस कालावधि में हुई। ऐसा नहीं है कि दलित, स्त्री आदि के मुद्दे अचानक ही परिदृश्य पर उभरकर आ गए बल्कि कहना चाहिए कि इनकी जमीन पिछले कई दशकों में धीमे-धीमे तैयार हो रही थी। हिंदी पट्टी में दलित साहित्य और विमर्श के प्रवर्तक ओमप्रकाश वाल्मीकि थे। उन्होंने, हिंदी पट्टी को दलित समाज के दुखों और यातनाओं से अवगत कराया। ओमप्रकाशजी का जन्म 30 जून 1950 को मुजफ्फरनगर जिले के बरला गांव के एक दलित परिवार में हुआ। ग्रामीण जीवन में दलित समुदाय के लिए अनेक बाधाएं थीं। यों तो भारत में सभी जातियों में अस्पृश्यता और ऊंच-नीच फन फैलाए खड़ी हैं परंतु ग्राम्य जीवन तो इस अर्थ में लगभग सडांध से भरा हुआ है। डॉ. अंबेडकर ने इसीलिए भारतीय गांवों को 'अमानुषिकता के अड्डे' कहा था।

हिंदी साहित्य में तब तक प्रचलित 'अहा ग्राम्य जीवन' का विलोम ओमप्रकाश वाल्मीकि ने रचा। ग्रामीण जीवन में दलितों के दिन कैसे बीतते थे; इसका पता उनकी कविताओं और कहानियों से तो लगता ही है परंतु आत्मकथा ने 'जूठन' ने तो जैसे उसे कल्पना से यथार्थ की जमीन पर ला खड़ा किया। ऐसा नहीं है कि भारत में प्रतिरोध की पीठिका में सवर्ण जातियों का योगदान नहीं है। कहना चाहिए कि न केवल सती प्रथा, विधवा विवाह, भूमि सुधार बल्कि जाति-व्यवस्था की प्रचंडता पर भी सवर्ण विचारकों और आंदोलनकारियों ने भरसक कार्य किया।

आधुनिक भारत के जनक राजा राममोहन राय के अलावा दयानंद सरस्वती ने आर्य समाज के माध्यम से उत्तर भारत में जाति-व्यवस्था पर जमकर प्रहार किए। उन्होंने वेद को प्रमाण मानकर धर्मांध और जातिवादी पुरोहितों को शास्त्रार्थ में हराया और स्थापित किया कि जाति-व्यवस्था, वेद सम्मत नहीं है परंतु पुरोहितों और उनके कर्मकांड से अक्रांत सामान्य सवर्ण जनता का अधिकांश उसी तरह हिंसक और जातिवादी रहा। हरियाणा और विशेषकर पंजाब में इसका प्रभाव कुछ ज्यादा जरूर था।

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपने संग्रह 'बस्स! बहुत हो चुका' में उन्हीं जातिवादी पुरोहितों को ललकार कर पूछा है :

'चूहड़े या डोम की आत्मा
ब्रह्म का अंश क्यों नहीं है

मैं नहीं जानता
शायद आप जानते हों...'
.....
इसी तरह, वे अछूत होने की पीड़ा को दर्ज करते हैं :-
'नहीं बोए कांटे
बांटे सिर्फ
शगुन प्यार के
फिर भी रहे अछूत'

इस तथ्य को कौन नहीं जानता कि अगर वाल्मीकि समुदाय अपना परंपरागत व्यवसाय छोड़ दे तो शहर और गांव में गंदगी से तबाही मच जाएगी, महामारियां फैल जाएंगी। डॉ. अंबेडकर ने उस तबही की तुलना किसी विश्वयुद्ध के कारण हुए विनाश से करते हुए सफाईकर्मियों को अपनी शक्ति पहचानने का आह्वान किया था। विस्मय की बात यह है कि इन्हीं अनिवार्य सेवाओं से जुड़े व्यक्ति और समुदायों को, हिंदू समाज ने घृणित और अछूत बना दिया, जिनके बिना उनका एक भी दिन काम नहीं चलता।

'बैल की खाल' कहानी 'हंस' पत्रिका में प्रकाशित हुई। इस कहानी में गांव के पंडित बिरिन मोहन के खेतों की जुताई के समय बैल मर जाता है। वाल्मीकिजी लिखते हैं- 'जब तक बैल जीवित था तो कोई बात नहीं थी। कब तक अन्न उगाने वाला बैल मरते ही अपवित्र हो गया था जिसे छूना तो दूर उसके पास खड़े होना भी किसी पाप से कम न था।'

गांवों में दुर्गंध मारती पवित्रता की भावना ने पूरे पूरे परिवेश को सड़ा दिया है। दिखने में एक गांव, भीतर से इतने खानों में बंटा होता है कि कोई व्यक्ति इसमें एकात्म महसूस नहीं कर सकता। ऐसी ग्रामीण व्यवस्था में सिर्फ पुरोहित और जमींदार ही सुखपूर्वक रह सकते हैं और इस व्यवस्था के बने रहने की मनोकामनाएं और उपक्रम कर सकते हैं।

'सलाम' कहानी में गांव और शहर की आर्थिक और सांस्कृतिक संरचनाओं के विभेद को बहुत ही संवेदनशील ढंग से उठाया गया है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की यह विशेष है कि वे अपनी कहानियों में 'उपदेश और बड़बोलेपन' की अपेक्षा 'स्थितियों की खटखटाहट से काम लेते हैं। ऐसी दारुण स्थितियां उनकी कहानियों में आती हैं कि पाठक की अंतश्चेतना गहरे तक प्रभावित होती है। वाल्मीकि परिवार में जन्मा हरीश एक शहरी लड़का है। उसका दोस्त कमल उपाध्याय जो कि ब्राह्मण है, उसके साथ, हरीश के विवाह में गांव जाता है। यहां शुरू होती है आत्मविश्वास को तोड़ने की रस्म-सलाम अर्थात् दूल्हा और दुल्हन को साथ-साथ गांव के सवर्णों के यहां जाकर सलाम कहता और बदले में कपड़ा लत्ता, पैसा आदि पाना। पर 'हरीश ने भी स्पष्ट तौर पर कह दिया था, 'मुझे न ऐसे कपड़े चाहिए, न बर्तन, मैं अपरिचितों के दरवाजे 'सलाम' पर नहीं जाऊंगा।' (सलाम कहानी)

अकसर लोग और यहां तक कि साहित्य आलोचक भी भारत के गांवों की महिमा गाते नहीं थकते। गांधीजी भी ग्राम-व्यवस्था के प्रबल समर्थक रहे। गांवों में दलित-पिछड़ों, गरीबों और वंचितों की स्त्रियों और लड़कियों की भी भयानक दुर्गति होती है।

'ओमप्रकाश वाल्मीकि के कथाकार ने इसे भी बखूबी पकड़ा था। यह मानसिकता, वहां

शक्ति-संरचना में बैठे अधिकांश लोगों की होती है और शेष जनता भय अथवा लालच के कारण सक्रिय सहयोग अथवा निष्क्रिय भागीदारी करती है।

कमल उपाध्याय की जाति ब्राह्मण मानने की गांववाले इसलिए तैयार नहीं हैं क्योंकि आखिर एक ब्राह्मण, वाल्मीकि समुदाय के लड़के की शादी में कैसे आ सकता है। वे समझते हैं कि यह झूठ बोल रहा है। कमल जब उद्‌बोधन करते हुए सबको भाईयों कहता है तो.... 'बात पूरी होने से पहले ही रामपाल ने उसे डांटा, 'ओ, शहरी जनखे हम तेरे भाई हैं? साले जबान सिंभाल के बोल, गांड में डंडा डाल के उलट दूंगा। जाके जुम्मन चूहड़े से रिश्ता बणा। इतनी जोरदार लौंडिया लेके जा रे हैं शहर वाले, जुम्मन के तो सींग लिकड़ आए हैं। अरे लौंडिया को किसी गांव में ब्याह देता तो म्हारे जैसों का भी कुछ भला हो जाता.... एक तीखी हँसी का फव्वारा छूटा। आसपास खड़े लोगों ने उसकी हँसी में अपनी हंसी मिला दी।'

भारतीय गुलामी का कारण, भारतीय जाति व्यवस्था रही है परंतु भारतीय समाज अब भी इसे मानने को तैयार नहीं है। दलित साहित्य ने भारत की मूलभूत संरचना और उस से उत्पन्न समस्याओं को अपने रचना का उपजीव्य बनाया है। ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपने साहित्य में उन मौलिक अधिकारों की लड़ाई लड़ी है जो मनुष्य के अस्तित्व से जुड़ी हैं। वे लिखते हैं

'बस्तियों से खदेड़े गए, ओ मेरे पुरखो
तुम चुप रहे उन रातों में
जब तुम्हें प्रेम करना था
तुम तलाशते रहे मुठ्ठी भर चावल
सपने गिरवी रखकर...'

उनके बारे में यह कहने में जरा भी संकोच नहीं होता कि उन्होंने कहानी विधा पर भी ऐसा ही सहज अधिकार बना लिया था, जैसे कविताओं पर। आम तौर पर ऐसा कम होता है। 'सलाम', 'घुसपैठिए' और हाल ही में प्रकाशित 'छतरी' उनके ऐसे कहानी संग्रह हैं जिनमें दलित जीवन के स्याह और दमघोंटू क्षणों का वर्णन है। 'जूठन' नाम से उनकी आत्मकथा आने से, पहले ही उनके आत्मकथांश इधर-उधर पत्रिकाओं में, विशेषकर, 'हंस' में छपने लगे थे। राजेंद्र यादव ने अपने संपादकीय और 'हंस' में उन्हें यथेष्ट और यथोचित सम्मान दिया। 'जूठन' आत्मकथा ने दलित जीवन की यातना और बेबसी को राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर विमर्श का मुद्‌दा बना दिया। 'जूठन' जहां अपने कथ्य के लिए चर्चित हुई, वहीं इसकी बेबाक भाषा ने भी साहित्य समाज का ध्यान आकर्षित किया।

वाल्मीकिजी की भाषा में विविध रंग हैं। कविता की भाषा वही नहीं है जो कहानियों की है और आत्मकथा की भाषा में तीसरा रंग है। कहानियों में उन्होंने अपने क्षेत्र की बोली का भी पुट दिया है जो कथ्य को प्रामाणिकता प्रदान करती है। स्थानीयता का यह प्रभाव आत्मकथा में भी उन हिस्सों में आया है, जो उनके बचपन से संबंधित है। कविताओं में मिथकीय प्रयोग उनके यहां खूब मिलता है।

बहुत कम लोग जानते हैं कि ओमप्रकाश वाल्मीकि एक मंजे हुए अभिनेता भी थे और निर्देशक भी। उन्होंने लगभग साठ नाटकों में अभिनय भी किया। अनेक नाटकों का उन्होंने निर्देशन किया। उनकी पत्नी भी नाटकों में सहयोगी भूमिकाएं निभाती थीं। वाल्मीकिजी अकसर उनकी नाट्य प्रतिभा

की प्रशंसा आत्मीय मुलाकातों में करते थे।

दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र', 'सफाई देवता' तथा 'मुख्यधारा और दलित साहित्य', जैसी आलोचनात्मक और विचारपरक पुस्तकों के माध्यम से उन्होंने अपने समय में सार्थक हस्तक्षेप किया।

ओमप्रकाश वाल्मीकि उच्च स्तर के लेखक ही नहीं थे बल्कि ओजस्वी वक्ता भी थे। भाषण कला में वे खासे निपुण थे। यह कला उन्होंने अकादमिक जीवन के नहीं बल्कि सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में अर्जित की थी। वे भाषण देते-देते इतने आवेश में आ जाते तो लगता था कि अब लड़ ही पडेंगे परंतु यही आक्रामकता, अगले ही क्षण में मोहक मुस्कान का रूप धारण कर लेती तो सहसा विश्वास ही नहीं होता कि कौन सा रूप प्रामाणिक था। शायद इसके सूत्र रंगमंच से जुड़े हैं या फिर उनकी आंतरिक उदारता से।

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने कुछ चुनी हुई पुस्तकों का अंग्रेजी तथा मराठी से हिंदी में अनुवाद भी किया। प्रसिद्ध समाजशास्त्री कांचा इलैया की विश्वप्रसिद्ध पुस्तक 'वाई आय एम नॉट अ हिंदू' का हिंदी अनुवाद 'क्यों मैं हिंदू नहीं हूं' शीर्षक से किया। इसी तरह, 'साइरन का शहर' कृति का मराठी से हिंदी में अनवुाद किया। अनुवाद का यह चयन भी उनकी दृष्टि का परिचायक है।

वे प्रथम हिंदी दलित साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष रहे। उन्हें कई पुरस्कार भी प्राप्त हुए परंतु वे इस सब से निर्लिप्त अपनी साहित्य साधना में लगे रहे। इधर यह सुनने में लगातार आ रहा था कि वे अपनी आत्मकथा 'जूठन' का दूसरा हिस्सा लिख रहे हैं। कैंसर जैसी लगभग असाध्य बीमारी से जूझते हुए वे इसे पूरा कर रहे थे। मृत्यु भी जैसे उन्हें अपने कर्तव्य पथ से डिगा नहीं पा रही थी।

मैंने अपने जीवन में ऐसी जीवन शक्ति कम ही लोगों में देखी है। मैं जब उनसे अंतिम बार मिला, तब वे सर गंगाराम अस्पताल (दिल्ली) में इलाज के सिलसिले में आए थे। उन्हें उनकी बीमारी के बारे में पहले से ही पता चल चुका था परंतु वे मुझे देखकर जिस तरह तपाक से मिले, मैं हैरान रह गया। उनके चेहरे पर मृत्यु का कोई विचार तक न था। वे इधर-उधर की बातें करते रहे। राजेंद्र यादव और रमणिका गुप्ता के स्वास्थ्य के बारे में पूछा और दिल्ली की साहित्यिक गतिविधियों पर बात हुई। तब तक उन्होंने अपनी पत्नी को यह नहीं बताया था कि उन्हें क्या बीमारी है। हमें भी उन्होंने मना किया।

अपने इलाज के सिलसिले मे अकसर दिल्ली आना पड़ता था और दिल्ली में ऐसे कई मेजबान थे जो उन्हें सिर आंखों पर बिठाते थे। प्रो. हेमलता माहीश्वर, कथाकार कौशल पंवार और कैलाश चंद्र चौहान का घर तो उनके स्वागत के लिए सदा तत्पर रहता था। इस तरह, ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपने परिवार का विस्तार किया था। अनजाने, अपरिचित लोग उनके नितांत निजी सदस्य हो गए थे।

अपनी व्यस्तताओं के कारण,वे पुस्तकों की समीक्षा नहीं करते थे परंतु मन आने पर वे इससे भी हाथ पीछे नहीं खींचते थे। मेरा कहानी संग्रह 'पटकथा और अन्य कहानियां' आया तो मुझसे फोन पर कहा कि मैं इसकी समीक्षा 'इंडिया टुडे'के लिए कर रहा हूं। ऐसी भूरि-भूरि प्रशंसा के साथ यह समीक्षा 'इंडिया टुडे' में प्रकाशित हुई कि मैं अभिभूत हो गया।

वाल्मीकि अपने विचारों में जितने कठोर थे, व्यावहारिक जीवन में उतने ही हँसमुख थे। मित्रों के साथ उनका व्यवहार जब हँसी मजाक का रहता था। संयोग से मुझे उनके साथ कई अवसर मिले।

पहली बार, जब मैं उनसे मिला था, यह वर्ष संभवतः 2000 का था। देशबंधु, कॉलेज में वे व्याख्यान देने आए थे। हमारे एक मित्र पदम परिहार उन पर अपना शोध कार्य कर रहे थे। उन्हीं के साथ, मैं देशबंधु कॉलेज उनसे मिलने पहुंचा। वे बहुत सहृदयता से मिले। कहना चाहिए कि वे 'बतरसी' थे! बहुत उत्साह और रुचि दिखाते थे, बातचीत में! आप न भी बोलें वे खुद तरह-तरह के नए विषयों पर बात करते।

एक बार, हम लोग जयपुर लिटरेचर फेस्टीवल में साथ थे तब पहली बार उन्हें मैंने रसरंजित अवस्था में देखा। सुबह के सत्र समाप्त हो चुके थे। हम दोनों एक सत्र में साथ भी थे। संध्याकालीन रसरंजन में उस समय प्रख्यात कथाकार चिंतक हरिराम मीणा भी थे। यह मेरे लिए लगभग अविश्वसनीय था। हमने यही सुना था कि वे इस सबसे कोसों दूर रहते हैं। उस शाम वे अपने पूरे शबाब पर थे। अपने प्रेम और घृणा को उन्होंने जरा भी नहीं छिपाया।

शिमला के भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान में हम तीन दिन साथ रहे। अभय कुमार दुबे ने 'आधुनिकता' पर एक कार्यशाला आयोजित की थी। इसमें सुधीश पचौरी, सुधीर चंद्र, अनामिका, संजीव कुमार, शीबा असलम फहमी आदि सहित अनेक विद्वान शामिल थे। वहां भी उनकी गंभीरता और हास्य के अनेक अवसर बने। बच्चों से वे बहुत खुश होकर बात करते थे। बच्चों से बात करते हुए उन्हें देखना अकथनीय अनुभव है। इसी तरह, वे अपनी पत्नी के प्रति भी पूरी तरह धर्मनिष्ठा से रहते थे। किसी भी कार्यक्रम में जाने से पूर्व ही वे यह तय कर लेते थे कि उनकी पत्नी साथ होंगी। व्यवस्था पूरी चाक-चौबंद होनी चाहिए। इसके अभाव में वे बेलिहाज होकर, कार्यक्रम रद्द कर देते थे। कहना न होगा कि ओमप्रकाश वाल्मीकि हिंदी क्षेत्र में दलित साहित्य के प्रमुख पुरुष थे। उन्होंने दलित साहित्य को उच्चतर शिखर पर स्थापित किया। 17 नवंबर 2013 को ओमप्रकाश वाल्मीकि का निधन देहरादून में मात्र 63 वर्ष की आयु में हुआ। उनका पहला कहानी संग्रह 'सलाम' सन् 2000 में प्रकाशित हुआ। इससे पूर्व वे 'सदियों का संताप' (कविता संग्रह) लिख चुके थे। 'घुसपैठिए' और 'छतरी' उनके दो अन्य कहानी संग्रह हैं। इसके अलावा 'बस्स! बहुत हो चुका' और 'अब और नहीं' उनके अन्य उल्लेखनीय कविता-संग्रह हैं।

उनकी आत्मकथा 'जूठन' ने न केवल राष्ट्रीय स्तर पर, बल्कि अंतरराष्ट्रीय स्तर पर ख्याति अर्जित की। अनेक भारतीय भाषाओं तथा अंग्रेजी में उसका अनुवाद हुआ। आत्मकथा में वर्णित अनुभवों ने दलित साहित्य की परिभाषा का एक आयाम गढ़ा।

दलित साहित्य को वैचारिक पीठिका प्रदान करने के उद्देश्य से उन्होंने 'दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र', 'सफाई देवता', 'मुख्यधारा और दलित साहित्य' जैसी आलोचनात्मक और विचारपरक पुस्तकें भी लिखीं। कई महत्वपूर्ण अनुवाद भी उन्होंने किए। हिंदी और अंग्रेजी के अलावा वे मराठी भाषा के भी अच्छे ज्ञाता थे। उनका अध्ययन क्षेत्र विस्तृत था। उन्होंने स्वयं लिखा है कि 'प्रेमचंद, शरत चंद्र, डॉ. अंबेडकर, ज्योतिबा फुले, राहुल सांकृत्यायन, बुद्ध, मार्क्स, दया पवार, बाबूराव बागुल, एलेक्स हेली, जेम्स बाल्डविन आदि के साहित्य ने मुझे एक ऐसी अनुभूति दी जो मेरी पीड़ा की अभिव्यक्ति बन गई। उनके साहित्य में जो जद्दोजहद थी वह सिर्फ मेरी नहीं पूरे शोषित की पीड़ा थी।'

ओमप्रकाश वाल्मीकि एक रचनाकार के रूप में व्यापक दृष्टि और संश्लिष्ट संवेदनशीलता के लिए रेखांकन योग्य हैं। दलित साहित्य के अग्रदूतों और अग्रिम पंक्ति के महानायकों में उनकी गणना की जाती है। वे शोषित-दलित जनता की भावनाओं के रचनाकार थे।

लंबी मलयालम कहानी

मनोमी

मूल : माधविक्कुट्टि

अनुवाद : डॉ. तंकमणि अम्मा

मनोमी

मेरा नाम मनोमी है। मेरे भारतीय श्रोतागण पूछेंगे कि यह कैसा नाम है? यह सिंहलियों का नाम जैसा लगता है। ठीक है। आम तौर पर यह ऐसे नामों में से है जो सिंहल लोग अपनी बच्चियों को देते हैं। मैं सिंहल की हूं। अब आप मेरे भारत आने के कारण की खोज करेंगे। जब भारत और श्रीलंका के बीच का मनमुटाव जारी है, ऐसे माहौल में मैं अब क्यों भारत आयी? क्या, मेरा उद्देश्य जासूसी है? आपके मन में कई प्रकार की शंकाएं उभरकर आती होंगी इसलिए मैं अपने अतीत की कथा आपके सम्मुख प्रस्तुत करती हूं।

मेरे पिता सरत् टेन्नक्कून है जो तमात्तरा में पैदा हुए। माताजी करुनेगल निवासिनी पुण्यकांति। हम वेल्लावाट्टे नामक स्थान के एक दुमंजिले मकान में सकुशल जी रहे थे। उस इलाके में पचहत्तर प्रतिशत तमिल लोग थे। डॉक्टर, इंजीनियर, प्रोफेसर सब तमिल के थे। सब के सब सिंहल भाषा जानने वाले थे! हम उनके पड़ोसी और पारिवारिक मित्र रहे थे। सिंहल निवासी तमिल समझ सकते हैं। बड़ी मुश्किल से तमिल बोल भी सकते हैं। उनके त्योहारों में हमने भाग लिया था। हमारे पर्वों में उन लोगों ने भी। स्कूल में पढ़ते वक्त परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए मैंने और अपने सिंहल मित्रों ने कट्टरगामा मंदिर में मन्नतें चढ़ाई हैं। जिस लाघव से भोजन बांटते थे उसी लाघव से उपासना मूर्तियों को भी बांटकर दोनों वर्गों के लोगों ने जीवन बिताया। बीच-बीच में कोई सिंहल निवासी तमिल लोगों के काले रंग या उनके 'रस' के बारे में निंदा करता। कभी तमिल लोग सिंहल निवासियों आलस्य की आलोचना करते। कभी भी वह मारकाट में परिणत नहीं होता था। मेरा शैशव शांत था। हमारे पड़ोस में अण्णादुरै का परिवार था। अण्णादुरै मामा की पत्नी चिवकामी को तथा प्रकाशम, रूपवती और सुंदरम नाम के तीनों बच्चों को मैंने अपने परिवार के सदस्य माना था। पिताजी और अण्णादुरै मामा रोज शाम को हमारे घर के ऊपर के छज्जे पर बैठकर ही विस्की पीते थे। अण्णादुरै मामा निजी व्यापार खोलने की जमीन खरीदने के लिए पैसे के अभाव में जब परेशान हुए तब मेरे पिताजी ने मेरी माता की एक दर्जन सोने की चूड़ियां और तीन लड़ियों वाला मोती का हार उन्हें दिए थे। यह कहानी मैंने अक्सर उनके मुंह से ही सुनी थी। जब कभी वह कर्ज चुकाने की बात कहने लगते तो पिताजी कहते थे- "अण्णा! वह कर्ज तो चुकाने का नहीं।'

फिर क्या? अण्णादुरै मामा बड़े धनी बन गए। उन्होंने श्रीलंका में कारखाना खोला। चार साल

बाद उसे बेचकर मद्रास चले गए। एक चिट्ठी में उन्होंने पिताजी को यों लिखा था कि उनका भाग्य है कि अपने इलाके के कुछ युवकों को नौकरी देने का मौका उन्हें मिल गया है। पिताजी चिट्ठी पढ़कर हँस पड़े।

पिताजी ने कहा 'श्रीलंका भी उन्हें अपना ही देश रहा था न?' वे आपस में पत्र-व्यवहार किया करते थे। हर साल दो चिट्ठियां, परिवार के सदस्यों और देश के समाचारों पर लिखी गई लंबी चिट्ठियां। रिश्ते का यह सिलसिला कभी न टूटा। जुलाई 1983 में तमिल लोगों ने श्रीलंका के जवानों को मारा था और श्रीलंका के लोगों ने तमिलों को आग में भून डाला था। तब भी वह दोस्ती न टूटी। क्योंकि उन दोनों ने मानव प्रेम पर भरोसा रखा था। राजनीति, धर्म, वर्ण आदि से परे जो प्रेम है उस पर उनका पूरा भरोसा था। प्रकाशम, रूपवती और सुंदरम पिताजी को अपने बच्चों की तरह प्यारे थे। अण्णादुरै मामा के लिए मैं हमेशा प्रिय बेटी ही थी। 1974 से मेरे पिताजी की दुर्दशा शुरू हुई। एक भिक्षुणी के समान पवित्र मेरी मां सिर्फ तीन दिनों के मस्तिष्क ज्वर की शिकार होकर चल बसीं। उसके बाद मुझे अकेले छोड़कर पिताजी घर के बाहर निकलते ही नहीं थे। शायद यही कारण होगा कि पिताजी की लोहे की दुकान की कमाई कम होती गई। आखिर दुकान दूसरों को बेचकर वह रकम बैंक में डालकर उस की सूद से मैं और पिताजी कम मात्रा में खर्च करके जीने लगे। गरीबी की क्रूरता का एहसास मुझे पहली बार तब हुआ जब पिताजी को तपेदिक की बीमारी हुई। जंगली सहजन के पत्ते की सब्जी पकाकर पिताजी को परोसते वक्त मेरी आंखों से आंसू बरबस बह जाते। पिताजी को अगर कोई स्वादिष्ट सब्जी बनाकर दूं तो दवा खरीदने के लिए बचाकर रखे पैसे खतम हो जाएंगे। इसलिए चावल के साथ थोड़ी-सी मछली की चटनी और सहजन के पत्ते की सब्जी रोज पिताजी को परोसा करती। पिताजी दुबले-पतले और काले होते गए।

मैंने एक बार पिताजी से कहा: 'अण्णादुरै मामा को मैं पिताजी की बीमारी के बारे में लिखूँगी।' अण्णादुरै मामा की मदद लेने में मुझे कोई शरम महसूस नहीं होती थी। किंतु पिताजी ने मना किया।

पिताजी के अंतिम पत्र में अपनी बीमारी के बारे में एक भी शब्द नहीं था। पिताजी ने लिखा कि एक जमाने में कोलंबो में रहनेवाले भारतीयों की संख्या दो लाख थी और अब उनमें एक लाख बीस हजार को छोड़कर बाकी सब योरोप तथा अमरीका में बस चुके हैं। पिताजी ने यह भी लिखा कि रोज कम से कम एक सौ तमिल लोग भारत में शरणार्थी होकर जाते हैं। इस वंशीय समस्या पर राजनीतिक या सैनिक समाधान का असर नहीं होता। इस पर केवल भावात्मक समाधान का ही असर होगा। पिताजी ने लिखा- 'अण्णा, क्या तुम और मैं आपस में घृणा कर सकते हैं?' लिखते वक्त पिताजी की व्याकुल आंखों की ओर मेरा ध्यान गया था।

"अण्णादुरै कभी तुझे नहीं छोड़ेंगे। बेटी, अगर मुझे कुछ हो गया तो तू जितनी जल्दी हो सके, मद्रास चले जाओ, अण्णा को अपना पिता समझकर उसके घर में रहो। किसी योग्य व्यक्ति के साथ वे तुम्हारी शादी करा देंगे। हमारे बंधु जनों पर मेरा कोई भरोसा नहीं। अण्णा पर मेरा पूरा भरोसा है। उस दिन बहुत देर तक पिताजी के गले लगकर मैं फूट-फूट कर रो पड़ी। तीन महीने पिताजी ने स्ट्रैप्टोमैसिन का इंजेक्शन लिया। अठारह महीने तपेदिक की गोली भी खाई। फिर भी पिताजी ने जब मृत्यु के बारे में कहा तो मुझे लगा कि मेरी आशाएं चूर-चूर होती जा रही हैं।

"डॉ. विजय नायक ने कहा था न पिताजी को पूरा स्वास्थ्य लाभ होगा। फिर पिताजी, आप

क्यों ऐसी अमंगल बातें मुझसे कह रहे हैं?''

"बेटी, क्या डॉक्टर किस्मत का इलाज कर उसे बदल सकता है?''

पिताजी की मृत्यु के बाद हमारे पड़ोसी के बड़े बेटे निस्सामका ने मुझसे कहा :

"मनोमी, तू भारत मत जा। यह हम सिंहलियों के मान का सवाल है। क्या, तुम समझती हो कि एक सिंहल युवती की देखरेख के लिए श्रीलंका में कोई मर्द नहीं रहा? मैं तुमसे शादी करूंगा। बचपन से ही हम आपस में परिचित हैं न?

"पिताजी के कथन का पालन न करना मेरे वश की बात नहीं। मैं तीन महीने वहां रहूंगी, उसके बाद तय करूंगी कि किस देश में मुझे भविष्य जीवन बिताना है? निस्सामका, मैं हमेशा एहसान के साथ तुम्हारी याद करूंगी।''

"क्या, मुझसे शादी करने से तुम इसलिए हिचकती हो कि मैंने कॉलेज में नहीं पढ़ा है?''

"कभी नहीं। भारतीयों को प्यार करती हुई मैं पली-बढ़ी हूं। भारतीयों को जन्मशत्रु मानने को मेरा जी नहीं मानता। करोड़ कोशिश करने पर भी मैं किसी से घृणा नहीं कर पाती। मेरा खून जमाने के मुताबिक गरम नहीं हो पाता। मुझसे तुमने एक दिन कहा था कि भारत में तामिल चीतों (आतंकवादियों) के लिए बीस प्रशिक्षण शिविर एल. टी. टी. ई नेता प्रभाकरन ने भारत सरकार और मुख्यमंत्री रामचंद्रन की अनुमति के साथ तमिलनाडु में खोल दिए हैं। उस दिन मुझे लगा कि तुम्हारी आंखों से चिनगारियां फूट रही हैं। फिर भी मेरे मन में भारतीयों के प्रति द्वेष नहीं उगा। मैंने चुप्पी साधी। उस दिन तुमने मुझसे पूछा :

"मनोमी, तू किसके पक्ष में है? हमारे या भारतीयों के?''

"मुझे उस पल तुमसे यह कहने की हिम्मत नहीं थी कि मैं दोनों पक्षों के लोगों को एक समान देखती हूं। इसलिए मैं अब वह सच्चाई बता देती हूं। निस्सामका! भारतीयों और सिंहलियों को मैं एक समान देखती हूं। मैं किसी से घृणा नहीं करती।....''

मुझे विदा करने के लिए भी निस्सामका नहीं आया। भारत के प्रति विरोध एक महामारी के समान श्रीलंका में फैल चुका था। माथे पर सिंदूर लगाकर बाहर जाने से स्त्रियां डरती थीं। भारतीय स्त्रियां भी साड़ियां इस ढंग से पहनने लगीं जैसे सिंहल युवतियां पहनती हैं। युवतियां बरगर वंश के लोगों के समान कुर्ते पहनने लगीं। समाचार पत्र, पोस्टर और भित्ति लेखों में सबने भारत सरकार की भर्त्सना की। युवा वर्ग भारतीय हाईकमीशन के चारों ओर खड़े होकर गालियां देने लगा। जब भारत सरकार ने जाफना के गरीबों को चावल, दूध का चूर्ण और आलू का वितरण हवाई जहाज द्वारा किया तो सिंहली क्रुद्ध हो गए। युवा वर्ग पूछने लगा कि जब उड़ीसा और बिहार में गरीब लोग बिलख रहे हैं तब भारत सरकार श्रीलंका में अन्न क्यों बाँट रही हैं? उन्होंने कहा कि तामिल आतंकवादियों को खिला-पिलाकर उनके आंदोलन को कामयाब बनाने के लिए ही भारत सरकार ने यह तंत्र अपनाया है। युवा वर्ग के संगठन के एक नेता ने मुझसे कहा : "मनोमी, तुम्हारे पिताजी की हत्या न तपेदिक ने की है और न बुढ़ापे ने बल्कि तामिल आतंकवादियों ने उनकी हत्या की है। तुम जानती हो कि कट्टरगाम में प्रार्थना के लिए गए पिता को किसी ने बम फेंककर मार डाला था। फिर भी तुम मद्रास में जाकर बसने की जल्दीबाजी करती हो। तुम्हारी यह मानसिकता अजीब लगती है। मद्रास जाने के लिए कट्टुनायक्का हवाई अड्डे में खड़ी रहते वक्त भी मेरा कलेजा भय और आशंका

से तेज धड़कता रहा। इमिग्रेशन काऊंटर के कर्मचारी ने पूछा : "अवधि तो तीन महीने की है। इस संकट की स्थिति में तुम क्यों भारत जा रही हो? हमारे वंश के लोगों को उस देश में सुरक्षा नहीं मिलेगी।"

मैंने कहा-"मुझे सारनाथ और बुद्ध गया का दर्शन करना है। मेरे पिताजी ने मृत्यु के पहले मुझे यह आदेश दिया था कि मैं वहां जाकर उनकी आत्मा के लिए प्रार्थना करूं। बातें करते वक्त मुझे लगा कि मेरा दिल जोर-जोर से धड़क रहा है। मेरा गला सूख गया। मेरे सांसों की गति तभी ठीक हो गई जब हवाई जहाज उड़ान भरने लगा। अण्णादुरै मामा और उनके बच्चों के पास पड़े रहकर सराय में पहुंचे यात्री के समान निश्चिंत होकर घंटों तक सोते रहना मैंने चाहा। भयाक्रांत मानवों के क्रंदन सुने बगैर जीने को मैंने चाहा। महात्मा गांधी के देश में तो मन को चैन मिलेगा-यही मेरा विचार था। आतंकवादियों का नया धर्म-आतंकवाद-हिंसावाद-समस्त संसार में फैला हुआ था। मेरा भरोसा था कि अहिंसावादी महात्मा गांधी जिस देश में जिंदा थे कम से कम वहां अहिंसा बची होगी।

हवाई अड्डे पर अण्णादुरै मामा और रूपवती आए थे। अपने मोटे-तगड़े शरीर को संभालने के लिए एक लाठीनुमा बैसाखी मामा ने दाहिने हाथ में पकड़ रखी थी। बाल सब सफेद हो चुके थे। रूपवती एक श्याम सुंदरी-सी लगी। प्रथम दर्शन में ही मुझे पता चला कि वह गर्भवती है। मैंने देखा कि योरोपीय शैली में पोशाक पहने मेरी पिंडलियों की ओर रूपवती भौंहें सिकोड़कर देख रही थी।

मैंने कहा : "साड़ी पहनकर एक भारतीय औरत होकर कट्टुनायक्का अड्डे जाना मुश्किल था। यही कारण है कि मैंने यह पोशाक पहनी है।"

"यह नीली पोशाक तुम्हें बहुत अच्छी लगती है।"

मामाजी मेरे गालों को सहलाकर बोले- "तू कितनी बड़ी हो गई है। देखने पर पुण्यकांति की वही शक्ल, वही रंग, वही कद और वही गौरव-भाव।"

रूपवती ने पिताजी से पूछा-"पिताजी, आपने कहा था न मनोमी को उसकी माता का जैसा रंग नहीं मिला है।"

"बचपन में मनोमी को इतना खूबसूरत रंग तो नहीं था।"

"डर के मारे रंग पीला पड़ गया है मामा"-मैंने हँसते हुए कहा।

"अब तुझे कभी भी डरना नहीं पड़ेगा। तेरे यह मामा है। तेरी रक्षा के लिए दो भाई भी हैं। प्रकाशम और सुंदरम तेरे आगमन की प्रतीक्षा में घर में बैठे होंगे। वे दोपहर के भोजन के लिए घर आए हुए होंगे"-मामा बोले।

मामा की कार और वर्दी पहने ड्राइवर ने परिवार की आर्थिक स्थिति की घोषणा की। घर की ओर के रास्ते में आसमान में फैले घनीभूत धुएं को दिखाकर मामा ने कहा-"उस धुएं के नीचे मेरा कारखाना है। मैं एक सौ बाईस लोगों को वेतन देता हूं। ऐसे ही सही, जनता की सेवा का एक अवसर मुझे मिला।"

ड्राइवर की बाईं ओर बैठे युवक ने अपनी नाक या जीभ से एक अजीब आवाज निकाली। मैं जान गई कि वह निंदा का प्रदर्शन है। लेकिन मामाजी कुछ परवाह किए बगैर अपने मानव प्रेम के बारे में भाषण झाड़ते रहे।

मैंने अंदाजा लगाया कि आगे की सीट पर बैठा युवक रूपवती का पति होगा। एक बार मामाजी

ने बड़े गर्व के साथ ही मेरे पिताजी को लिखा था कि मूर्ति नामक एक ब्राह्मण युवक के साथ रूपवती ने शादी की। तभी हम समझ गए कि खुल्लमखुल्ला ब्राह्मण विरोध करने पर भी अपने परिवार में दामाद के रूप में एक ब्राह्मण के जुड़ने पर मामा ने धन्यता का अनुभव किया था। एक ओर मूर्ति की जाति, दूसरी ओर उनका स्वर्णिम रंग, तीसरी ओर उनकी बौद्धिकता तीनों कारणों से वह शादी अण्णादुरै मामा को बहुत पसंद आई। मामा ने उस चिट्ठी में यह भी लिखा था कि बिना मांगे ही दहेज के रूप में दुमंजिला मकान, एक बेंज कार और पांच लाख रुपए भी उन्होंने दामाद को दिए थे। उस ब्राह्मण युवक के व्यवहार पर मुझे थोड़ा गुस्सा आया। उन्होंने न मुझे देखा और न मुस्कुराया। मूर्ति का व्यवहार शिक्षित युवकों के अनुरूप नहीं लग रहा था।

"हवाई जहाज की यात्रा सुखद रही?" मामा ने मुझसे पूछा।

"कोई दिक्कत तो नहीं हुई। यह मेरी पहली हवाई यात्रा है। विमान ने एकदम उड़ान भरी तो डर के मारे मेरी सप्त शिराएं शिथिल हो गईं। एयरहोस्टेसें बहुत खूबसूरत थीं किंतु शायद मुझे देखकर, सिंहली समझकर होगा, उन्होंने मुझे अनेदखा कर दिया।

"उन्हें कैसे पता होगा कि तुम सिंहली हो?" रूपवती ने पूछा।

"वह कितना आसान है। भारतीयों का जैसा रूप सौंदर्य हम सिंहलियों में नहीं। हमारे बालों में चिकनाहट भी कम है।" मैंने कहा। रूपवती को प्रसन्न करने के लिए मैं विनम्रता दिखा रही थी किंतु वह यह समझे बिना केवल मुस्कुराती रही।

"मनोमी, तू उतनी कुरूप तो नहीं। उसने कहा। देखने में उतना असुंदर नहीं। अगर तेरा शरीर थोड़ा और पुष्ट हो जाए तो तू सुंदर बन जाएगी। तेरे बाल बुरी तरह घुंघराले हो गए हैं। घुंघराले बाल अब किसी को पसंद नहीं। वह असम्य लोगों का लक्षण माना जाता है। अगर चाहती है तो तुझे ब्यूटी सलून ले जाकर, तेरे बालों के घुंघरालेपन को पूरा हटा दूंगी। तब तो दिखने में बहुत सुंदर होगी।"

"रूपा, तू क्यों ऐसी बातें करती है? मामा ने नीरस भाव से पूछा। "मनोमी के बाल मुझे बहुत आकर्षक लगे हैं। उसकी माता के बाल भी घुंघराले थे। बालों को सीधे करने के लिए तू इसे कभी ब्यूटी सलून मत ले जाना"

"पिताजी के स्वर में एक मालिक का गर्व मैं देखती हूं। मनोमी के बाल सीधे करने या काटने से पिताजी क्यों परेशान होते हैं? मनोमी तो स्वतंत्र है न? पिताजी के कानून का उस पर कोई अधिकार नहीं है"- रूपवती ने उद्वेग के साथ कहा।

मूर्ति ने जीभ की नोंक से फिर एक अजीब आवाज निकाली।

"कानूनन मनोमी पर मेरा कोई अधिकार नहीं होगा।" मामा ने कहा किंतु धार्मिक तौर पर कुछ अधिकार मेरा है।"

रूपवती ने कहा "धर्म और अधर्म के संबंध में प्रत्येक व्यक्ति की अलग-अलग राय होती है।"

"मेरे कारण मामा और रूपा के बीच वाद-विवाद न हो। अगर मैं जानती कि मेरे आने से मामा के परिवार में झगड़ा होगा तो मैं नहीं आती।"

"मनोमी, हम तो झगड़ा नहीं कर रहे हैं।" मामा ने कहा। "रूपा का अब नवाँ महीना है। उसकी नसें कमजोर हो गई हैं। यह उसका पहला प्रसव जो है।"

रूपा एकदम झुककर अपना चेहरा हाथों से छिपाकर सिसकने लगी। मैंने उसके कंधों पर हाथ रखकर ढांढस बंधाया। इस विचार ने मुझे खूब सताया कि उसके दुःख का कारण मैं हूं। उससे ऐसी दुश्मनी की उम्मीद मैंने नहीं की थी। बचपन में वह और सुंदरम मेरे साथ चोर और पुलिस खेला करते थे। उस वक्त मुझे मारना पड़ता तो वह मुख सिकोड़कर कहीं दूर हो जाती थी। मामा उन दिनों कई बार मुझसे कहा करते थे कि मैं उसे रूपा न पुकारूं। "रूपा को तू अक्का (दीदी) और सुंदरम को अण्णा (भैया) पुकारना।" मैं हमेशा यह कहकर भाग जाती थी कि मैं तमिल औरत नहीं हूं।

मैंने पूछा-"रूपा दीदी, तू क्यों रोती है? तेरा दुख मिटाने के लिए मुझे क्या करना है? उसने सिर्फ मेरे दाहिने हाथ पर हाथ फेरा।

मूर्ति ने कहा-"मैंने किताबों में पढ़ा है कि गर्भवतियों को अकसर हिस्टीरिया हुआ करता है।" उसकी आँखें तब भी आईने में मुझे ढूँढ रही थीं।

सुंदरम और प्रकाशम को देखने के लिए मैं उद्विग्न हो उठी। 1974 में जब मामा का परिवार हमसे विदा ले गया तब प्रकाशम सत्रह साल का, सुंदरम दस साल का, रूपा बारह साल की तथा मैं आठ साल की थी। काल ने उनमें जो परिवर्तन किया उन्हें देखने की लालसा और उनके पुरुष होने के नाते उन्हें देखने में थोड़ा संकोच का अनुभव जगा।

मैंने पूछा- "सुंदरम और प्रकाशम का कद मामा के कद के बराबर होगा न?" मामा ने कहा कि "वे मुझसे ज्यादा लंबे और मोटे हैं। प्रकाशम के बच्चे भी ऊँचे कद के हैं। छह साल का प्रदीप अभी मेरे कंधों तक का है।"

"पुष्ट होने के होरमोन के बारे में तुमने नहीं सुना है क्या? उसे ही प्रकाशम और वेदवल्ली अपने दोनों बच्चों को दूध में घोलकर पिलाते हैं।" जोर की हँसी के साथ मूर्ति बोले।

"मामा, यह झूठ है न?"- मैंने पूछा।

रूपा ने कहा-"यहां कुछ दिन रहने पर तुझे पता चलेगा कि मेरे मूर्ति के मुंह से सच्चाई बहुत कम ही निकल आती है।"

रुलाई के बाद आंसू से अंकित उसके मुख पर छायी वह मुस्कुराहट मुझे बहुत आकर्षक लगी।

मैंने कहा-"रूपा, मैं तुम लोगों के साथ रहकर अपने सारे दुःख भूलूंगी।" मामा ने कहा- "हां मनोमी, तुझे सारा दुःख भूलना चाहिए। आज से तेरी नई जिंदगी शुरू हो रही है। उस क्षण आगे की सीट से मूर्ति ने फिर मुर्गे की सी आवाज निकाली।

"भारत में जीना है तो एक नया अवतार ही अपनाना पड़ेगा।" मूर्ति ने कहा- "तमिल लोगों ने सिंहलियों को जान से दफनाने की कसम खाई है।" तब भी मैं जोर से हंस पड़ी। बात की गंभीरता का एहसास तब भी मुझे नहीं हुआ था।

मामाजी का घर अडयार में कला क्षेत्र बस्ती के पास था। आधा एकड़ बाग के करीब बीच में स्थित एक बड़ा मकान। ड्योढ़ी पर कार रुकी। बच्चे दौड़ते हुए नहीं आए। आई राजम्मा नाम की बुढ़िया। उन्होंने मुझे गले से लगाकर पूछा-"मनोमी बेटी, क्या इस दाई की याद है तुम्हें?"

वह मामा की बेटी की दाई थी। राजम्मा ने ही श्रीलंका में मेरी माता को तामिल सिखाई थी। मैंने उसके पान की गंध से युक्त गाल को चूमा।

"राजम्मा, तुम बिलकुल बदली न हो। तुम ज्यादा खूबसूरत हो गई हो।"

मूर्ति ने कहा-"राजम्मा ने आज सबेरे मौण्ट मार्ग के एक ब्यूटी सलून जाकर जरूरी साज-शृंगार किया था"। बोलते-बोलते उसने वाक्य के अंत में मुंह खोलकर 'हा हा हा' की आवाज निकाली। मैंने देखा कि बैठक में सुनहले ढांचे में, मामी का चित्र लटका है। उसके नीचे लाल रेशम से ढके तिपाय पर चंदन की बत्तियों का राखदान और फूल दिखाई पड़े। रूपा की शक्ल अपनी मृत माँ की शक्ल से मिलती-जुलती थी। मैंने कहा- "रूपा दीदी, तुम्हें अपनी मां की खूबसूरती मिली है।"

राजम्मा ने पूछा- "चाय या कॉफी?"

"चाय। एक सिंहली की आवभगत चाय के अलावा क्या चीज देकर करोगी?" मैंने बुढ़िया से पूछा। मामा ने कहा-"मेरी यही प्रतीक्षा थी कि प्रकाशम, वेदवल्ली, बच्चे और सुंदरम सब यहां होंगे।"

"प्रकाशम, वेदवल्ली और बच्चे अंग्रेजी फिल्म देखने गए हैं। यह कहकर निकले कि वे भोजन के लिए नहीं होंगे। सुंदरम से मिलने के लिए आए राजनीतिज्ञ उनको लेकर बाहर गए हैं। बोले कि रात के भोजन के लिए नहीं आएंगे।"

इस बात पर मुझे थोड़ा अवसाद हुआ कि मेरे स्वागत के लिए वे लोग घर में उपस्थित नहीं रहे। फिर भी मैंने उत्साह के साथ मामा के घर और परिसर पैदल घूम कर देखा।

मैंने मामा से कहा- "यह तो एक महल जैसा है।" अण्णादुरै मामा का चेहरा प्रसन्नता से खिल उठा।

अण्णादुरै

जब से यह खबर आई कि मनोमी श्रीलंका से हमारे घर आ रही है तब से मेरे तीनों बच्चे मुझसे झगड़ा करने लगे। प्रकाशम जन्म से ही क्रोधी मिजाज के थे। तभी तो भोजन करते वक्त उसने क्रोध के मारे अपना कटोरा जमीन पर पटककर तोड़ दिया था। राजम्मा जो खाना परोस रही थी, घबराकर रसोई की तरफ दौड़ी। भ्रम से बुढ़िया ने सोचा कि अपने द्वारा पकाए-परोसे अन्न से खीझकर उसने कटोरा पटक दिया होगा। रोते हुए उसने पूछा-"मातृहीन बच्चों को प्रेमपूर्वक पालनेवाली मुझसे भला इतना द्वेष क्यों?" मैंने संयम के साथ भोजन करने का प्रयत्न किया। मैंने कहा-"मेरे अलावा मनोमी का और कोई नहीं है।"

बच्चों को मेरे पुराने इतिहास का पूरा पता था। मैंने उस दोस्ती की कहानी कितनी बार कह सुनाई है। उन्हें पता है कि लंका प्रवास के अवसर पर मेरा एकमात्र सहारा मेरा पड़ोसी टेन्नक्कून ही था। उन्हें यह भी भलीभंति मालूम है कि मेरी आज की सुख-संपत्ति का कारण भी टेन्नक्कून ही है। फिर भी उनकी अनाथ हुई इकलौती बेटी को शरण देने पर मुझसे इतना विरोध क्यों?

मैंने एक बार बच्चों से कहा- "मैं कोई बाघ या भालू नहीं। बिना किसी राजनीति का एक साधारण आदमी हूं मैं। अपने परम मित्र की बेटी को-चाहे वह सिंहली हो या अफ्रीकन हो मैं शरण दूंगा। उसे छोड़ने की कृतघ्नता मेरे उर में नहीं।" प्रकाशम, रूपा और सुंदरम कितनी बार मुझसे क्रुद्ध हुए। रूपा रोज सिसककर रो पड़ती।

"हमारा मद्रास में जीना दूभर होगा। सिंहली को घर में रहने दिया तो केवल उस कारण हम सब दूसरों की शंका के पात्र बन जाएंगे।"

सुंदरम ने कहा-"कारखाने के मजदूर भी हमारे दुश्मन बन जाएंगे। भविष्य की विपत्तियों की जानकारी रखते हुए भी पिताजी यह बोझ अपने सिर पर लाद रहे हैं। पिताजी ने कहा था न कि

वह पढ़ने में बहुत तेज है। पढ़ाई जारी रखने के लिए उसे केंब्रिज भेज देना। उसे भारत में लाकर बसा देना आपत्ति को मोल लेना ही है।"

धीमी होने पर भी हृदय के भीतर तक पैठने की क्षमता सुंदरम की आवाज में है। वह ऐसा युवा नेता है जिसने राजनीति के क्षेत्र में न जाने कितने युवकों को आकृष्ट किया है। उसके भाषण-वैदग्ध्य के बारे में दूसरे लोगों के मुँह से प्रशंसा के वचन आश्चर्य के साथ मैंने सुने है। धनिक होने पर भी सुंदरम ने सादगी भरी आडंबरहीन जीवन शैली अपनाई थी। प्रकाशम ने क्लबों और घुड़दौड़ की जगहों पर ही अपना काफी समय बिताया तो सुंदरम ने पुस्तकालय में ज्यादा समय बिताया। प्रकाशम ने रेशम का कुर्त्ता और योरोपीय सूट पहना तो सुंदरम ने मजदूरों की वेषभूषा का अनुकरण किया। अपने दोनों बेटों पर मैं गर्व का अनुभव कर सका। कारखाने के प्रबंधक के तौर पर प्रकाशम मेरा दाहिना हाथ रहा। कुछ वर्षों में धनी हुए परिवार को प्रकाशम की आदर्श-बुद्धि ने एक विशेष पवित्रता का परिवेश प्रदान किया। एक अजीबोगरीब अपराध बोध रातों में मुझे बेचैन करता रहा। सुंदरम के चेहरे की याद करने पर वह बेचैनी धीरे-धीरे मिट जाती थी। रूपा प्रकाशम और सुंदरम से भिन्न थी। उसने कहा- "उस सिंहली के साथ बाहर जाने के लिए मैं तैयार नहीं। मुझे अभी से कोई शादी के सत्कारों के लिए न्योता भी नहीं देंगे। चूँकि हमने उसे शरण दी इसलिए हम समाज से एकदम बहिष्कृत हो जाएंगे। हमारी बदनामी होगी।"

मैंने अपनी नीरसता को दबाकर कहा-"तू उसे साथ लेकर नहीं चलना। वह सिर्फ मेरे साथ चले। बुढ़ापे में मुझे एक दत्तक पुत्री मिली तो इस पर अपने को धन्य मानूंगा।"

प्रकाशम ने मुझसे कहा-"पिताजी की बदनामी हो तो वह हमसे बरदाश्त नहीं होगा।"

मैंने कहा-"दिवंगत मित्र की पुत्री को संरक्षण देने पर अगर मेरी बदनामी होगी तो मुझे उससे लेशमात्र भी दुःख नहीं। ईश्वर भी यदि उसे छोड़ने की सलाह दे तो मैं मानूंगा नहीं।"

फिर तो उस विषय को लेकर मुझसे वाद-विवाद करने को वे तैयार नहीं हुए। उनकी माता की मृत्यु के वक्त मैं युवक था। शादी के कई प्रस्ताव आ रहे थे किंतु एक सौतेली मां को मेरे बच्चों के ऊपर थोपने की सहमति मैंने नहीं दी। बावन वर्ष की आयु में मद्रास वापस आया। वहां रहते समय भी मेरे हितैषियों ने मुझे उपदेश दिया कि अण्णादुरै, तुम एक सुशील नारी से शादी करके अपने भविष्य को सुरक्षित रखो। शुरू-शुरू में मद्रास के लोग संकोच के साथ मेरे पास आते थे। मुझे वे 'श्रीलंका वाले अण्णादुरै' पुकारते थे। प्रकाशम की शादी तंजावूर के ख्याति प्राप्त घराने की इकलौती बेटी के साथ हुई तो उसके बाद ही मेरे घर में अतिथिगण अधिक संख्या में आने लगे। उसके पहले मेरे परिवार के बारे में कई विचित्र कहानियां मद्रास में प्रचलित थीं। राजम्मा ने एक बार कहा कि लोग कहा करते हैं कि सिंहल भाषा में ही मैं और बच्चे आपस में बातचीत किया करते हैं तथा हम सुबह दोशा के साथ नारियल की चटनी की जगह सिंहलियों का 'सांबोल' ही खाते हैं। फिर हमसे मिलने पर लोगों की गलतफहमी दूर हो गई। बच्चों की तमिल की बोली पर विदेशी प्रभाव अवश्य था किंतु वह तो भारत से बाहर न जानेवाले 'लवडेल' छात्रों पर भी रहता था। उसे एक गंभीर गलती के रूप में किसी ने नहीं लिया। उन्हीं दिनों रूपवती अपने कॉलेज के प्रोफेसर मूर्ति पर अनुरक्त हो गई थी। कोयंबतूर निवासी एक करोड़पति के बेटे की शादी का प्रस्ताव उसे आया था। उसे इनकार करते हुए उसने मुझसे कहा-"मुझे पैसे के प्रति कोई मोह नहीं। मुझे लगता है कि उस कोयंबतूर

वाले के पास ऐसा कोई गुण नहीं, जिसका मैं सम्मान करूं। मैं मूर्ति का आदर करती हूं। उनसे शादी करना चाहती हूं।''

मूर्ति के परिवार के लोगों ने जाति-भेद के मामले पर कोई विरोध नहीं किया। उच्च शिक्षा की संस्कृति उनके हर निर्णय पर स्पष्ट झलकती थी। बिना मांगे ही मूर्ति को स्टेरलिंग सड़क में एक दुमंजिला मकान, एक मेरसिडस कार और पांच लाख रुपए दहेज के रूप में दिए। शादी हुई। कोणिमारा होटेल में मैंने जो सत्कार दिया था उसमें राज्यपाल और मंत्रीगण ही नहीं शिवाजी गणेशन, जयललिता' जैसे फिल्मी तारे भी सम्मिलित हुए थे।

सुंदरम को मैं तंपी नाम से पुकारता हूं। उसकी शादी का कोई प्रस्ताव नहीं आया। वकील होते हुए भी राजनीति के अस्थिर मंच पर विचरने वाले उस युवक को दामाद बनाने की कोशिश किसी करोड़पति ने नहीं की। सुंदरम को भी शादी से विशेष दिलचस्पी नहीं थी। अगर वह मनोमी से प्रेम करे तो उसकी शादी करा देने के लिए तैयार हूं किंतु उसके लिए कभी प्रोत्साहित नहीं करूंगा। क्या, युवती मनोमी को देखकर सुंदरम उसपर आकृष्ट हो जाएगा? मनोमी की माता पुण्यकांति जो कुरूनगल की निवासिनी और बड़ी खूबसूरत थी। चांदनी रात की कुमुदिनी की कली के समान मृदु मृदुल होकर चमकने वाली, मृत्यु के वक्त पर भी मुझे और अपने पति को विकच नेत्रों से सहलाने वाली पतिव्रता सुशील.....हवाई अड्डे में ठंडी प्लास्टिक कुर्सी पर बैठते-बैठते भी मैंने पुण्यकांति की याद की, किस सहज भावना से उसने अपनी सोने की चूड़ियां मुझे उतार दी थीं।

"अण्णा, मेरी चूड़ियां ले लो। व्यापार के लिए कहीं कोई जमीन जल्दी खरीद लो। तुम अमीर बनोगे तो मेरे पति भी अमीर हो जाएंगे। तुम दोनों के बीच के प्यार भरे संबंध की गरिमा भला मेरे अलावा जाने कौन?'' पुण्यकांति ने पूछा था। उस पल से मेरा व्यापार बढ़ा। मेरी धन संपत्ति का स्रोत वे गोरे-दुबले हाथ थे चूड़ियों के उतारने पर नंगे हुए हाथ। मेरे बच्चों को कभी भी यह एहसान नहीं भूलना चाहिए।

रूपा जब हवाई जहाज के रेस्ट रूम से बाहर आई तो उसके मुख पर पानी की बूंदें टिकी हुई थीं।

रूपा ने कहा-"उस तौलिए का इस्तेमाल करने का धैर्य नहीं।'' मूर्ति ने कहा कि रेडियो पर सुना है कि गरमी चालीस डिग्री है।

रूपा ने फिर कहा- "पिताजी को अड्डे पर आना नहीं चाहिए था। मनोमी को मालूम है कि पिताजी को रक्तचाप का प्रोब्लम है। सुना है कि हवाई जहाज के आने में अभी एक घंटे की देरी है। उसका स्वागत करने के लिए मैं और मूर्ति यहां हैं। पिताजी, आप घर लौट जाइए।''

मैंने कहा- "उसका स्वागत मैं ही करूंगा।'' रूपा ने कहा-"पिताजी बच्चों की तरह हठ कर रहे हैं।'' रूपा के शब्दों में घुली पड़ी घृणा मैं समझ सका। मैंने उसे एक ऐसे सम्मान का पद दिया था, जिसके लिए वह कभी हकदार नहीं थी। उससे तुलना करने पर मनोमी के प्रति मेरी दया और सम्मान का भाव बढ़ता गया। उसने लिखा था कि पिताजी की मृत्यु के बाद ऋण के मारे वह घर के बाहर निकल ही नहीं पाती थी। कभी भी टेन्नकून ने अपनी गरीबी के बारे में मुझे नहीं लिखा था। अगर लिखा होता तो मैं जरूर उनकी मदद करता। उनके तपेदिक का इलाज करा देता। अपनी तकलीफों को छिपाकर टेन्नक्कून ने हंसी-मजाक से भरी चिट्ठियां ही मुझे भेजीं।

"सबसे बड़ी परेशानी सुंदरम को ही है''- रूपा ने कहा। आतंकवादियों के नेतागण उसके मित्र

हैं। अब सुंदरम भला कैसे उनके मुख की ओर देखेगा? उसकी हिम्मत वह कैसे करेगा?''

मैंने रूपा से कहा- ''सिंहली होने से मनोमी घृणित नहीं होती। एक मासूम लड़की को शत्रु के रूप में देखनेवालों की मित्रता छोड़ना ही सुंदरम के लिए अच्छा है। अच्च आदर्शों के बारे में भाषण देना और मनुष्यता के विरुद्ध आचरण करना यह तो आत्मप्रवंचना है।''

रूपा फिर बोलने लगी- ''हमारी परेशानी का आपको पता नहीं। कल मेरी पड़ोसिन उस जज की पत्नी ने मुझसे पूछा- ''रूपवती, मैंने जो कुछ सुना क्या, वह ठीक है कि तुम्हारे बाप के सिंहल में एक बेटी है? पिताजी, आप जरा सोच लीजिए। ऐसे सवालों का मैं क्या जवाब दूं?'' मुझे गुस्सा आया। ''सचाई कह दो''- मैंने कहा। सच कहना ही तेरा, मेरा और हम सबका कर्तव्य है। कह देना कि मनोमी मेरे प्रिय मित्र की पुत्री है। कह देना कि उसके पिता ही वह अकेले व्यक्ति हैं जिसने व्यापार में मेरी सहायता की है। तुम उस जज की पत्नी से कह देना कि तुम्हारे पिता उपकारों के प्रति सदा कृतज्ञ रहनेवाले हैं।''

रूपा ने कहा- ''सच बोलने पर कौन विश्वास करेगा? कई लोग यह कहते फिरते हैं कि मनोमी पिताजी को किसी सिंहल औरत से पैदा हुई बेटी है।''

''वह सरासर झूठ है''- मैंने जोर से कहा। ''ऐसा कहना महापाप है। मैंने मनोमी की माता को गुरुपत्नी के रूप में ही देखा है। टेन्नक्कून, मैं और पुण्यकांति श्रीराम, लक्ष्मण और सीता के समान थे। बिना भक्ति भाव के मैंने उसे देखा तक नहीं। उस मुख के देखने वालों के मन में एक थाली में कपूर जलाकर आरती उतारने का भाव ही जगता। जिसने ऐसे पवित्र रिश्ते के बारे में ऐसी बुरी बात कही, मेरी बेटी होने के नाते तुम्हें उसका मुंहतोड़ जवाब देना चाहिए था।

रूपा ने मुझसे पूछा ''अपने प्रिय जनों से मैं वैर क्यों मोल लूं?''

''पिताजी भी तेरे लिए प्रिय हैं न?''

सहसा मूर्ति कुर्सी से उठ खड़े हो गए। 'लो हवाई जहाज आ गया।' उसने जोर से कहा। लौंच में बैठनेवालों ने मूर्ति की ओर देखा। हवाई जहाज धीरे-धीरे उतर रहा था। अपने दिल की धड़कन मुझे सुनाई देने लगी।

मैंने रूपा से कहा- ''मनोमी को परेशान मत करना।''

''उसे अपनी सखी बनाकर सदा अपने साथ ले जाने के लिए मैं तैयार नहीं। वैसे भी यह मेरा नवां महीना है। मुझे चलने में भी दिक्कत है। पैरों पर सूजन आई है।

मैंने-कहा- ''तेरी प्रसूति के वक्त वह तेरे लिए सहायक रहेगी।''

रूपा ने कहा- ''मेरी सहायता करने के लिए डॉक्टर और नर्स हैं।''

मैंने कहा- ''पैसे के लिए सहायता करनेवालों से भिन्न हैं वे जो बिना पैसे के लोभ के सहायता करते हैं। मैंने समझ लिया कि मेरी कही बात के कारण उसे काफी गुस्सा आ रहा है।

रूपा ने मुझसे पूछा- ''क्या, आप बता सकते हैं कि वह बिलकुल पैसे के लोभ के बिना ही आपके पास आ रही हैं? ''रूपा, तेरी शंकाओं पर मैं लज्जित होता हूं। मेरी बेटी होकर भी तुम्हें ऐसी आदत कहां से मिली?''

''उसके विमान से उतरने के पहले ही पिताजी मेरे स्वभाव के बारे में शिकायत करते हैं तो मुझे लगता है उसके आने के बाद पिताजी, आप अपनी वसीयत ही अलग से लिखेंगे।''

"तुम्हें जिंदगी भर सुख से जीने की संपत्ति दे चुका हूं। वैसे भी तू मेरे कारखाने की साझेदार और निदेशक भी है। उसे मेरे घर में रहने देने से तुम्हें और मूर्ति को कोई हानि नहीं होगी। मनोमी की शादी मैं ससम्मान करा दूंगा। वह भी किसी आदमी के साथ चैन की जिंदगी बिताएगी।"

"पिताजी नासमझ बच्चों के समान बातें करते हैं। मनोमी एक सिंहली नारी है न? कौन तमिल वाला उससे शादी करेगा? पिताजी जितनी भी रिश्वत दे दें तो भी उसकी शादी नहीं होगी। एक अपशकुन बनकर वह पिताजी के घर में ही रह जाएगी।"

"ओह! अपशकुन? कभी नहीं, वह महालक्ष्मी के समान रहेगी। उसकी माता मेरी भाग्यलक्ष्मी थी। उसकी उदारता से मैं धनी बन गया। मैं चाहता हूं कि मनोमी की शादी सुंदरम से हो जाए तो वह मेरे ही घर रहेगी। छोटे भाई की पत्नी बन जाने पर तू उससे नफरत नहीं करेगी।"

"पिताजी, क्या आप होश में ही यों बकवास कर रहे हैं? मेरा तंपी जो स्वाभिमानी है तथा श्रीलंका में लड़ने के लिए आतंकवादियों को पैसा इकट्ठा कर देने वाला है, क्या वह तमिलों के जन्मशत्रु सिंहलियों के बीच से एक औरत से शादी करेगा? क्या आप पागल हो गए हैं? तंपी ने मनोमी को मार नहीं डाला तो सौभाग्य समझिए। उसका चेहरा तक देखने से तंपी इनकार करेगा।"

"सिंहल के लोग कब से तामिल वालों के जन्मशत्रु बन गए? जब मैं लंका में रहता था, तब सिंहल के लोग मेरे मित्र थे। मेरे साथ 'तैप्पूयम' के दिन वे सुब्रह्मण्य के मंदिर में प्रार्थना करने आते थे। 'वेसाक' मनाते समय मैं कलैनिया के बौद्ध विहार में पहुंचकर वहां की बड़ी सी लेटी हुई मूर्ति के सामने कमल के फूल चढ़ाता था। तू और तेरे भाई सिंहलियों की देखरेख में ही पले-बढ़े थे। क्या तू दाई कांतिहामी को भूल गई है, जो तुम तीनों का नहलाया, खिलाया और लोरियां गाकर सुलाया करती थी। जब तू कड़ी पीलिया की शिकार बनी तब अपनी खाट के पास बैठी रहने वाली उस दाई को तू भूल गई क्या? राजम्मा तेरे पास जब भी तेरी देखरेख के लिए आती थी तो तू कांतिहामी के लिए रोती थी। बिसाक्का विद्यालय में ही तूने पढ़ा था न? तेरे और तेरे भाइयों का ट्यूशन मास्टर-ध र्म बंधु क्या उनको भी तू भल गई? जोर-जोर से 'धर्मबंधु महात्मा' पुकारती हुई तू उनके पीछे भागती थी। वही दृश्य मैं आज भी एक रंगीन तस्वीर की भांति मन ही मन देखता हूं। हमारी पड़ोसिन पुण्यकांति तेरे लिए 'कीरीबात' बनाकर लाती थी, वह भी क्या तू भूल गई? ओह! रूपा, और कोई भी ऐसी बातें कहे तो मैं सह लेता, किंतु तू सिंहलों को जन्मशत्रु कहे तो उसे सहने की शक्ति मुझे नहीं।"

"यात्रीगण उतरने लगे हैं"- मूर्ति ने हमें याद दिला दी। वह जालीदार दरवाजे की तरफ दौड़ा। मैंने पूछा-"मूर्ति आगे की ओर क्यों दौड़ रहे हैं? मनोमी को वह भला कैसे पहचानेगा?"

हवाई जहाज से आनेवाली औरतें अपनी साड़ी के आंचल को हवा में उड़ने से बचाने के लिए उसे थामे तथा बीच-बीच में झुकती हुई चली आयीं।

सिर्फ घुटनों तक का नीला चोगा पहनी युवती ने हमारी तरफ देखा।

मूर्ति ने कहा-"वह मनोमी होगी। चोगा पहनकर भी पुरानी शैली में जूड़ा बांधे हुए है।"

रूपा ने कहा- 'वह बिलकुल भारतीय नहीं।' "मनोमी"! मैंने बुलाया। मेरा स्वर कटु और खुरदुरा हो गया था।

नीला चोगा पहनी हुई औरत मेरी ओर देखकर मुस्कुराई। रेलिंग के उस पार खड़ी होकर उसने मेरा गाल चूमा। उसने पूछा-"मामा, आपने कैसे मुझे पहचाना?"

रूपा ने उसकी नंगी टांगों को देखकर भौंहें सिकोड़ीं। शायद यह देखकर ही हो, मनोमी ने कहा-"साड़ी पहनकर एक भारतीय होकर कट्टुनायक्का हवाई अड्डे में जाना मुश्किल था। इसीलिए यह पोशाक पहनी है।" "यह नीली पोशाक तुम्हें बहुत अच्छी लगती है"- मैंने उसके गालों को सहलाते हुए कहा। तू कितनी बड़ी हो गई है। देखने पर पुण्यकांति की वही शक्ल, वही रंग, वही कद और वही गंभीर भाव।"

रूपा ने मुझसे पूछा-"पिताजी, आपने कहा था कि रूपा को अपनी मां का जैसा रंग नहीं मिला है।" मैंने कहा- "बचपन में मनोमी को इतना रंग तो नहीं था।"

उसने ठहाका मार कर हँसते हुए कहा-"डर के मारे मेरा रंग पीला पड़ गया होगा, मामा।"

निस्सामका

19 जुलाई 1987 को मेरे बचपन की सहेली मनोमी भारत की ओर रवाना हुई। उससे बताए बिना मैं उसका पीछा करके हवाई अड्डा पहुंच गया। यात्रियों के लाउंज में एक लाल कुर्सी पर अकेली बैठी उसे देखता हुआ मैं चाय की दुकान वाले कोने में खड़ा रहा।

मनोमी ने एक नीला चोगा पहना था। उस हॉल में बैठी अन्य औरतें साड़ी पहनी हुई थीं। कोई भी पहचान सकता था कि सब की सब भारतीय हैं। उन्हें भारतीय ही नहीं दक्षिण भारतीय पहचानने में भी किसी को कोई दिक्कत नहीं होती थी। उनके बालों में तेल की चिकनाहट थी, फूल भी रखे हुए थे। माथे पर लाल तिलक भी था। उनमें अधिकांश काली-कलूटी औरतें थीं। उनके बीच दुबली गोरी मनोमी को बैठे देखकर मेरी खिन्नता और बढ़ी। मेरे विरोध को माने बिना वह श्रीलंका छोड़ रही थी। उसने एक बार कहा था कि अनाथ होने के कारण मैं अण्णादुरै के घर जा रही हूं। मुझे बहुत क्रोध आया। वह कैसे अनाथ होगी? मेरे जीते जी वह अनाथ नहीं, सनाथ है। मैंने कहा 'मनोमी, तू मेरी पत्नी बनकर श्रीलंका में ही रह। बचपन से ही हमने आपस में प्यार किया है। विसाक्का पाठशाला से जब वह बाहर आती तब हर शाम को मैं 'फोणसेक्के प्लेस' में खड़ा रहता था जहां लड़के गेंद खेलते हैं। बस पकड़ने के लिए हम दोनों एक साथ ही दौड़ जाते थे। कई दिन हमने कक्षा छोड़ बाहर कोलप्पेट्टी बाजार जाकर कच्चा सेब और दूरियान नामक कटहल खरीद कर खाए। दुकानदार ने मुझसे कहा कि दूरियान काम भावना को बढ़ा देता है। जब उस दुकानदार ने हेय भाव से मेरी उम्र की ओर इशारा करके बातें की तो मनोमी उससे झूठ बोली "निस्सामका बीस साल की उम्र पार कर चुका है किंतु तब मेरी और उसकी उम्र केवल बारह साल की ही थी। हमने घर से मिले पैसे से कभी-कभी होप्पर खरीदकर खाए। ऊपर मुर्गी का अंडा डालकर जो रोटी बनाई जाती थी वही मनोमी को ज्यादा पसंद थी।

मैंने कई बार उसे चिढ़ाने के लिए कहा था कि -"तू तमिलों का डोसा खानेवाली है न? तुझे मैं होप्पर खरीद नहीं दूंगा।" क्रुद्ध होते वक्त ही वह पूर्ण स्वस्थ दिखती थी। क्रोध ने उसके गालों को लाल-लाल कर दिया।

मेरे और मनोमी के घर के सामने ही व्यापारी अण्णादुरै का मकान था। उनका बेटा सुंदरम मेरे साथ फुटबॉल खेला करता था।

सुंदरम जब श्रीलंका छोड़ गया तब मैं और वह दोनों छोटे बच्चे थे। अब मैं इतनी ही याद करता हूं कि वह एक काला-मोटा लड़का था। जब मैं यह सोचने लगा कि सुंदरम के साथ मनोमी मद्रास

में रहेगी तो मुझे एकदम सिहरन का एहसास हुआ। अगर अण्णादुरै ने उसे पुत्रवधू बनाया तो वह फिर लंका लौट नहीं आएगी।

मनोमी अंदर गई तो मुझे पश्चात्ताप हुआ। मैं उसे विदाई दे सकता था। उसने जरूर मेरी प्रतीक्षा की होगी। मुझे लगा कि मैं नीच हूं और सस्ती वासनाओं का गुलाम हूं। हवाई जहाजों की रगड़ पर ध्यान देते खड़े रहते समय मुझे मनोमी के शब्द याद आए "बहुत कोशिश करने पर भी मैं किसी से घृणा नहीं कर पाती।" उसके रोगी और दुर्बल पिता को बम से मारने वाले उस आतंकवादी से भी उसने घृणा नहीं की? कट्टरगामा में बम फेंकनेवाले कतिरेशन नामक आतंकवादी को वेलिक्कडा जेल में कैदियों ने ही मार डाला। उसके दोस्त भाग निकले और कहीं छिप गए। बाहुबल को बमों और बंदूकों में समाए फिरनेवाले, असहाय सिंहलों को मारने वाले, बौद्ध संन्यासियों की भी गोली मारकर हत्या करने वाले। कुछ लोगों के सिरों के लिए श्रीलंका सरकार ने दो लाख रुपए इनाम देने की घोषणा की है। कंदस्सामी, पलनी, दामोदरन, तिरूच्चेलूवं राजु। मैंने मनोमी से एक बार कहा-"मैंने अगर इनमें से किसी को देखता तो मैं अपने हाथों से उनका गला दबाकर मार डालता। मुझे तो डर था कि कॉलेज से जब वह अकेली आती तब आतंकवादी शायद उस पर हमला करते इसलिए जितना हो सके उसे अपने नीले स्कूटर पर बिठाकर मैं घर पहुंचाता था। एक बार मेरी मां ने कहा-"क्या तू मनोमी से शादी करना चाहता है? नहीं तो, उसे पीछे बिठाकर सवारी मत करना। उसे फिर कोई दूल्हा नहीं मिलेगा। सभी लोग अभी कहते है कि मनोमी तेरी जनाना है।"

यद्यपि मनोमी के पिता की आर्थिक स्थिति कमजोर थी फिर भी वह कॉलेज जाकर एक स्नातक बन गई। मैं पढ़ाई में कमजोर था। इसलिए दो बार हार जाने पर मैंने कॉलेज छोड़कर एक मेकेनिक बनने का प्रशिक्षण पाया। शायद यही कारण होगा कि उसके साथ बैठने पर हीनता ग्रंथि मुझे सताती थी।

मनोमी ने मुझसे कहा "तुमको अपने मन से द्वेष को उखाड़कर फेंकना है नहीं तो तुम कभी स्वतंत्र नहीं होगे।" हम एतिरवीर शरत्चंद्र का नाटक "सिंहबाहु' देखकर लौट रहे थे। जब उसने कहा कि नाटक की शैली भारतीय नाटककार कालिदास की अनुकृति है तो मैंने उसका विरोध किया था।

"निस्सामका, तमाम भारतीयों के प्रति तेरे मन में घृणा है। यही नहीं तू काले लोगों की निंदा करता है। हम दोनों जिस बुद्ध की आराधना करते हैं वह भारत में जन्मा था। क्या तू और मैं निश्चित रूप से कह सकते हैं कि बुद्ध काला आदमी नहीं था?"

मैंने जोश और जोर से कहा कि बुद्ध गोरा रहा होगा।

उसने जोर से ठहाका मारा।

उसने कहा-"कोई जिस रंग को अपने अंदर देखता है, उसीसे उसकी देव संबंधी संकल्पना बनती है। अफ्रीका के काले लोग ईश्वर को काले रंग में देखते हैं। बुद्ध के जितने आराधक हैं उतने रंग भी हैं। जिस लाल रंग को मैं देखती हूं उससे अलग होगा तेरा लाल रंग जिसे तू देखता है।"

जब वह इस तरह भाषण शुरू करती तब मैं चुप हो जाता था। उसने ऐसी बातें बता दीं जो मैं समझ न सका। समझ न पाने पर भी वे शब्द मेरी यादों में जम गए।

एक बार माँ ने मुझसे पूछा-"तू और टेन्नक्कून की बेटी के बीच क्या बातें होती हैं?'

"वह सब मां समझा नहीं पायेंगी।" "फिर भी बताओ तो मैं तय करूंगी कि मैं समझ पाती हूं कि नहीं।"

"वह अकसर ईश्वर के बारे में बातें करती हैं।" "उसकी मां पुण्यकांति भी वैसी थी। पुण्यकांति ने मुझसे कई बार कहा है कि उसे एक भिक्षुणी बनना चाहिए था।"

एक बार मनोमी ने मुझसे कहा कि तमिल की संस्कृति प्राचीन और अद्वितीय है। हम गाष्फेस होटेल के सामने के समुद्र तट पर टहल रहे थे। पाँच बज जाने पर भी धूप की गर्मी असह्य थी। मनोमी अपनी रेशमी नीली छतरी तानकर चल रही थी।

मैंने पूछा "तो हमारी सिंहल संस्कृति?" मनोमी ठहाका मार कर हँस पड़ी।

"सिंहल लोग, ईसा के जन्म के 500 वर्ष के पहले कभी लंका में आए मेहमान मात्र हैं। तमिल लोग भी लगभग इसी समय यहां आए थे। सिंहली उड़ीसा और बंगाल से आए। हमारी संस्कृति की तुलना तमिल संस्कृति से करना ही मूर्खता है।" मैं सहसा क्रोध के मारे कांप उठा। मैंने उसकी छतरी छीन ली और उसे समुद्र की ओर फेंक दिया।

मैंने चिल्लाकर कहा-"जाकर किसी तमिली से शादी करना और फिर बाल में तेल लगाकर फूलों का हार जूड़े पर गूंथ लेना।"

मनोमी सहसा सिसककर रोने लगी।

"मेरी रेशमी नीली छतरी"-उसने हकलाकर कहा। लहरों के ऊपर उस छतरी की नीलिमा मैंने देखी। फिर भी मैंने अपने नटखटपन पर पछताया नहीं। मनोमी एक सीमेंट की बेंच पर बैठी। उसने हाथों से अपना मुख छिपाया। तब भी वह एक छोटी बच्ची के समान सिसकियां भर रही थी। "एक छतरी के खोने पर यहां नाटक क्यों कर रही है?" मैंने आवेग रहित आवाज में पूछा।

मनोमी ने कहा- "हम गरीब हैं। उस तरह की एक छतरी खरीदने की क्षमता मेरे पिताजी को नहीं।"

मैंने पूछा-"वह छतरी तुझे किसने दी थी?"

"वह छतरी मेरे स्कूल की प्रधानाचार्या मिसेज श्रीवर्धता ने मुझे भेंट दी थी।"

मैंने उसके कंधे को वात्सल्य के साथ सहलाया। मैंने कहा-"मैं उसे उसी तरह की एक रेशम की छतरी खरीद दूंगा। शायद तू सोचती होगी कि मेरे पास रेशम की छतरी खरीदने के पैसे नहीं होंगे। मैं अनपढ़ हूं। मैं केवल एक मेकनिक हूं। किंतु मेरे पास तेरे लिए रेशम की छतरी खरीदने के पैसे हैं। यदि तुम कहोगी तो छतरी ही नहीं हीरे और इंद्रनील से जड़ी एक अंगूठी भी खरीद दूंगा।"

"मुझे अंगूठी क्यों देते हो?"

"हमारी सगाई के लिए"।

"तेरे क्रोध की आदत से मैं डरती हूं। मैं यकीनन यह कैसे कहूंगी कि तू कभी मुझे ही उठाकर समुद्र में नहीं फेंकेगा?"

"तुझे किस प्रकार का पति चाहिए?"

"मेरे पिता के जैसा एक शांत आदमी।"

"शांत होने से पिताजी ने भला क्या पाया? तमिल लोगों ने उन्हें बेरहमी से मार डाला न? प्रार्थना में लीन पिताजी को मारनेवाले तमिल लोगों के प्रति ही तू हमदर्दी दिखाती है।"

"उन सिंहल सैनिकों के प्रति भी मैं हमदर्दी दिखाती हूं जिन्होंने जाफना में हत्याकांड मचाया। अपना बसेरा ऊपर लादकर चलने वाले प्राणियों के समान मानव अपनी मृत्यु को लादकर चलता

है। दूसरे को मारने वाला सोचता है कि उसने मृत्यु को जीत लिया है। कातिल का मन यह गाता है कि दूसरा मर गया और वह जीता गया। उस पल में ही सही वह मृत्यु को हराता है। निस्सामका, ऐसा भ्रम विभ्रांतों के लिए यथार्थ लगेगा।"

उसके मीठे वचनों का मतलब मेरी समझ में नहीं आया। शायद मैं कभी भी दार्शनिक नहीं होऊंगा। अपनी राजनीति में मुझे रुचि थी किंतु राजनीतिक भविष्यवाणी उसे अचंभे में डाल देती थी।

एक बार कोरनेलूस नामक डिपार्टमेंट स्टोर के सामने से गुजरते वक्त मनोमी ने कहा-"स्कूटर रोको। हम अंदर जाकर ऐसे भोजनों को देखकर उनका मजा लेंगे जिन्हें अमीर लोग खाते हैं। स्टोर के अंदर पैसा लेने और सामान देने के लिए बैठी वर्दी पहनी महिलाओं ने हमें अनदेखा कर लिया। ट्रालियां पकड़कर शेल्फों के बीच से होकर चलनेवालों को हमने कृत्रिम अवज्ञा के साथ देखा। सब बूढ़े थे। कीमती होने पर भी बिना चमक-दमक के कपड़े पहने हुए विदेशी।

मैंने कहा-"भारतीय यहां सलाहकार बनकर आते हैं और एक ही शाम में इतनी राशि खर्च करके चले जाते हैं जितनी से हमारे एक सिंहल परिवार के एक महीने का खर्चा सुखपूर्वक चल सकता है। यह देखकर मेरा खून खौल उठता है।"

"क्यों केवल भारतीयों पर दोषारोप लगाते हो? लगभग सारे सलाहकार गोरे हैं न? वे लोग ऐसा खर्च करें तो क्या तेरी कोई शिकायत नहीं है? क्या तू सोचता है कि यह केवल गोरों को प्राप्त अधिकारों में एक है।"-मनोमी ने पूछा। उसकी आंखें आइसक्रीम और मीठे दही से भरे शेल्फों में उछल रही थीं। मैंने आधा किलो पिस्ता आइसक्रीम का पैक खरीदकर उसे दिया।

मनोमी ने कहा -"यहां आकर कुछ खरीदना हम जैसे लोगों के लिए सचमुच अनुचित काम है।"

"यहां आकर आइसक्रीम देखकर मुंह से पानी बहाना ही उचित है क्या?"

मनोमी जोर से हँस पड़ी। एक बार मां ने मुझसे कहा था कि उसका ठहाका लड़कों के ठहाके के समान नियंत्रणहीन है। नियंत्रणहीन होने के कारण ही वह शायद इतना आकर्षक बना है क्या?"

स्कूटर में बैठते वक्त वह केवल कमर पर पकड़ लेती है। इसके अलावा कभी उसने मेरे तन का स्पर्श नहीं किया है। मेरे दोस्तों ने कहा-"अरे बेवकूफ। वह तुम्हारे द्वारा अनाश्लेषित शरीर को लेकर चली गई है। सालों तक उस युवती को स्कूटर पर लेकर चले तो भी तुम कुछ भी पा नहीं सके, न?"

मैं वह नहीं मानता। एक दिन शाम को हम एक अंग्रेजी फिल्म देखने थिएटर पहुंचे। स्कूटर पार्क करने गए तो दीवार की दूसरी तरफ से बौद्ध संन्यासियों का 'पिरीत' रटन सुना। हम दोनों एकदम मौन हो गए। समुद्र में तरंग चक्रों के लुढ़कने के समान लगनेवाले उस मंत्रोच्चारण ने उसकी आंखों को गीला कर दिया। उसने मुझसे कहा- "अब से पिरीत सुनने पर तू शायद मेरी याद करेगा।"

मैंने कुछ नहीं कहा। सूर्यास्त के कारण आसमान लाल-लाल होने लगा था। मनोमी के घुंघराले बाल हवा में नारियल के पत्तों के समान उड़े।

हां। वह सांझ मेरी एक उपलब्धि थी।

मनोमी

उसी दिन प्रकाशम और सुंदरम को देखने की मेरी इच्छा हुई। लेकिन मामा ने कहा- "आज तू जल्दी सो जा। कल सुबह आठ बजे नाश्ता करते वक्त तू सबको देख सकेगी।"

जब मैंने पूछा कि क्या, मुझे देखने की अनिच्छा से प्रकाशम और सुंदरम मेरे आने की खबर

मिलने पर भी घर छोड़कर बाहर गए हैं। तब मामा ने कहा-

"मेरे बच्चों को तुझे देखने में कोई अनिच्छा नहीं होगी। सातों जन्म वे तेरे सहोदर ही रहेंगे।"

मामा के शब्दों की ताजगी उनके स्वरों में नहीं थी। भोजन करते हुए बीच-बीच में चबाना रोककर सूनी दृष्टियों से एक मूर्ति के समान निश्चल बैठे रहे। रूपा ने पूछा-"पिताजी को आज यह क्या हो गया?" राजम्मा ने कहा- "हवाई अड्डे की यात्रा की थकावट के कारण शायद होगा।"

मैंने रूपा से पूछा- "मामा की तंदुरुस्ती इतनी कमजोर है क्या?"

मामा ने सिर हिलाया।

"नहीं मनोमी' मेरे हम उम्रवालों के लिए सहज समस्याओं के अलावा मुझे और कोई तकलीफ नहीं। मधुमेह, हृदय रोग, रक्तचाप....."

"पिताजी की मेडिकल जाँच का समय हो गया है। अंतिम जांच पिछले मार्च में हुई थी न? रूपा ने पूछा।

"हां, मार्च में ही। अब जुलाई हो गया। इस बार अस्पताल ले जाने के लिए मनोमी मेरे साथ आ जाए। रूपा तो अब नहीं आ सकती है न?

भोजन में चावल, सांबार, भुना मांस, रस और पापड़ थे। पुराने दिनों मामा के घर से खाये ब्यालुओं की प्यार भरी याद आई। राजम्मा के हाथों का कमाल उम्र के बढ़ने पर भी बिलकुल कम नहीं हुआ है।

ऊपर मुझे जो कमरा दिया गया था, उसमें एक डबल खाट, छोटा फ्रिज, आइना और अलमारी थे। गुसलखाने में गरम पानी का गीजर और बाथटब थे। मैं बहुत जल्दी नहा ली। फिर खिड़की की देहरी पर बैठी तो पारिजात के खिलते फूलों की खुशबू ने मुझे रोमांचित कर दिया। नीचे बगीचे में सात-आठ पेड़ मैंने देखे और एक तैरने वाला तालाब भी। तालाब के किनारे के बरामदे पर एक अधनंगा आदमी बैठा था। पहले मुझे यह शंका हुई कि बरामदे पर कोई प्रस्तर मूर्ति रखी है। वह युवक इतना निश्चल बैठा था। उनके आकार की परिपूर्णता मुझे अमानुषिक प्रतीत हुई। देखते-देखते उन्होंने दोनों हाथ ऊपर की ओर बढ़ा लिए। फिर नीचे कर लिए। मैंने देखा कि उसके वक्षस्थल पर एक फलक चमक रहा था। चांदनी से भी सफेद चांदी का एक फलक। मुख अंधेरे में था। जब उसने अपनी दृष्टि ऊपर की ओर उड़ाई, तो मैं खिड़की की देहरी छोड़कर अपने खाट की ओर गई। कुछ देर नींद की प्रतीक्षा में लेटी रही तो किसी के दरवाजा खटखटाने की आवाज मैंने सुनी। दरवाजा खोला तो राजम्मा एक फ्लास्क लिए खड़ी थी।

"मनोमी, ओवलटिन लो। सोने के पहले इसे पी लो।" उन्होंने कहा।

बुढ़िया के सूखे हाथों को मैंने अपने हाथों में ले लिया।

'बैठो, राजम्मा, मैंने कहा- "मुझसे कुछ बातें करो। पता नहीं श्रीलंका छोड़ने से हो या न हो, मेरा मन बेचैन हो रहा है।"

"खुश रहो"- बुढ़िया ने कहा। "अय्यावु ने रूपा से कहा कि मनोमी से सुंदरम की शादी करानी है। यह सुनने पर मुझे खुशी हुई।" मैंने पूछा "उस शादी के लिए हम सहमत नहीं हैं तो?"

"असहमति का कोई कारण नजर नहीं आता। सुंदरम स्वस्थ युवक है। धनिक भी। तुम भी सुंदर है। अय्यावु के लिए तुम तो जान से भी प्यारी हो। सबकी इच्छा है कि इसी घर में तुम और

वेदवल्ली एक साथ घर गृहस्थी संभाल लें।"

"सबकी इच्छा? यह कभी सच नहीं है। शायद मामा यह शादी कराने के इच्छुक होंगे। तुम भी। मेरा अनुमान है कि और किसी के लिए यह अच्छा नहीं लगेगा।"

"तुम अब भी वही पुरानी होशियार लड़की हो। लगता है इनसान के चेहरे को देखकर उसकी सोच समझ सकती हो।....." "बोलो, राजम्मा, मेरे आने के कारण इस घर में झगड़े हुए हैं न?"

राजम्मा जमीन के कालीन पर बैठी।

"यहां मेरे पस इस खाट पर बैठो। यहां तुम्हीं मेरी माता हो।"

मैंने उस बुढ़िया को उठाकर खाट पर बिठाया। उनकी आँखें भर आईं।

"मैं तुम्हें अपनी बेटी ही समझती हूं।" उन्होंने हकलाते हुए कहा। "मैंने शादी नहीं की है। इसलिए एक शिशु को जन्म देने का भाग्य मुझे नहीं मिला है। प्रकाशम, सुंदरम और रूपवती मेरे बच्चे बनकर पले। उन दिनों मैंने तुझे भी अपनी ही बेटी माना। तेरे मद्रास आने की खबर सुनकर सबसे ज्यादा खुशी मुझे ही हुई होगी। मैंने खुशी के साथ सोचा कि अब इस घर में मुझे मानवी माननेवाला कोई होगा। मुझसे इन लोगों को प्यार है। किंतु अपना प्यार प्रकट करने को उनके पास वक्त नहीं है। मुझसे बातें करना भी वे भूल जाते हैं। कहानियां सुनकर मेरी गोद में सोनेवाला प्रकाशम-उसके मुंह से "कैसी हो"- सुनकर कितने दिन बीत गए। यह तो सही है कि वह हमेशा व्यस्त रहता है। अय्यावु का कारखाना चलाने का भार प्रकाशम के कंधों पर है। वहां रोज झगड़ा और हड़ताल है। लंका से आनेवाले शरणार्थियों को नौकरी में लगाया। कैसे वह उन्हें नौकरी में नहीं लगाएगा? वहां के आंतकवादियों के नेतागण हमारे सुंदरम के मित्र हैं न? किंतु सुना है कि लंका से आए लोग साम्यवादी हैं। वे हड़ताल करके अय्यावु के मन को दुःखी करते हैं। उन्हें सजा देने के लिए उद्यत होते तो सुंदरम, प्रकाशम के साथ झगड़ा करने लगता। आपसी वाद-विवाद सुनने पर हमें लगेगा कि एक-दूसरे को मारने जा रहा है। एक ही पेट से जन्मे दो बच्चों का दुश्मनों जैसा व्यवहार करना सचमुच हैरत की बात ही है न?"

"क्या पहले कभी तुमने सोचा था कि सिंहल और तमिल आपस में मार-काट करने लगेंगे"?

"नहीं, मनोमी, मैंने कभी नहीं सोचा था कि तुम्हारे लोग और हमारे लोग आपस में घृणा करेंगे। किंतु यह कलियुग है। बेटी, यह युग ऐसा है जिसमें भाई-भाई आपस में लड़ मरेंगे। इसमें किसी को दोषी ठहराने से कोई फायदा नहीं।

"रूपा का पति कैसा व्यक्ति है? क्या वे आपस में प्यार करते हैं?"

"वे आपस में प्यार करते हैं। वे दोनों शिव और पार्वती के समान हैं। वह तो नटखट है बस। हमेशा जीभ से अजीबोगरीब आवाज निकालता रहता है।" "सुंदरम को मेरा आना बिलकुल पसंद नहीं आया होगा। सच बोलो राजम्मा, क्या, उन्होंने इस बात को लेकर मामा के साथ झगड़ा किया है?" "झगड़ा तो हुआ। फिर झगड़ा खत्म भी हुआ। सुंदरम ने अय्यावु को तुम्हें उच्च शिक्षा के लिए विलायत भेजने की सलाह दी। उनके भी विरोध के कारण हैं। लापता होते आतंकवदी चीते भी उनके दोस्त हैं। उनके लिए चंदा लेनेवाला सुंदरम है। रेडियो से संदेश सुंदरम को फटाफट मिलता रहता है जाफ्ना से।"

"राजम्मा, तुम्हारी क्या राय है? दुष्ट कौन हैं आतंकवादी या सिंहल के लोग?" "सारे ईश्वर ही दुष्ट बने हुए हैं।" मैं खाट पर लेटे हँस पड़ी। "मेरी बेटी, इस बातचीत के बारे में किसी से कुछ मत बताना।"

"कभी नहीं।"

राजम्मा के जाने के बाद भी मुझे नींद नहीं आयी। सारी सुविधाओं से युक्त शयनागार होने पर भी मैं बिलकुल निद्राविहीन हो, चित पड़ी रही। बाहर की हवा से पारिजात और चंपा की सुंगध कमरे के भीतर बहकर आई। आधी रात के करीब कहीं कराह सुनकर मैं जाग उठी। पहले मैंने सोचा कि वह मेरे स्वप्न से निकली रुलाई है। वह दर्द से पीड़ित किसी जानवर की कराह थी। मामा के कोई कुत्ता है क्या? क्या उसे कोई बीमारी लगी है? या कोई गाय होगी। मैं उठकर अपने महीन निशावस्त्र के ऊपर सालूवा भी ओढ़े बगैर टॉर्च लेकर बाहर के गलियारे पर पहुंची। सारे दरवाजे बंद दिखाई पड़े। जब मैं गलियारे की दाईं ओर एक दरवाजे के पास पहुंची तो वह आवाज जोर से सुनाई देने लगी। दरवाजा खोलकर मैंने चारों तरफ देखा। वह सीढ़ियों का एक तल था। सीढ़ियां चढ़ कर मैं घर की छत पर पहुंच गई। तिलचट्टे के पंखों की हलचल मैंने सुनी। मकड़ी का जाल मेरे मुख को छू गया। टॉर्च की रोशनी में मैंने देखा कि कोई मनुष्य चटाई पर लेटा कराह रहा है। उसके सडियल व्रणों से आने वाली दुर्गंध मेरी नाक में समा गई। उसके दाहिने कंधे और हाथ की चोटों से मवाद बह रहा था। घुंघराले बालों वाले उस युवक के सिर को मैंने अपनी गोद में रखा। खून लगने से जटा बने उन बालों, मूंदी आंखों की लंबी पलकों और नंगी छाती को मैंने धड़कते दिल से देखा। मैंने एक विशेष वात्सल्य से उसका माथा सहलाया।

"रो मत। मैं दर्द मिटा दूंगी। मैंने धीमी आवाज में उससे कहा।" फिर उसकी चोटों को साफ कर उसमें बोरिक पाउडर लगा दिया। उसके बाद मैंने फ्लॉस्क खोलकर ओवलटिन उसके मुंह में उंडेल दिया।

"तुम्हारा नाम क्या है?"- मैंने पूछा।

"मैं तिरूच्चेलूवम हूँ"- उन्होंने कहा।

तब भी उन्होंने आंखें न खोलीं और न मुझे देखा।

मुझे लगा कि कट्टरगामा के बम विस्फोट में तितर-बितर हो गए मेरे पिताजी के शरीर के बचे खुचे भाग मैं देख रही हूं। कुछ पल के लिए मेरी आंखों में अंधकार छा गया। मुझे लगा कि संध्या के समय मैं फिर पिरीत मंत्रोच्चारण सुन रही हूं। मैंने यह भी देखा कि मेरे और पिताजी के घर की ओर जानेवाले रास्ते की दोनों ओर लटके सफेद झंडे मृत्यु के प्रतीक हवा में डोल रहे थे।

तिरूच्चेलूवम का सुंदर मुख मैंने श्रीलंका की कई जगहों पर पोस्टरों में देखा था। उसके सिर के लिए श्रीलंका सरकार ने दो लाख रुपए का इनाम घोषित कर दिया था। घोर आतंकवादी तिरूच्चेलूवम को जेल भेजने के लिए मदद देनेवालों को कुछ भी इनाम देने के लिए राष्ट्रपति जयवर्द्धना तैयार थे। तिरूच्चेलूवम को जिंदा या मुर्दा श्रीलंका की पुलिस के हवाला करना। तीस वर्ष से कम आयुवाला युवक। भविष्य को छाती में लेकर चलने वाला युवक। भविष्य का रचयिता। मुझे डर लगा कि आंखें खोलने पर वह मुझे श्रीलंका की औरत के रूप में देखेगा। मुझे मरने का डर नहीं था किंतु मेरे कारण दूसरे को लाज लगे, यह मुझे न जाने क्यों अच्छा न लगा। मैंने उससे

पूछा- "कितने दिनों से इधर पड़े हुए हैं?"

उसने कहा -"कल रात मैं तिरूवनंतपुरम से होकर आया हूं।"

"अठारह तारीख को। है न?"

"नहीं। उन्नीस तारीख को। एक स्त्री के रूप में सुंदरम ने मुझे यहां पहुंचाया। सुंदरम ने कहा है कि वह कल रात एक डॉक्टर को गुप्त रूप से यहां लाएगा।"

"तुम आंखें क्यों नहीं खोलते?"

"खोली नहीं जाती। बड़ा दर्द हो रहा है। मेरी आंखों में भी उन्होंने चोट कर दी है।"

"कौन?"

"श्रीलंका की जलसेना ने। हम जिस नौका में आए उसे उन्होंने बम से तहस-नहस कर दिया। दूसरे लोग मरे होंगे। समुद्र में तैरते रहे मुझे उठाकर उन्होंने चाकू भोंककर चोट लगा दी लेकिन मैं बच निकला। खून बहाता हुआ ही मैं पानी के नीचे से तैरा। एक बात सोचने पर ही मेरे मन को चैन मिलता है।" "क्या सोचने पर तुम्हारे मन को चैन मिलता है?"

मैंने एक सिंहली को पानी में दम घोंटकर मार डाला। कम से कम एक तो मरा।"

"सिंहलियों से तुम इतनी घृणा करते हो?"

"हां, मैं चाहता हूं कि वे सब मर मिटें।" उनके हाथ-पांवों को ओढ़ाते हुए मेरे हाथ कांप उठे। मुझे फिर लगा कि उस छत पर भी बौद्ध संन्यासियों का मंत्रोच्चारण सुनाई पड़ रहा है। मैं तुरंत अपने शयनकक्ष की ओर वापस आई। खाट पर चित लेटकर मैंने पुकारा :

"निस्सामका"

मेरा दोस्त यहां प्रकट होता तो मैं फिर कहती :

"हे निस्सामका, मैं किसी से घृणा नहीं कर सकती। अपने बाप के हत्यारे से भी मैं घृणा नहीं कर सकती।

पिछली बार डॉक्टर कृष्णमूर्ति से मिलने पर उन्होंने कहा था- "दो हफ्ते अस्पताल में रहना। परीक्षण-निरीक्षण करके हम डॉक्टर बीमारी का पता लगाएं। तुम्हीं कहते हो कि करीब एक साल से तुम्हें दर्द और मतली है। करीब दस किलो वजन भी कम हो चुका है। चाहे कितना बड़ा महारोग हो शुरू में ही उसका पता चला जाए तो इलाज करके दूर करने में हमें आसानी होगी।"

"बीमारी से ज्यादा मैं बीमारी की पहचान से डरता हूं।"

"मुझे इसका मतलब समझ में नहीं आता कि तुम्हारे जैसे दुनियादार और बुद्धि-शक्तिवाला व्यक्ति अस्पताल में रहने से क्यों विमुख होता है। तुमने तो बच्चों को शिक्षा देकर उचित जगहों पर पहुंचाया भी है। तुमने अपनी सारी जिम्मेदारियां सही ढंग से निभाईं। अब तुम्हें मृत्यु से भी डरने की जरूरत नहीं।"

"एक ही जिम्मेदारी बाकी है- मेरे पुराने दोस्त टेन्नक्कून की बेटी की शादी एक सुयोग्य युवक से करा देनी है। जब तक वह सनाथ नहीं हो जाए तब तक मैं जिंदगी पर लटकता रहूंगा।"

"मेरी राय यह है कि तुम्हें कोई गंभीर बीमारी नहीं है। किंतु उम्र की वजह से बीमारी के हर लक्षण की पहचान करा लेना पारिवारिक डॉक्टर होने के नाते मेरा फर्ज है। सहयोग दो।"

"डॉक्टर, मैं अस्पताल आऊंगा। लेकिन मुझे एक महीने का समय चाहिए। रूपा की प्रसूति

हो जाए। मनोमी की शादी भी हो जाए। फिर कृतकृत्य होकर मैं किसी भी परीक्षण के लिए प्रस्तुत हो जाऊंगा।

रूपा की प्रसूति के दिन मनोमी ही अस्पताल में उसकी सहायता के लिए रही। रात में उसे रोटी और सब्जी, रूपा को दूध और रोटी देने के बाद मैं और मूर्ति घर लौटे।

"ईश्वर तेरी रक्षा करे।" मैंने जाते वक्त उसके सिर पर हाथ रखकर कहा। वह हमारे साथ अस्पताल के फाटक तक आई। अंदर जगह न होने के कारण मूर्ति ने कार बाहर सड़क पर पार्क की थी।

मूर्ति ने कहा- "कल तुझे घर ले जाने के लिए मैं कार लेकर आऊंगा।"

उसने कहा- 'नहीं, मैं मामा की कार में यात्रा करूंगी।'

"ऐसा क्यों कहती हो? क्या मेरा ड्राइविंग पसंद नहीं?"

मनोमी ने कहा- "नापसंद जवाब नहीं सुनना है तो सवाल मत करो।" मूर्ति को न देखे, इस उद्देश्य से उसने मुख मोड़कर कहा। उसका व्यवहार मुझे अजीब लगा। मुझे शंका हुई कि क्या मेरे दामाद ने उसे किसी प्रकार तंग किया हो। मूर्ति ऐसा आदमी नहीं- मैंने अपने आप कहा।

मूर्ति की कार में सफर करते वक्त मैंने हिम्मत बांधकर उससे पूछा- "मूर्ति, मनोमी को तुमसे घृणा क्यों है?"

"घृणा तो नहीं। मर्दों से बतियाने में उसे बड़ी दिलचस्पी है। पिताजी यह सब नहीं देखते होंगे। उसके कारण प्रकाशम और वेदवल्ली की आपसी बातचीत तक बंद हो गई है।

"मैंने कुछ नहीं जाना। हुआ, क्या?"

"मनोमी ने प्रकाशम को फंसा लिया है। कल वेदवल्ली के लिए साड़ी खरीदते वक्त प्रकाशम ने मनोमी के लिए भी साड़ियां खरीदीं। एक ही दाम की साड़ियां। ऐसा पूछने पर कि साड़ियां देने का कोई विशेष कारण है तो प्रकाशम ने कहा- जब चाहे मनोमी को साड़ी देने का मेरा अधिकार है। वेदवल्ली उसी पल कमरा छोड़कर चली गई। फिर भोजन के लिए भी नहीं आई। रूपा ने कहा कि रात भर कमरे में हलचल मच रही थी। मैंने कुछ नहीं सुना। लेटते ही मैं सो गया। क्या, आपको याद नहीं आज सबेरे आपका कहना न मानकर वेदवल्ली बगीचे गई थी।"

"नहीं, मुझे कुछ भी याद नहीं।"

"आपने कहा था न कि रूपा को अस्पताल ले जाते वक्त उसके साथ वेदवल्ली भी जाए। वेदवल्ली बगीचे जाकर छिप गई। तभी तो मैंने मनोमी को बुलाया था।"

"मैंने कुछ नहीं देखा। मुझे यह भी पता नहीं कि इस घर में क्या हो रहा है। तुम्हें तो आपस में प्यार और रक्षा करके जीना है। तुम लोगों का आपसी झगड़ा भी बुढ़ापे में मुझे देखना पड़ेगा क्या?"

"मनोमी के आने तक हममें से किसी ने झगड़ा नहीं किया था। उसका हास-विलास ही मर्दों को लड़ाता है।"

"मैं नहीं मानता कि मनोमी एक हास-विलास वाली महिला है। बौद्ध धर्म की संहिताओं में गहरा ज्ञान प्राप्त वह लड़की कभी ऐसी हरकतें नहीं करेगी। उसके बारे में तुम्हारी गलतफहमी है। मेरी सुदृढ़ शंका है कि तुम सब मिलकर उसके विरुद्ध षड्यंत्र रच रहे हो।"

"मामा, उसने तुम्हें भी फंसा लिया है। उसकी आलोचना करने पर तुम बेचैन हो जाते हो, पसीने

से तर हो जाते हो।''

"मूर्ति! बकवास मत करो। कम से कम मेरी उम्र का ख्याल करके मेरा अपमान मत करो।''

मैंने रसोई जाकर राजम्मा को बुला लिया। उस बुढ़िया को सिर्फ इतना ही पता था कि झगड़ा हुआ है। झगड़े के कारणों का पता उसे नहीं था।

"मनोमी मासूम है'' उसने कहा। वह खरा सोना है। ये तीनों बदमाश उसे तंग कर रहे हैं।''

'मैंने पूछा-"मेरे बच्चों और दामाद को तुम बदमाश कहती हो?''

"बदमाशी करने वालों को मैं और क्या पुकारूं? कल सुबह मैंने देखा था कि मेज के नीचे मनोमी के पैर पर मूर्ति ने दो बार पांव लगाया। आखिर हार मानकर वह भोजन किए बगैर उठकर चली गई। पिछले शुक्रवार को प्रकाशम ने सीढ़ियों के नीचे अकस्मात् ही उसे गले लगाया और भावावेग के साथ उसे चूम लिया। उसे हटाकर वह ऊपर की ओर दौड़ी। फिर रो-रो कर लाल हुई आंखों के साथ ही भोजन कक्ष आई। वे लोग उसे चैन के साथ यहां जीने नहीं देंगे।''

"यह सब सुनकर मेरा दिल गल रहा है। उसे यहां नहीं ले आना चाहिए था मुझे। अपमानित करने के लिए उसे इस घर में नहीं बुला लाना चाहिए था। सुंदरम? बोलो राजम्मा, क्या, वह भी उसे तंग करता है?''

"एक रात को सुंदरम उसके कमरे का दरवाजा जोर-जोर से खटखटा रहा था। कमरे से कोई आहट नहीं आई। जब मैं सुंदरम के पास गई तो उसने कहा-'बुढ़िया, जाकर सो जा। मेरी और मनोमी की बात पर तुम कोई हस्तक्षेप मत करो।' मैंने जोर देकर कहा कि आधी रात के वक्त एक अविवाहित लड़की के कमरे में घुसने का प्रयास करनेवाले युवक को उस प्रयास से पीछे हटाना दरअसल मेरा फर्ज है। तभी सुंदरम हार मानकर अपने कमरे लौट गया।''

"बोलो राजम्मा, अब मुझे क्या करना है? मेरे बच्चे बुरे बन गए हैं न?''

"मनोमी की शादी कराके उसे मद्रास से बाहर भेज देना।''

"मैंने चाहा था कि सुंदरम उससे शादी करे।''

"वह सुंदरम से शादी नहीं करेगी।''

"सुंदरम से उसे उतनी घृणा है क्या?''

"उसे सुंदरम से घृणा है। यहां के तीनों युवकों से उसे घृणा ही है। उसे वह सदा प्रकट करती भी है। उसने दुःख के साथ मुझसे कहा कि जिन्हें बड़े भाई समझा था वे सब बदमाश निकले। उन सबको देने के लिए वह जो सफेद श्रीलंकन कुर्ते लाई, सब उसने पेटी में ही तह करके रखे। मनोमी ने मुझसे कहा कि राजम्मा, वे मेरे उपहार पाने योग्य नहीं।

'हां मालिक, मनोमी दुःखी है। कभी-कभी कमरे में जाकर रोती है। मर्दों का तंग करना एक ओर। औरतों की कटूक्तियां दूसरी ओर। वह अब नरक में जी रही है। वेदवल्ली और रूपा को उस पर शक है। मैंने वेदवल्ली को रूपा से यह कहते सुना कि मनोमी उनके पतियों को छीन लेने आयी यक्षी है। काली लड़कियों को गोरी लड़कियों से जो क्रोध है उसे तो मैंने देखा है लेकिन इतनी घृणा, इतना वैर। यह मामूली बात नहीं। मेरा डर है कि वे सब मिलकर मनोमी को मार डालेंगे।''

"मार डालेंगे? कभी नहीं। यहां का कोई खूनी नहीं। मारने को भी चाहिए थोड़ा धैर्य और मनोबल।''

"खूनियों को ही इस घर की छत पर छिपाकर रखा है न? दो वर्षों से इस प्रकार के लोगों को भोजन देकर छत पर संरक्षण दे रहे हैं न?

"जोर से मत कहो। कोई सुन ले तो सुंदरम को ही सजा मिलेगी।"

"सुंदरम बचपन से ही इस प्रकार का था। गलती करने का धैर्य नहीं, लेकिन गलती करने वालों का सम्मान करेगा। सुंदरम दूसरों का पाप ऋण के रूप में लेने वाला अजीब जीव है।"

"अरी बुढ़िया, तुमने मेरे बच्चों को पाल पोसकर बड़ा किया है। नहीं तो मैं ऐसे कटु वचन सुनते ही तुमको लात मारता।"

राजम्मा हंस पड़ी।

"मनोमी की शादी तय करनी है। नहीं तो उसे श्रीलंका वापस भेजना है।"- मैंने कहा। "हां उसे श्रीलंका वापस भेजना है।" "उसके साथ मैं भी जाऊंगा। उस द्वीप को छोड़ मेरे यहां आए सत्रह साल हो गए। स्वर्ण तुल्य उस देश में एक बार फिर जाने की और वहां के समुद्र तट पर खड़ा होकर सूर्यास्त देखने की बड़ी तमन्ना हो रही है।"

"यात्रा करने लायक स्वास्थ्य आपका नहीं है। डॉक्टर कृष्णमूर्ति ने अस्पताल में भर्ती होने को कहा था न?"

"बीमार होने के कारण ही मुझे बहुत जल्दी श्रीलंका जाने की इच्छा हुई है। मैं अपनी तंदुरुस्ती और जवानी वहां छोड़कर आया था। जो कुछ खो गया उसे मैं वापस पाना चाहता हूं।"

"मुझे कई बार लगा है कि आपको पुण्यकांति नोणा से प्यार था।"

"बुढ़िया, तुम्हारा बकवास ज्यादा हो रहा है।" राजम्मा मसूड़े दिखाकर जोर-जोर से हँसी। उस रात नींद की गोली खाने पर भी मैं सो नहीं सका। रक्तचाप का सिरदर्द मुझे सता रहा था। मुझे लगा कि आँखें सो रही हैं और कानों में हवा सीटी बजा रही है। मैं उठकर स्वागत कक्ष गया और राजम्मा को बुलाकर थोड़ा कॉफी और सेंकी रोटी का टुकड़ा देने का आदेश दिया। जब रसोई घर में काम चल रहा था तब बगीचे में सियारों का हुआना सुनाई पड़ा। उसके बाद वातावरण निश्चल हो गया। तब मैंने किसी की कराह सुन ली। प्रसव वेदना सहने वाली कुलीन नारियों के मुँह से साधारणतः निकलने वाली कमजोर आवाज। मुझे लगा कि तकिये को दांत से दबाकर दर्द को दबाने की कोशिश करके कोई कराह रहा है। मैंने राजम्मा से पूछा-"कौन कराह रहा है? नौकरों में कोई बीमार है क्या?"

"आतंकवादी चीता ही कराह रहा है। सुंदरम उसके पास डॉक्टर को ले गया है। सुना है कि उसका तमाम शरीर घावों से भरा है। स्त्री की पोशाक पहनाकर ही लंका से रामेश्वरम् ले आया।"

"सुंदरम क्या छत के ऊपर होगा? उसे बताओ कि मैं उससे मिलकर कुछ बोलना चाहता हूं।"

राजम्मा यह फुसफुसाती गलियारे की ओर गई-'ठीक है। सीढ़ियां चढ़ने से ही मेरे घुटनों में दर्द हो रहा है। यहां किसी को यह याद नहीं है कि मैं सत्तर पार हो चुकी हूं।'

जब सुंदरम डॉक्टर को विदा करके स्वागत कक्ष पहुंचा तो घड़ी ने दो बार आवाज लगाई।

उन्होंने पूछा-"पिताजी को आज नींद नहीं आ रही है क्या?"

"पिताजी को नींद कैसे आएगी? तुम सब मिलकर उस बेचारी सिंहली लड़की पर शिकार करो तो मैं कैसे सोऊंगा? तुम्हारा उद्देश्य क्या है? क्या उसे यह जता देना तुम चाहते हो कि तुम संस्कृति विहीन हो।"

"पिताजी सही बात पर आओ। पिताजी, मुझे क्या करना है? आप भला चाहते क्या हैं?'

"उस परिवार के प्रति मेरा जो एहसान है वह तुम्हें भली-भांति मालूम है। मैंने सोचा था कि तुम उसे अपनी पत्नी बनाओगे।"

"पिताजी की चाह है तो वह शादी हो जाए। फिर क्या आप सोचते हैं कि आतंकवादी मुझे जिंदा छोड़ेंगे? वे मुझे मार डालेंगे। पिताजी, सिंहल की लड़की से मैं शादी करूं तो वे मुझे जान से मार डालेंगे।"

"तू भी उसे शत्रु मानता है? तू भी उसे मार डालना चाहता है? सच बोलो क्या इस घर में उसकी जान खतरे में है? तो मैं उसे लेकर श्रीलंका जाऊंगा।"

"क्या पिताजी इस संकट की स्थिति में श्रीलंका जाएंगे? ऐसा कभी नहीं होना है। हम कभी पिताजी को श्रीलंका जाने नहीं देंगे।"

"मरने के पहले मैं श्रीलंका एक बार और देखना चाहता हूं। मेरा विश्वास है कि वहां जाने पर मेरे मन को चैन मिलेगा। जब मैं वहां रहता था तब मैं खुश था। प्यार पाता था। हां बेटा, मुझे श्रीलंका जाना है।"

मनोमी

रक्त की जाँच और अन्य जांचों की जानकारी लेने के लिए मनोमी ही अस्पताल गई। डॉक्टर कृष्णमूर्ति ने उसे देखा तो आश्चर्य से पूछा : "सिर्फ तुम्हीं आई हो? बेटे क्यों नहीं आए?"

"सुंदरम तृश्शिनाप्पल्ली जाने वाला है। प्रकाशम के पास वक्त नहीं है। कारखाने में हड़ताल और प्रदर्शन है। श्रम अधिकारी घर आकर प्रकाशम से बहस में लगा हुआ है।"

"तो मिस्टर अण्णादुरै की बीमारी की खबर मैं तुम्हें देता हूं। पता चला है कि उन्हें कैंसर है। वह पेट में ऐसा बढ़ गया है कि शल्य क्रिया असंभव हो गई है। कैंसर पैंक्रियास को लगा है। हमें सिर्फ करना यह है कि दर्द कम करने की दवा देकर आराम करने देना। किसी भी क्षण उनकी मृत्यु हो सकती है। एक महीने के अंदर मृत्यु होने की संभावना है। मिस मनोमी, 'आइ एम सॉरी'।

मामा के कमरे पहुंचकर मैंने उनके दाहिने हाथ पर धीरे से सहलाया। मेरी आंखें देखकर वे बातें समझ गए। उन्होंने पूछा कि डॉक्टर ने कहा न कि मुझे कैंसर है।

मैंने सिर हिलाया। मुझे पता था कि कमरे में अंधेरा हो चुका है और खुली खिड़की से मच्छर मंडराते हुए अंदर आ रहे हैं। फिर भी मैंने न उठकर लाइट जलाया और न खिड़की बंद की। पल बीतते गए तो खामोशी हमारे बीच मिट्टी के ढेर के समान बढ़ती गई। वह बुरी खबर मामा से उनके बड़े बेटे को कहनी चाहिए थी। मैंने अपने आप से कहा इतना अधिक दुःख मैंने उस भले आदमी को क्यों दिया और फिर बहुत समय के बाद मामा ने अपना हाथ बढ़ाकर मेरे मुख के आंसू पोंछ लिए। उन्होंने कहा "बेटी, इस साल की शुरुआत में एक पिताजी को खो गई। साल के अंत होने पर वही दुःख तू भोगने जा रही है।

"दुःख इसलिए होता है कि किसी वस्तु को नश्वर होने पर भी उसे अनश्वर समझते हैं। सबकुछ बदलता रहता है। हर एक बदलाव दूसरे बदलाव से जुड़ा है। अगर हर बदलाव का एक कारण है तो उस कारण का और एक कारण है तो न बदलने वाला और आदिम हेतु एक होगा, मामाजी।"

"तू क्या कह रही है?"

"शून्य ही वह वस्तु है जिसका कोई बदलाव नहीं।" "क्या, तू मुझे दर्शन सिखाने की कोशिश करती है?" "नहीं मामा। बुद्धदेव ने कहा था कि दार्शनिक तालाब के चंद्रबिंब को पकड़ने की चाह रखने वाले बंदर के समान है। ब्रह्म में विश्वास करके ब्रह्म को खोजनेवाला चौराहे में सीढ़ी लगाकर अब तक न देखे अजनबी मीनार की ओर चढ़ने की कोशिश करनेवाले मानव के समान है।"

"मृत्यु का मतलब क्या है?"

"हिंदू लोग कहते हैं कि जब आत्मा परमात्मा में विलीन हो जाती है तब उसे निर्वाण मिलता है। कर्मो का अंत होने पर चित्तवृत्ति का निरोध होता है। तब प्यार, जीवन और चिंता खत्म हो जाते हैं।"

"यादें मिटेंगी? तुझे मेरे बच्चों को और मेरे द्वारा छोड़े गए संपूर्ण कर्मो की याद करके और एक लोक में रहकर मैं दुःखी होऊंगा क्या? बुढ़ापा और मृत्यु का कारण क्या है?"

"एक आदमी ने बुद्धदेव से पूछा : बुढ़ापा और मृत्यु क्या है? बुद्धदेव ने कहा" आत्मा और शरीर एक है तो शरीर का नाश होने के साथ आत्मा का भी नाश होगा। यही नहीं अगर आत्मा और शरीर दो हैं तो यह जरूरी नहीं कि कर्म के गुण से आत्मा अच्छी बन जाए। दोनों अलग-अलग रास्ते से प्रयाण करेंगे। बुढ़ापा और मृत्यु जन्म पर आश्रित हैं। हां मामा, चिंता करने के लिए मानव नहीं रहा तो चिंता नहीं। मामा की चिंताएं चाहे दुःखद हों या सुखद, लेकिन मामा का चिंतित होना अनिवार्य है। मामा के मिटने पर मामा की चिंताएं भी मिट जाएंगी।"

"तू मेरी आत्मा को भूलकर बातें कर रही है।"

"आत्मा को खोजना मूर्खता है। क्योंकि आत्मा मिथ्या है, स्वप्न है, अयथार्थ है। "विशुद्धि मार्ग" नामक ग्रंथ में बुद्ध घोष कहता है- मानव मात्र नाम और रूप है। ज्ञान बीज से नाम रूप पैदा होता है। दार्शनिक अहं के साथ उद्घोषित करता है कि उसे पता है, उसे पता है, उसे पता है। आइने के भीतर प्रतिबिंबित आइने के समान कहानी की कहानी के समान अंतहीन और लंबे-लंबे पड़े बोधोदय। विशेष परिस्थितियों के प्रभाव में एक सूखी तीली से दूसरी तीली रगड़ने पर जिस प्रकार चिंगारी जन्म लेती है उसी प्रकार बोध का उदय होता है। उन्हीं परिस्थितियों के अभाव में बोध मिट भी जाता है।"

"तूने पहले तो एक सुंदर शब्द कहा- 'निर्वाण'। वह क्या है, वह कैसे प्राप्त होता है?"

"निर्वाण का मतलब है-निर-अलग होकर, हवा से अलग स्थिति का, अर्थात् अडिग स्थिति। काम, वैर, अज्ञता इन तीनों का नाश होने पर निर्वाण। जिस प्रकार मरूस्थल में फंसा पथिक कड़ी धूप में पेड़ और सरोवर की मरीचिका देखता है, हम उसी प्रकार जिंदगी को देखते हैं। विभ्रमी मन मरीचिका को हरियाली के रूप में देखता है।"

मामा ने मेरी उंगलियों को चूमा। उनके चेहरे पर मैं ऐसी शांति देख सकी जिसे मैंने पहले कभी न देखा था।

खिड़की के बाहर काली मखमल जैसा आसमान सहसा उज्जवल हो गया। पेड़ की छाया से बाहर आया चंद्रबिंब किसी के द्वारा जलाए दीए के समान मुझे प्रतीत हुआ। मार्गदर्शी दीया। चंद्रमा को दीया जैसा देखने पर मैं सहसा लज्जित भी हो गई। साधारण दृश्यों को प्रतीक बनाकर उसका मूल्य बढ़ाने की मेरी आदत नहीं थी। भारत आकर बाईस दिन हो गए तो भारतीय विचारों का प्रभाव मेरे विचारों ने प्रकट किया।

"तुझे भूख लगी होगी, मनोमी। तू नीचे जाकर भोजन कर। राजम्मा से मेरे लिए थोड़ा गेहूं का दलिया यहां ले आने को कह देना।"

"राजम्मा मंदिर गई है। उन्होंने मुझसे कहा कि आज श्रावण महीने का श्रविष्ट है।"

"उसके लौट आने पर तू दलिया की याद दिलाना।"

"मामा, मैं बना लाऊंगी गेहूं का दलिया। चाहे तो एक बर्तन किरिबात मैं बना दूंगी। लंका छोड़ने के बाद मामा ने नारियल के दूध में पकाया दलिया पिया नहीं होगा।"

"थैंक यू बेटी"।

सीढ़ियों पर मेरी पगध्वनि गूंज उठी तो भोजनकक्ष की बातचीत खत्म हो गई। वे मेरे बारे में ही बातें करते रहे होंगे। सब के सब आज समय के पहले ही रात के भोजन के लिए उपस्थित थे।

"पिताजी को बुलाओ"-वेदवल्ली ने कहा। प्रकाशम के बड़े बेटे ने कहा- "आज दादा के पसंद की सेंवई खीर है।"

मेरे चेहरे का रुख देखकर होगा, प्रकाशम ने पूछा-"क्या हुआ? पिताजी के बारे में डॉक्टर ने क्या कहा?"

"पिताजी को पैंक्रियास का कैंसर है।"

"हे भगवान! अब हम क्या करें?"-वेदवल्ली ने कहा।

"शल्यक्रिया की जरूरत होगी न?"-प्रकाशम ने पूछा।

"डॉक्टर कृष्णमूर्ति की राय है कि अब शल्यक्रिया से कोई फायदा नहीं।"

"डॉक्टर कृष्णमूर्ति से गलती हो सकती है न। मैं डॉक्टर थॉमस को फोन करके लाता हूं।" - प्रकाशम कुर्सी से उठा।

"नहीं।" मैंने कहा। "अब पिताजी को तंग करना ठीक नहीं। कल सुबह पिता की सहमति लेकर नए डॉक्टर को बुला लें। आज पिताजी को चैन से सो जाने दें।"

"पिताजी कैसे सोएंगे?" प्रकाशम ने पूछा। क्या, तुम समझती हो कि कैंसर का पता लगने पर भी पिताजी आज रात को सो सकेंगे?"

"तुम्हारे पिता मृत्यु से डरते नहीं।"

"क्या दादा मरने जा रहे हैं?"- प्रकाशम के बड़े बेटे ने पूछा।

छोटा बेटा कुर्सी से जल्दी उठा।

"मुझे दादा का मरना देखना है।"-वह सीढ़ियां चढ़ने लगा।

वेदवल्ली ने जोर से कहा- "संदीप, मैं मारूंगी तुझे।"

प्रकाशम ने पूछा-"सुंदरम कहां है?"

"सुंदरम तिरूनेलवेली गया है।"

"सारी जिम्मेदारी मेरे सिर पर लादकर वह घूमने जाएगा। कारखाने में हड़ताल के शुरू हुए दो हफ्ते बीत गए। यह जारी रहा तो हम कंगाल हो जाएंगे। मेरे यह कहने पर कि सत्याग्रहियों को बरखास्त कर नए लोगों को नियुक्त करना-तो सुंदरम मुझसे रुष्ट हो गया। आदर्शों को ऊपर उठाने में और भाषण देने में वह माहिर है। मैं ही अब सबकी नजरों में प्रतिनायक हूं न?

अगर दीपावली को बोनस के लिए हठ करें तो पैसे के लिए मैं जाऊं कहां? कोई भी बैंक अब

मुझे ओवरड्राफ्ट नहीं देगा। हड़ताल जारी रहे और पैसा न दे सका तो घर बेचकर फिर मद्रास छोड़कर किसी पिछड़े गांव में जाकर बसना पड़ेगा हमको।"

"मां पिछड़ा गांव माने क्या है?" बेटे प्रदीप ने वेदवल्ली से पूछा।

"चुप बैठ"-वेदवल्ली बोली।

"क्या हो गया हमको? दो-तीन हफ्तों से सारी बातें बिगड़ गई हैं। रूपा के अंधी बच्ची पैदा हुई। कारखाने में हड़ताल शुरू हो गया। पिताजी को कैंसर लगा। राजम्मा ने आज मुझसे कहा कि किसी ने हमारे परिवार का नाश करने के लिए जादू टोना किया होगा।"

"प्रकाशम, क्या तुम जादू-टोने में विश्वास करते हो?" मैंने आश्चर्य के साथ पूछा-"पढ़े-लिखे होकर भी तुम इतने अंधविश्वासी कैसे हो?"

"मैं विश्वासी हूं। मेरा विश्वास अंधा है या अंधा नहीं है, इसका निर्णय लेने का अधिकार तुझे नहीं।" प्रकाशम ने क्रोध के मारे सिहरकर मेरी ओर मुड़कर कहा।

"इतना क्रोध क्यों कर रहे हो? मैंने क्या गलती की?"

"कैसे क्रोध न करूं?" वेदवल्ली ने उठकर जोर से पूछा- "हमारी बातों में तू हस्तक्षेप क्यों करती है? तू लंका की औरत सिंहली, तू हमारे लिए पराई है। यहां आकर तू हमें सलाह देने लगी। यह हम सह नहीं सकते। तेरे आने से पहले यहां के भाई-भाई आपस में झगड़ते नहीं थे। पिताजी मुझसे और रूपा से कोई शिकायत नहीं करते थे। तेरे आने के बाद इस घर का ऐश्वर्य ही चला गया। जिस दिन तूने यहां पैर रखे उस दिन से हमारे शनीचर शुरू हुआ।"

"मुझे यह पता नहीं था। मैं जाऊंगी। जितनी जल्दी हो सके मैं लौट जाऊंगी। प्रकाशम, मुझे एक टिकट खरीद दे सकते हो क्या?"

"मनोमी दीदी के साथ मैं भी जाऊंगा।" संदीप ने जोर से कहा।

"मनोमी के साथ तू नहीं जाएगा। कोई नहीं जाएगा। वह अकेली आई। अकेली ही चली जाएगी।"- वेदवल्ली ने कहा। मैंने अपनी थाली में रखी रोटी को टुकड़ा-टुकड़ा कर दिया। मुझे लगा कि मेरा गला सूख रहा है। मुझे पहले पहल उस घर में एक परायापन महसूस हुआ। मेरे माथे पर उस दिन शाम को राजम्मा ने कुंकुम का जो टीका लगाया था मुझे लगा कि वह मेरे माथे को झुलसा रहा है। भोजन कक्ष में मेज के सामने बहुत बड़ा आईना लगा था। उसमें प्रतिबिंबित अपने नए और अजनबी रूप को मैंने निंदा के साथ देखा। तमिल स्त्रियों के समान बालों में फूलों की माला पहनी। घने लाल रंग की एक कांचीपुरम साड़ी मैंने पहनी थी। लाल रंग मेरी शक्ल के लिए कभी जंचता नहीं था।

"मुझे आना नहीं चाहिए था।"- मैंने फुसफुसाया।

"जल्दी कोई फैसला नहीं लेना"- प्रकाशम ने कहा।

"हम ऐसी कोई बात न करें जो पिताजी के दिल को दर्द पहुंचाए। पिताजी को इस समय तुम्हारा जाना दुखद लगेगा। कुछ समय तो इंतजार कर लो।"

"मनोमी को देखे बगैर पिताजी रह नहीं सकेंगे। पिताजी के बच्चे भी रह नहीं सकते।"- वेदवल्ली ने फुसफुसाया।

उसी समय सुंदरम दरवाजा खोलकर भोजन कक्ष पहुंचा। उसके चेहरे पर हर्ष की एक मुस्कान

भरी थी।

"मैं जीत गया।" उन्होंने कहा "रेडियो संदेश आया है कि मैंने जो पैसा भेजा था वह पलनी को मिला।" संदीप ने पूछा : पलनी कौन?

यह जानने पर मनोमी ने मुझसे क्रोध प्रकट किया कि मैं अपना वसीयतनामा नए सिरे से लिखने जा रहा हूं।

"तब तो उन लोगों का विश्वास प्रबल हो जाएगा कि मेरे आने का कोई गूढ़ उद्देश्य था। वैसा नहीं करना।"

"लेकिन तुम्हारी जिंदगी को सुरक्षित रखने का यत्न मैं नहीं करूं तो मेरी मृत्यु के वक्त वह चिंता मेरे चैन को मिटा देगी।

"मेरी सुरक्षा सिर्फ मेरे अंतर्मन की सुरक्षा है। मैं प्यार की खोज में यहां आई थी। मामा, आपके बच्चों का प्यार मैं पा न सकी। उन्हें आपस में लड़ने नहीं देना है इसलिए जल्दी मैं श्रीलंका लौट रही हूं। आपको साथ ले जाना मेरे लिए परम सौभाग्य की बात होगी।" वह मेरी खाट के तले बैठी थी। वह सिर झुकाकर मेरे करों को अपनी गोद में रखकर बैठी। मेरी श्रेष्ठ पालतू पुत्री। मेरी संपत्ति को स्वीकार करने से इनकार करने वाली। मैंने जान लिया कि उसकी खोपड़ी को भी चंदन की पवित्रता है। नाखून शंख के समान। पुनः मेरे मन में आया कि अगर सुंदरम उससे प्यार करता तो वह मेरी पुत्र-वधू बन जाती.....।

"मामा, कभी बेचैन न हो जाना। मामा की यह लंका यात्रा आनंददायक होनी चाहिए। हम दोनों को अनुराधपुरी जाना है। एक हफ्ते न्यूरेली में ठहरना है। ठीक है न मामाजी?" उसने पूछा। मैंने सिर हिलाया। "कितनी उम्मीदों के साथ तू मद्रास आई होगी। मेरे बच्चों के स्नेहहीन बर्ताव ने तुझे चकित कर दिया होगा न?"

"आपके बच्चों को मैं दोषी नहीं कहूंगी। उनकी उम्मीदों को मैंने भी तोड़ा है न?"

"तू ऐसा क्यों कहती है?"

"उन्होंने जिस व्यक्ति की प्रतीक्षा की थी मैं वह नहीं निकली। घृणा करने के लिए भी अभ्यास की जरूरत है। मेरे बेचारे पिताजी। उन्होंने मुझे घृणा करने का प्रशिक्षण नहीं दिया।"

उस दिन दोपहर को प्रकाशम ने मेरे कमरे में आकर क्रोध के साथ कहा- "पिताजी! आपको मलयाली संघ के नेता की याद है न? कृष्णन। हड़ताल का मूल कारण वही है। मैंने अपनी आंखों से देखा कि मनोमी उसके घर से निकलकर आ रही है। यह हमारे लिए कितने अपमान की बात है। सुंदरम को नीचे गिराकर अपमानित करने वाली औरत। हमारे मजदूरों में एक से गुप्त रूप में मिलना। उसे जल्दी लंका वापस भेजना ही उचित है।

"वह जाएगी ही। सुंदरम को उसने क्या किया? उसे धकेल देने का वास्तविक कारण क्या था?"

"जब सुंदरम ने उसका हाथ पकड़ा तो उसने मादा चीते के समान उसकी हथेली को काट डाला। सुंदरम उसे छू नहीं ले। लेकिन मजदूर कृष्णन उसके लिए प्यारा है। जोंक को पकड़कर हमने सेज पर लिटा लिया है।

बाद में मैंने मनोमी से पूछा तो उसने यह बात मान ली कि वह कृष्णन के घर गई। हड़ताल खतम करने के लिए कृष्णन से उसने प्रार्थना की। "हड़ताल के चलते मामा को कैसे लंका ले जा

सकती हूं?"- उसने पूछा।

यह पूछने पर कि क्या तुमने सुंदरम को काटा है तो उसने संकोच के साथ कहा- "किसी भी निरालंब नारी के लिए अपने दांत ही प्रहरी हैं।"

मनोमी ने कहा : "सुंदरम ने मुझे गले लगाने की कोशिश की। प्यार से उत्पन्न काम को मैं सह लूंगी किंतु वैर से उत्पन्न काम से मुझे सख्त नफरत है।

"तू भिक्षुणी बनना चाहती है क्या?"- मैंने पूछा। उसने सिर हिलाया। उसकी आंखें गीली हो गईं।

"मेरे वर्ग के लोगों और तमिल लोगों के बीच हो रही लड़ाई को खत्म करने का एक ही रास्ता मैं देखती हूं। बौद्ध धर्म की अशुद्धि हटाकर उसे शुद्ध कर देना। बौद्ध धर्म को मजबूत करना। हिंसा छोड़ने की प्रेरणा देने के लिए उसे और शक्ति प्राप्त करनी चाहिए। राजनीति की बातें करने वाले भिक्षुओं को उससे हट जाना चाहिए।"

"पुराने जमाने में जब चेर चेंकुट्टुवन ने राजसूय यज्ञ किया तब उन्होंने अपनी दाईं ओर पूजा करके अतिथि के रूप में लंका के राजा गजबाहु को बिठाया था। उसके पूर्व सिंहबाहु के बेटे विजय ने बंगदेश से लंका में आकर राजकाज शुरू करते वक्त प्रेमिका कुवेणी में संतान की प्रतीक्षा न करके एक कुलीन तमिल राजकुमारी को पट्टरानी के रूप में स्वीकार किया था। सिंहलियों के खून में विजय और तमिल नारी का खून बहता है। पितृकुल के लोग और मातृकुल के लोग आपस में दुश्मनी करें तो क्या फायदा है? अपने आपको दुश्मन के रूप में देखने वाली इस प्रथा का अंत करने का वक्त आ गया है।" मैंने कहा।

मनोमी ने ज्यादा समय मेरे साथ बिताया। शाम को चाय पीने भोजन कक्ष पहुंचा तो वेदवल्ली ने कहा- "पिताजी, आपसे मिलने के लिए एक वकील आया है। ऑफिस के कमरे में।" उसके नीरस चेहरे को मैंने देखा। उस सुंदर घर और घर के सदस्यों को छोड़कर लंका जाने में मुझे एक अजीब आनंद आया। मेरे सारे बंधनों को मनोमी ने अनजाने ही अपने मीठे वचनों से खोल दिया। आखिर मैं स्वतंत्र बन रहा हूं। मेरा मन गा उठा। वह अपने बगीचे के पारिजात की टहनियों में बुलबुल के समान पंख पसारकर उड़ने लगा।

ऑफिस के कमरे में मेरा मित्र वकील षण्मुखम बैठा था। उन्होंने उठकर मुझे गले लगाया।

"पता चला है न?" मैंने पूछा।

"मुझे दुःख है।"

मुझे मृत्यु से जरा भी डर नहीं। अपने सारे कर्तव्य मैं निभा चुका हूं। मनोमी के लिए कुछ रुपये रखने का निश्चय किया। किंतु वह उससे सहमत नहीं। ऐसा कोई भी काम मैं नहीं करूंगा जिससे उसे अपमान और निंदा पैदा हो जाए।"

"मिस मनोमी को श्रीलंका में भू संपत्ति है क्या? उसे चैन से जीने के लिए धन है क्या?"

"नहीं, षण्मुखम्। वह एकदम गरीब है, किंतु वह बौद्ध धर्म पर विश्वास रखने वाली है। मुझे यह भी लगता है कि वह संन्यास ग्रहण करना चाहती है। इतनी आध्यात्मिक शक्ति रखने वाली एक लड़की को पैसा देकर उसे लज्जित करना मैं नहीं चाहता।"

"प्रकाशम ने कहा कि आप दो हफ्ते के लिए लंका जा रहे हैं। स्वास्थ्य की बिगड़ी हालत में सफर न करना ही उचित है न?"

"नहीं, षण्मुखम्! मैं खोई हुई मन-शांति की पुनः प्राप्ति के लिए जा रहा हूं।"

"वहां मन शांति मिलेगी? वहां हम तमिल लोग रोज मारे जाते हैं न?"

"सिर्फ तमिल लोग ही नहीं, सिंहली भी मरते हैं। मृत्यु को वंश पहचानने की क्षमता नहीं है न? वहां के लोगों का खून आर्य अथवा द्रविड़ का नहीं। वह आर्य-द्रविड़ खून है। यह भूलकर ही वे उस सुंदर द्वीप में मृत्यु के बीज बो रहे हैं।"

"आप किसके पक्ष में हैं? सिंहलियों के पक्ष में हैं न?"

"मैं मरनेवालों के पक्ष में खड़ा हूं, मरने वाले मासूम आदमियों के पक्ष में। थोड़े आश्चर्य से मरने वाले श्रीलंका के लोगों के पक्ष में। ईलम के बारे में न जानने वाले, प्रभाकर और अमृतलिंगम् के बारे में न सुनने वाले, साधारण लोगों के पक्ष में। उनका अंतिम रुदन शायद सिंहल भाषा में ही होगा, नहीं तो तमिल में। मैं उनमें कोई अंतर नहीं देखता। देखता तो भी नहीं मानूंगा। दोनों पक्षों के लोग अम्मा या अम्मी कहकर मृत्यु को प्राप्त करते हैं। स्त्रियों की जंघाओं के बीच से पैदा हुए लोग। प्यार के बारे में जानने वाले।"

"आप एक कवि के समान बातें करते हैं।"

"हां, एक जमाने में मैंने भी कविता लिखी थी। मैंने भी कवि बनना चाहा था। फिर मनोमी के मां-बाप की मदद से व्यापारी बना। मेरा व्यापार खतम हुआ। मेरे कारखाने कब के बंद हो गए।"

तब तो आज वसीयत दुबारा लिखने की जरूरत नहीं है न?- षण्मुखम ने पूछा।

"अदृश्य संपत्ति की भेंट के लिए वसीयत या वकील की जरूरत नहीं।"

षण्मुखम मेरे साथ ठहाका मारकर हँस पड़ा।

उस रात भोजन के लिए बैठा तो मैंने अपने परिवार के सदस्यों को एक विशेष वात्सल्य के साथ देखा। स्वतः क्रोधी प्रकाशम अपने छोटे बेटे के मुंह में रोटी के टुकड़े रख रहा था। बच्चे ने चबाना छोड़कर मेरी ओर देखा और मुस्कुराया। वेदवल्ली प्रकाशम की कुरसी पकड़कर मेरा इंतजार कर रही थी- हीरे से जड़े आभूषण पहनकर मेरे सारे ऐश्वर्यों की मुख्य प्रतिनिधि के रूप में।

सुंदरम मनोमी के सम्मुख मुस्कुराए बिना बैठा रहा। मेज का चक्कर लगाकर राजम्मा हर एक के सामने थाली रख रही थी। मूर्ति और रूपा भी पहुंचे थे।

मैंने पूछा : "मूर्ति, क्या, बच्चे को नहीं लाया?"

सवाल का जवाब रूपा ने दिया- "नहीं पिताजी।"

"रात होने के कारण उसे नहीं लाया न? रात में बच्चे को डर नहीं लगेगा क्या?"

"नहीं पिताजी' रूपा ने कहा "बच्चा कुछ देख नहीं सकता है। फिर रात का विशेष अंधेरा देखकर कैसे डरे?"

मैं सहम गया। मुझे लगा कि मैंने अनजाने ही उसे गहरी चोट पहुंचाई।

रूपा ने कहा- "मूर्ति ने कहा कि पिताजी को अब यात्रा करना उचित नहीं है।"

मूर्ति ने कहा- "हां सर, थोड़े इलाज और आराम के बाद जाना ही ठीक है।"

"अय्यावु जाते वक्त मुझे भी ले जाएं तो अच्छा होगा। मैं शोरबा और काली मिर्च का रस बना दूंगी।"- राजम्मा ने कहा। उसे मेरी बीमारी के बारे में पता नहीं था। इसलिए वह खुश दिखाई दे रही थी।

मैंने कहा : "मनोमी शोरबा बना देगी।"

राजम्मा ने कहा-"मनोमी आते वक्त खाली हाथ आई और जाते वक्त अय्यावु को साथ ले जा रही है।"

केवल छोटे बच्चे राजम्मा की बात सुनकर हँसे।

सुदंरम ने पूछा- "षण्मुखम गया?"

"हां।"

प्रकाशम ने कहा- "षण्मुखम ने फोन पर कहा था कि वसीयत नए सिरे से लिखने के लिए वह आ रहा है।"

मैं चुप बैठा। परंतु मैं देख सकता था कि मनोमी का फीका मुख विवर्ण हो रहा था। उसने अचानक खाना छोड़कर प्रश्न भाव के साथ मेरे मुख की ओर देखा। सुंदरम ने पूछा : "पिताजी ने वसीयतनामा बदलकर लिखा क्या?"

"मैंने मेहनत करके जो संपत्ति कमायी उसे बांट कर देने का अधिकार मुझे है।" मैंने कहा।

प्रकाशम ने कहा- "पिताजी के लिए सारा काम करनेवाले मुझसे कुछ पूछे बिना?"

"मां, वसीयतनामा माने क्या है?" संदीप ने वेदवल्ली से पूछा।

मनोमी

तिरूच्चेल्वम के घाव भर गए थे। पट्टियां खोलकर गरम पानी से पोंछते वक्त मैंने उससे कहा- "इस सोमवार को मैं मद्रास से जा रही हूं।"

उसने लंबी बरौनियों वाली अपनी आंखों से मुझे देखा।

"क्यों?"

"मेरे लौटने का वक्त आ गया है।"

"कहां?"

"लंका।"

"ओह! लंका में दंगा हो रहा है न? सिंहल सेना तुम्हें तंग करेगी।"

"नहीं! वे लोग मुझे तंग न करेंगे, तिरूच्चेल्वम्। मैं सिंहल नारी हूं।"

"तुम सिंहली हो?" उसका गला रुंध गया।

"हां, मेरा नाम मनोमी टेन्नक्कून है। मैं अण्णादुरै द्वारा पालित बेटी मात्र हूं।" मैं उसका चेहरा देख न लूं, शायद इस कारण होगा वह चटाई पर औंधा लेट गया। उसके कंधे हिले।

"तिरूच्चेल्वम, क्या, तुम रो रहे हो। मैंने पूछा- उसकी पीठ को दो बार सहलाकर मैं वहां से निकली।

"रुको" उसने आदेश दिया। मैंने उसे अनसुना कर दिया। मैं डर गई कि वंश और राजनीति के परे जो शक्ति है- हमारी तरुणाई- शायद वह हमें गलती कहीं ओर ले चलेगी। उस युवक का स्पर्श करने पर मेरा तन पुलकित हो जाता था न? उसकी होंठों को चूमने के लिए मैंने कितनी बार चाहा। नहीं, मुझे आगे कभी भी उसे नहीं देखना चाहिए। मैंने अपने आप ही कसम खाया। अपनी बोधियात्रा के लिए बाधा और रुकावट बनकर वह शरीर खड़ा न हो जाए। शरीर की निष्कलंकता कभी नष्ट न हो जाए।

हवाई अड्डे में हमें विदा देने के लिए एक बड़ी भीड़ उपस्थित थी। मामा ने सप्रेम सबसे विदा ली। राजम्मा, वेदवल्ली और रूपा फूट-फूटकर रोईं।

प्रदीप ने पूछा : "दादा जी कब लौट आयेंगे?"

"युद्ध समाप्त होगा तो लौटूंगा"- मामा ने कहा।

"कौन-सा युद्ध?"- संदीप ने पूछा।

"सारे युद्धों के खत्म होने पर मैं लौट आऊंगा।" मामा बोले।

"षण्मुखम ने कहा कि पिताजी ने वसीयतनामा अलग से नहीं लिखा है। मुझे खेद है कि पिताजी के दिल को मैंने उस दिन दुखा दिया।"- प्रकाशम ने धीमे स्वर में कहा।

"मुझे भी खेद है"- सुंदरम ने कहा।

"मनोमी, भारत आने पर तुम्हें कोई फायदा नहीं मिला।" - रूपा ने कहा।

"तुम्हारी यात्रा घाटे का व्यापार था"- मूर्ति ने जोर-जोर से हंसते हुए कहा।

"इतना घटिया मजाक मत करो।"- रूपा ने नीरसता के साथ कहा।

हवाई जहाज जमीन से उड़ान भरने लगा तो मामा ने कहा- "तुम्हारे प्रति मेरा बहुत बड़ा एहसान है।"

मैंने उस एहसान का जवाब देने की व्यर्थ कोशिश नहीं की। उनकी आंखों की चमक देखती हुई मैं चुपचाप बैठी रही। मामा को साथ लेकर गालफेज समुद्र तट पर टहलने जाने का सपना देख रही थी मैं। रक्तवर्ण सूर्य के अस्त का भी!

यात्रा वृत्तांत

संस्कृति का जजीरा ताशकंद

हरिसुमन बिष्ट

आखिरकार मैंने तय कर लिया कि बाबर को ढूंढ़ निकालना है। मैंने बाबर का नाम प्राथमिक विद्यालय में किसी कक्षा की पुस्तक में पढ़ा था। वह पढ़ना ठीक वैसा ही था जैसे छोटी-बड़ी कहानियां पढ़ना- यह बिल्कुल भी नहीं था, जो कुछ मैं पढ़ रहा हूं, वह इतिहास पढ़ रहा हूं- अपने गौरवशाली इतिहास से जुड़ रहा हूं- बाबर कौन था- कोई डॉक्टर, इंजीनियर, नेता या फिर इतिहास पुरुष। इस संबंध में न तो मुझे अपनी उस कक्षा में ठीक-ठीक बताया गया था और न किसी लोक-गाथा- कथा में कथा वाचक से सुना था। मैं यह जानता हूं, इतिहास स्वयं को नहीं दोहराता। फिर भी...

बात वर्ष 1992 की है- बाबरी मस्जिद के विध्वंस की खबर बिजली की भांति फैल गई थी। यह घटना हर रोज की घटनाओं से अलग सियायत के खेल का हिस्सा जिसे बताया जा रहा था, जिसके लिए कोई नॉमश नहीं होते। जिसमें कोई पक्ष-प्रतिपक्ष नहीं होता-सिर्फ खिलाड़ी होते हैं। खेल होता है, और न कोई जीतता है न हारता है- हर कोई सियासत की बिसात पर दांव लगाता है। जीवन-मरण का सवाल उठता है। तेज हवाएं चलती हैं।- गर्द-ओ-गुबार उठता है। तेज अंधड़ में इंसानियत उलझ जाती है। बचते-बचाते भागने की कोशिश में कई जानें चली जाती हैं। अविराम खेल चलता रहता है। मरने वालों की संख्या और अधिक बढ़ जाती है। अमन की संभावनाओं की तलाश की जाती है- हर तरफ से एक और नया खेल शुरू हो जाता है.....

आज न मेरे पिता हैं न बाबर, सिर्फ यह पुस्तक है जिसे मेरे पिता ने मेरे जन्मदिन पर मुझे उपहार में दी थी- जिसे मैंने एक पवित्र ग्रंथ की तरह सहेजकर रखा है- जब भी मन विचलित होता है- मैं इसका पाठ करता हूं। इसे बार-बार पढ़ना मुझे अच्छा लगता है। जब यह पुस्तक पिता ने मुझे दी थी उन्होंने गंभीर होकर -क्योंकि वह पिता थे पूछा था - 'यह बताओ बाबर कौन है?' पिता ने 'था' नहीं कहा। सोचता हूं पिता प्यार भर नहीं देते, बहुत कुछ देते हैं जीवन में- उनमें से जैसे यह एक पुस्तक। यह सिर्फ पुस्तक नहीं है, बहुत कुछ है इसमें- जीवन का बहुत कुछ घटित-अघटित। जीवन का स्याह-सफेद होने न होने के द्वंद्व में फंसी हजारों हजार जिंदगियां। इस पुस्तक ने बाबर के जीवन की जानकारी ही नहीं दी, बल्कि ताशकंद- समरकंद को जानने की उत्सुकता मुझे दी, जिसमें दर्ज है इन दोनों शहरों का इतिहास, भूगोल और जीवन का गणित भी।

पिता बाबर के विषय में बताते गए- वह मेरे लिए किसी रहस्य से कम नहीं था। उस रहस्य को जानने के लिए मैं जहां-तहां बाबर के विषय में पढ़ता रहा। दिन गुजरते रहे- बाबर एक व्यक्ति के रूप में मिलता गया- जो अपने समय का सर्वाधिक प्रभावशाली और धनवान है। उसका पूरा नाम

है- जहीरुद्दीन मुहम्मद बाबर (1483-1530) जो मावराउन्नहर और हिंदुस्तान जैसे महान राज्यों का शासक होने के साथ-साथ अपने समय के विज्ञ व्यक्तियों में गिना जाता है।

मैंने कहा न कि यह पुस्तक 'बाबर'- पिरिमकुल कादिरोव की कृति है। जिसके लिए वह अधिक जाने जाते हैं, मेरे लिए पवित्र ग्रंथ की भांति है, जिसका मैं समय-समय पर पाठ करता हूं- यह सिर्फ उपन्यास भर है। उपन्यास 'इतिहास' नहीं होता, ऐतिहासिक होता है। यह ऐतिहासिक उपन्यास बाबर के व्यक्तित्व का अत्यंत प्रभावशाली चित्रण करता है- जिससे मैं प्रभावित हुआ और मैंने निश्चय कर लिया कि मुझे इस व्यक्तित्व को और अधिक गंभीरता से जानना है। उस काल की सभी विशेषताओं को जानना है- जिनमें सामंतवादी वैमनस्य, शासकों की आपसी फूट, जनसाधारण पर बढ़ते कर के बोझ और आम तबाही पर विस्तृत विवरण के साथ-साथ एक शायर, इतिहासकार और बादशाह के रूप में बाबर के असाधारण व्यक्तित्व को समझना है।

24 जून 2012 अपराह्न 6 बजे का समय, साइलेंट मोड पर रखे मोबाइल फोन की कंपकंपी ने डरा दिया। साइलेंट मोड पर जब सत्ता और व्यवस्था होती है, उसमें भी ऐसी ही थिरकन होती है। जिसकी कंपन दूर तक जाती है। एक अजीब तरह की कंपन ने पूरे घर को दहला-सा दिया।

'भाई की जय हो। रात 11 बजे इंदिरा गांधी अंतरराष्ट्रीय टर्मिनल-1 पर मुलाकात होती है। वहीं गेट नं. 1 पर। भाई की जय हो।' आप को लग रहा होगा यकायक मैं यह क्या कहने लगा हूं, सच मैंने भी इतना भर टेलीफोन पर प्राप्त निमंत्रण को सुना और पवन वेग से प्राप्त सूचना को लेकर अपने मन मस्तिष्क के रहस्यात्मक खोह में खोने लगा। क्या सचमुच मुझे उजबेकिस्तान की तैयारी करनी होगी। वह भी ताशकंद।

मेरी टिकट और वीजा की व्यवस्था हो चुकी थी। पल भर के लिए मेरे लिए यह यकीन करना असंभव था। भले ही ऐसी सूचना मिलने की प्रतीक्षा मुझे कई दिनों से थी। विदेश गमन का मेरे लिए यह पहला अवसर था- उतना ही मीठा जितना कि मेरे पिता ने पहले पहल मुझे एक चॉकलेट थमाई थी, इसीलिए उत्सुकता का होना स्वाभाविक भी था। कार्यालय से अनुमति तथा अवकाश की स्वीकृति ले चुका था। मैंने फोन मिलाया और बताया कि मैं उड़ान परिक्षेत्र में ही मिलूंगा। ऐसा करना मेरे लिए सुविधाजनक है।

निश्चित समय पर हम लोग मिले, एकदम प्रसन्नचित्त मुद्रा में दिल्ली महानगर की भागमभग के जीवन से मुक्त होकर अनंत की तरफ उड़ान भरने की मनसा लिए। हमने एअरपोर्ट पर कस्टम की आवश्यक औपचारिकताएं पूरी कीं, और रनवे की तरफ बढ़ गए, विमान अपनी उड़ान के लिए जैसे हमारी प्रतीक्षा कर रहा था। आखिर हम लोग उस भूमि को देखने जा रहे थे, जो कभी युद्धों की विभिषिका को झेलने का अनुभव रखने वाली जमीन के रूप में जाना जाता था।

25 जून, 2012 को ठीक सुबह 5 बजे ताशकंद की धरती पर हम लोग उतरे। सूर्य की पहली किरण ने हमें उजबेकिस्तान के 22 हजार फिट की ऊंचाई पर आसमान में ही आधा घंटा पहले ही छू लिया था। यह भी पहला अनुभव था कि ब्रह्ममूर्हूत में उठना और नित्यकर्मों से निपटना - जिनके विषय में मुझे मेरे पिता ने बचपन में नैतिक पाठ के रूप में पढ़ाया था- उसे मैं यहां उसी रूप में अनुभव करने लगा था।

ताशकंद एयरपोर्ट की चारों तरफ की सुंदरता को चटक धूप में बड़ी देर तक देखते रहे। यह

शहर अब पहले जैसा नहीं है। सबकुछ बदल गया है- किसी जमाने में इस शहर के बारह दरवाजे थे, जो हमेशा खुले रहते थे- किंतु, आज आसमान और धरती का हर कोना यहां आने-जाने को खुला है। शरद, समृद्धि और शांति से परिपूर्ण ताशकंद को अपनी खुली आंखों से मैं देखने लगा। इस धरती के इतिहास के पाठ को दोहराने का ख्वाब पंख लगाकर कहीं उड़ गया था- या धरती के किसी कोने में औंधे मुंह गिर पड़ा था। आज ताशकंद की फलों से भरपूर ऋतु, यहां की धरती की उदारता, वादियों की खूबसूरती और पहाड़ियों से सरसराती हुई बहती हवा की मृदुता- आज यहां पर कोई कासिम बेग नहीं था, जो बाबर के कानों में फुसफुसाए और बाबर को कहना पड़े- 'इस बार हम सब कुछ से महरूम होकर खैरात मांगने आए। फकीर की तरह आए हैं, मोहतरम कासिम बेग! न तो खास इज्जत की उम्मीद कीजिए और न ही मेहमाननवाजी की।'

अब परिस्थितियां ठीक प्रतिपक्ष में खड़ी हैं। दुनिया के नक्शे में ताशकंद पहली पंक्ति में न हो लेकिन खूबानी और आलूचा के वृक्षों की पत्तियां अपनी डालियों से विदा लेने से पहले लोहित हो चुकी हैं - किंतु उनकी संख्या कम उनकी ठौर पर नई कोंपल फूटकर हरी-भरी डालियां ताशकंद आए आगंतुकों का स्वागत कर रही हैं- दूर चत्काल पहाड़ियों पर फैली बर्फ आंखों को सुखद आनंद की अनुभूति कराने लगी हैं, आंखें हट नहीं रही हैं पहाड़ियों पर से। विचारों का तारतम्य तोड़ने का उपक्रम करते - आत्मसंतोष से मुस्कुराती जरीना आ पहुंची। 'अस्सलाम वालैकुम, ताशकंद के दरवाजे आपके लिए खुले हैं.....।'

यह दुभाषिया है हमारी। हिंदी अच्छी बोलती और समझती है। भाषा की उसकी समझ उसके चेहरे पर झलकते आत्मविश्वास में झलक रही है। चेहरे पर मुस्कान उसके उत्साह में प्रकट हो रही है।

'फ्रैंड्स! हम लोग सबसे पहले 'द पार्क ट्यूरॉन इंटरनेशनल होटल' अब्दुल्लाह कॉडिरिप स्ट्रीट चलेंगे।' जरीना उजबेक है। इसकी भाषा किसी भारतीय द्वारा बोली जाने वाली भाषा से कहीं स्पष्ट और सुरुचिपूर्ण है।

'जरीना क्या कभी भारत गई हैं?' किसी ने पूछा।

'नहीं, ऐसा कैसे हो सकता है- हिंदुस्तान की करीना और उजबेकिस्तान की जरीना एक देश में एक साथ कैसे रह सकती हैं क्योंकि जरीना भौहों को रंगने के लिए ओस्मा* लगाती है और करीना उसके विषय में आप विशेष जानते हैं, आपको एक देश में एक को ही चुनना होगा।' जरीना ने कहा।

हँसी का ठहाका गूंज उठा। जरीना ने आगे जोड़ा 'एक मयान में दो तलवारें कभी नहीं रहीं।' ठीक कह रही है, सचमुच जरीना की भाषा में एक खास किस्म का लालित्य है- ताजापन है.....।

एक-एक करके हम लोग बस में चढ़े और होटल की तरफ चल पड़े।

ट्यूरॉन इंटरनेशनल तीन तारा होटल की बहुत सुंदर इमारत है। कांफ्रेंस यहीं होगी। सुन्दर और साज-सज्जायुक्त कांफ्रेंस हॉल यहीं पर हैं। अजब-गजब के शौकीनों के लिए बार, जिम, स्वीमिंग पूल और फिट सेंटर यहीं पर हैं। बिजनेस सेंटर का बोर्ड हर समय बदलती विश्व मुद्रा दर को इंगित कर रहा है। मुद्रा विनिमय यहां से कर सकते हैं।

---

* एक प्रकार का रस

होटल में नाश्ता। अपने मेहमानों का आवभगत करने के लिए उजबेक विश्वभर में जाने जाते हैं। अपनी पारंपरिक शैली में वे अभी भी स्वागत और सम्मान करते हैं। लोगों में सौहार्द पैदा करने के लिए आपसी मेल-मिलाप, तालमेल और बोलचाल पर विशेष ध्यान देते हैं। छोटों का अपने से बड़े-बुजुर्गों का सम्मान करना, उन्हें आदर देना जैसे एक नियम के तहत उनके व्यक्तित्व में शामिल है। जब दो पुरुषों के बीच मिलना हो तब पुरुष केवल एक दूसरे से हाथ मिलाते हैं और कुशलक्षेम पूछते हैं कि स्वास्थ्य कैसा है? घर परिवार में क्या चल रहा है।

जब औरतें मिलती हैं तब एक औरत धीरे से अपना माथा झुकाती और उसके दाहिने हाथ को मोड़कर अपने दिल पर ले जाती है। यदि कोई किसी के लंच-डिनर के आमंत्रण को स्वीकार नहीं करती या फिर उसमें विलंब से पहुंचने की बात करनी हो - उसके लिए यही वक्त होता है अपनी बात को कहने और कारण को स्पष्ट किया जाए।

जब कोई उजबेक किसी के यहां पधारता है, तो सामान्य रूप से बड़ों के लिए सोविनियर और बच्चों के लिए मिठाई ले जाते हैं। और मेहमान घर में प्रवेश करने से पूर्व घर के बाहर जूते उतार लेते हैं।

यदि चाय पार्टी पर किसी को आमंत्रित किया जाता है तो ऐसे में घर के मुखिया की भूमिका मेहमानों के आने पर विशेष हो जाती है। वह चाय बनाकर स्वयं मेहमान को चाय कप में रखकर देता है।

यदि मौका किसी जन्म-दिन का हो या उजबेकियों के जीवन में उनके बच्चों ने महत्वपूर्ण कार्य किया हो, माता-पिता या खानदान का नाम रोशन किया हो या शादी-ब्याह का अवसर हो या शोक की घड़ी हो - उसे सावधानीपूर्वक पारंपरिक तरीके से मनाते हैं।

शादी के अवसर पर फातिहा की रस्म अदा की जाती है। लग्न सुनिश्चित कर मेहमान पधारते हैं। लड़की शादी कबूल करती है। फिर माता-पिता मेहमानों का वहां उपस्थित होने का उद्देश्य सभी के सामने स्पष्ट करते हैं- इस रस्म को 'नॉन सिनदिक्रश' कहते हैं- यह एक तरह से भारतीय मुहावरे में दांत-रोटी का संबंध बनने का अवसर होता है। उसके बाद ही शादी का लग्न तय होता है। उजबेक जीवन शैली में शादी का महत्वपूर्ण स्थान है। शादी के उत्सव में रीति-रिवाजों/रस्मों का विशेष निर्वाह करते हुए बड़े धूमधाम से मनाया जाता है। शादी के दिन सुबह की दावत के समय 'शादी का दाल भात' की भी पारंपरिक रीति से दावत होती है। सायं के समय सभी पास-पड़ोस, सगे संबंधी दुल्हन के घर आते हैं। 'सब्जी तुग्रार' का काम करते हैं। यह रस्म बारातियों के खाने-पीने की तैयारी में हाथ बंटाने की होती है।

और दूसरी सुबह जब शादी का पुलाव परोसा जाता है, उस समय मांगलिक गीत-संगीत का आयोजन होता है।

भोजन के उपरांत उपहार दिए जाते हैं। दुल्हन के घर के लोग सरोपा और टोपी पहनते हैं। मौलवी दुल्हा-दुल्हन को आशीर्वाद प्रदान कर नव दंपत्ति को बधाई देकर शादी संपन्न होने की घोषणा करता है। फिर नव दंपत्ति विवाह पंजीयन कार्यालय जाते हैं। वहां विवाह के बाद पति-पत्नी होने को पंजीकृत करवाते हैं। फिर भगवान का धन्यवाद करने के लिए सभी लोग एक टेबल पर आकर इकट्ठा होते हैं।

धूम-धाम से जश्न मनाया जाता है। दूल्हा के घर पर विशेष बिस्तर तैयार कर उसे सुहागरात के लिए सजाया जाता है। आपको यह आश्चर्य होगा कि मैं यह बात क्यों कर रहा हूं; इसका यहां कोई औचित्य नहीं है। दरअसल जब होटल से हम घूमने निकल रहे थे- एक बी.एम.डब्लू कार पोर्च पर आकर रुकी। उत्सुकता से हमने उस कार को देखा, उसमें शादी के वस्त्रों में सजी दुल्हन बैठी है। सचमुच जिस रूप में हम उसे देख रहे थे-वह कोई हूर थी- उसके होने का विश्वास आंखों को नहीं हो रहा था। एकदम धवल वस्त्रों में सजी स्वर्ग से उतरी परी को भी वह एक पल के लिए आश्चर्यचकित कर सकती थी।

दर्जन भर कैमरों के फ्लैश चमक उठे।

वह दुल्हन मंद-मंद मुस्कुराने लगी- बड़ी देर तक उसने फोटो खींचवाए। वह असाधारण सुंदरी अपने को सचमुच सौभाग्यशाली दुल्हन मान रही थी, ऐसा उसने धीरे से कहा भी। दुनिया भर से आए हम लोग उसका फोटो ले रहे थे।

उजबेक जीवन में शादी के महत्व को समझने की जिज्ञासा मुझ में बढ़ने लगी। आखिर हिंदुस्तान के उत्तराखंड और हिमाचल राज्य के पहाड़ी क्षेत्रों में ऐसी ही रस्मों का प्रचलन है- क्या बाबर के समय में उजबेक संस्कृति, रीति-रिवाज और संस्कारों का भी आगमन हुआ होगा। जब दुलहा के घर पर आयोजित होने वाली रस्मों के विषय में और अधिक जाना तो चौकाने वाली बात सामने आई। भारतीय लोग जहां नवदंपति को अपने परिवार में एक नई इकाई के रूप में स्वीकार करते हैं, ठीक ताशकंद में दुलहा के माता-पिता नव दंपत्ति को स्वयं घर/फ्लैट या स्थान उपलब्ध करवाते हैं जहां वे दोनों एक साल तक रहकर जीवन में चरम आनंद को ले सकें। यहां यह स्पष्ट करना उचित होगा कि शादी की रस्मों में से एक आयोजन में ही शादी के बाद 'केलिन सलाम' का आयोजन किया जाता है, जिसमें नई दुलहन का मेहमान के रूप में स्वागत होता है। यह रिवाज दुलहन को ससुराल में उचित स्थान मिले इस उद्देश्य से आयोजित किया जाता है। इस अवसर पर ससुराल एवं मायका यानी दोनों पक्ष के लोग मिलकर शानदार आयोजन करते हैं और उन्हें उपहार देते हैं।

दुलहन को देखकर मन खुश हुआ। और उनके जीवन से जुड़े सभी आयोजन के संबंधों के विषय में जान लेने के बाद यदि मखाला के संबंध में ना जानता तो बहुत कुछ छूट जाने का अहसास कांटे की तरह चुभता रहता। मखाला का सीधा योगदान न हो तो यहां आयोजन सफल बनाना असंभव है। मखाला एक आवासीय समिति होती है, जिसमें रेसिडेंशियलस द्वारा संचालन समिति हेतु सदस्यों का चुनाव किया जाता है। यह समिति स्वयं के लिए नियम बनाती है और उसका अनुपालन करती है।

मखाला समिति शादी-ब्याह के आयोजन, जन्म दिन, तेरहवीं, अंत्येष्टि से संबंधित तिथि तय करती है। उसके सदस्यों का कार्य स्वयंसेवक के रूप में होता है। आपसी तालमेल और समझौते को प्रमुखता दी जाती है। यह उजबेक जीवन में बहुत प्राचीन परंपरा है। इसमें न ही रेजिडेंट्स को कुछ करना होता है और न ही किसी तरह का मेहनताना देना होता है- यह पूरी तरह से मखाला के सदस्यों की निःस्वार्थ सेवा होती है।

अच्छे अनुभव और जानकारी के साथ हम लोग शहर घूमने को निकल पड़े। सड़कें शांत, सड़कों पर आवागमन के लिए उचित एवं समुचित सांकेतिक मार्ग संकेतक, पुलिस व्यवस्था एकदम शून्य परंतु वाहनों के आवागमन पर वाहन चालकों का नियंत्रण प्रशंसनीय है। निश्चित स्थान पर सड़क

पार गमन के संकेत पर सभी अपनी सुविधा से चल रहे हैं। पैदल यात्री की सुरक्षा की जिम्मेदारी वाहन चालक की है- इसीलिए ताशकंद शहर सड़क दुर्घटना आंकड़ों के लिए शून्य है।

ताशकंद ऐतिहासिक शहर है। समय के साथ यह शहर अपनी ऐतिहासिकता बनाए रखते हुए नए परिवर्तन को भी स्वीकार करता रहा है। दुनिया के विकसित एवं विकासशील देशों की भांति गगनचुंबी इमारतें यहां भी हैं। आधुनिकता की दौड़ में यह शहर किसी भी कोण से पीछे नहीं है लेकिन कोई भी विकास की योजना यहां की जीवन शैली को उस रूप में प्रभावित नहीं कर सकी, जिस रूप में भारत के किसी भी नव निर्मित शहर में रहने वालों की जीवन शैली में बदलाव आया है। जीवन के लिए शांति, सौंदर्य तथा सौंदर्य यहां की अनिवार्य शर्त है। आधुनिकता में यह शहर पीछे छूट रहा हो- ऐसा भी नहीं है।

14 जनवरी 1992 को उजबेकिस्तान को आजादी मिली। आजादी के लगभग बीस-इक्कीस वर्षों में विकास की ऊंचाईयां इस शहर को मिली हैं। शत-प्रतिशत साक्षरता यहां है। मध्य एशिया के किसी भी शहर से ताशकंद की तुलना नहीं की जा सकती। आर्कियलोजी के लिए इस शहर का नाम जग प्रसिद्ध है।

हमने तय किया कि इस शहर को घूमने से पहले उस पुण्य स्थल को नमन करें, जिसकी अमिट स्मृतियां हम भारतीयों के मानस पटल पर है। ताशकंद घूमने से पहले इस पवित्र स्थल के दर्शन के लिए हम लोग एस. अजिमोव स्ट्रीट पहुंचे। 10 जनवरी 1966 को भारत-पाकिस्तान युद्ध को समाप्त करने के उद्देश्य से लालबहादुर शास्त्री ने दोनों देशों के बीच यहां युद्ध विराम समझौते पर हस्ताक्षर किए। इस समझौते के दूसरे ही दिन हृदय गति रुकने से शास्त्रीजी का निधन हुआ था। घने, छायादार वृक्षों के बीच शास्त्रीजी की आदमकद मूर्ति को हम लोगों ने नमन किया और इस यात्रा को अविस्मरणीय यादगार बनाने के लिए फोटो खींचे।

अब कौन सा स्मारक देखा जाए, यह उत्सुकता मन में होने लगी। जरीना ने जैसे हमारे मन को पढ़ लिया- उसने बताया, ताशकंद-समरकंद नायाब स्मारकों के गढ़ हैं।

हमारी आंखों में किले ही किले घूमने लगे। मिर्जा उलूगबेग के स्मारक को पहले देखने का सुझाव जरीना ने रखा। मिर्जा उलूगबेग के नाम से प्रसिद्ध स्ट्रीट के लिए हम लोग चल पड़े।

उलूगबेग सुपरिचित वैज्ञानिक खगोलशास्त्री और गणितज्ञ होने के साथ-साथ अमीर तैमूर के पड़पोते थे। यह स्मारक अपनी अलग तरह की विशेषता लिए है। बौद्धिकता का प्रतीक पृथ्वी के रूप में वृत्ताकार चाक पर एक विद्वान बैठा है और उसका दाहिना हाथ एक ग्लोब को घूमा रहा है, यह संपूर्ण ब्रह्मांड को संचालित करने का प्रतीक है। जिसके चारों तरफ खगोलीय घटनाएं घट रही हैं।

उसके बाद खामिद आलिमजान के स्मारक की तरफ बढ़े जो कि खामिद मोलिमिदजॉन मेट्रो स्टेशन के समीप स्थित है। यह स्मारक आधुनिक उजबेक साहित्य के जनक एवं प्रसिद्ध जन कवि की स्मृति में बनाया गया है। भले ही हमारे देश में संस्कृति और साहित्य के प्रति बढ़ती उदासीनता चिंताजनक है, परंतु यहां विरला ही ताशकंद वासी होगा जो अपनी प्रसिद्ध विदुषी कवयित्री जुल्फिया के नाम से अपरिचित हो जिसकी याद में कला संग्रहालय का उद्घाटन मार्च 2008 में किया गया था। अपने लेखकों, साहित्यकारों, विद्वानों, कलाकारों, इतिहासकारों को कोई शहर, कोई देश कितना सम्मान देता है, उसका अंदाजा ताशकंद भ्रमण के दौरान देखने को मिला।

अलिशिर नवाई जिनका विश्व साहित्य में स्थान है, का स्मारक (प्रसिद्ध विचारक एवं कवि) जिसने विश्व कविता कोश को समृद्धि दी निजामी स्मारक, 1966 में आए भूचाल के समय अपनी सेवाओं के लिए प्रसिद्ध शराफ रशिदोव का स्मारक, जार्जियन कवि शोता रुस्तवेली, जिनकी बहुमूल्य कृति 'द नाइट इन द पान्थरस स्किन' का अपना विशेष स्थान है। पहले अंतरिक्ष यात्री यूरी गागरिन का स्मारक जो कि चिलंजर शॉपिंग कांपलैक्स के समीप बना है। 'गैलरी ऑफ स्कल्प्चर पोट्रिऐटस ऑफ द ग्रेट थिंकर्स ऑफ पास्ट' जो कि 12 डी अबिदोवा स्ट्रीट, स्टेट टेस्टिंग सेंटर के समीप है अपनी मातृभूमि के लिए समर्पित हो चुके प्रसिद्ध सैनिकों को कोई देश कैसे याद करता है- इसका बेहतरीन उदाहरण 'वतनग कसमेद' को देखने से मालूम पड़ता है। अलैक्जेंडर पुश्किल स्मारक, पुश्किल स्क्वायर तथा अमीर तैमूर स्क्वायर यहां के दर्शनीय स्थल हैं।

इन दर्शनीय स्थलों को देखने के बाद हम लोग मुस्तलिक स्क्वायर गए। कहा जाता है, मुस्तलिक स्क्वायर पर उजबेकियों की आत्मा बसती है। ऐसा कहना अतिश्योक्ति भी नहीं है। यह स्मारक उनकी आजादी का प्रतीक है। इस स्क्वायर के प्रवेश द्वार पर से एजुलिक आर्क वास्तुशिल्प का बेजोड़ नमूना दिखता है जो कि 150 मीटर लंबा है। संगमरमर से निर्मित 16 खंबों पर यह आर्क टिका है। यह स्मारक मुस्तलिक स्क्वायर के मध्य में स्थित है, जो मनुष्य की मुक्ति और उसके संघर्ष का प्रतीक है।

नव वर्ष के अवसर पर यहां हमेशा बर्फ गिरती है। बर्फ में मौजमस्ती का आनंद लेते बच्चे यहां नववर्ष का स्वागत करते हैं। वास्तव में मुस्तलिक स्क्वायर को 'पैराडाइज फॉर चिल्ड्रन' भी कहा जाता है- नाच-गाना, हँसी-मजाक और मुखौटों का आनंद यहां बच्चे लेते हैं। जब इसके संबंध में और अधिक जानकारी लेनी चाही, तो आश्चर्यजनक रूप से मुझे कुमाऊंनी के बेहतरीन शब्द यात्रा की पड़ताल करने की मंशा मेरे मन में जाग उठी। पहली जनवरी को ईसवी संवत का आरंभ होता है, जबकि 'नौरुज' 21 मार्च से प्रारंभ होता है। उजबेकी लोग एक साल में दो बार नववर्ष मनाते हैं। 1 जनवरी को हर साल और नया साल पूरे विश्व में धूमधाम से मनाया जाता है जबकि उजबेकिस्तान में 21 मार्च को हर साल इस दिन को 'कोर-बूबू' और 'कोर-क्येज' के रूप में मनाते हैं जिसका शाब्दिक अर्थ होता है कोर 'बूबू' यानी ग्रांडफादर फ्रोस्ट और 'कोर क्येज' का अर्थ यानी स्नो मैडिन। यदि इन शब्दों का संधि विच्छेद कर अनुवाद करेंगे- कोर यानी बर्फ तथा बूबू यानी दादा (ग्राण्डफादर), हिंदी में ग्रांड फादर यानी दादा जबकि कुमाऊंनी में दादा के लिए बूबू का संबोधन किया जाता है। जब शब्द यात्रा की बात कर रहे हैं, तो यहां आम बोलचाल में उजबेकी प्रयोग में लाई जाती है। अंग्रेजी का प्रभाव उस रूप में नहीं है। हेलो, हाय के बदले सलाम अलेकुम, गुड आफ्टरनून के लिए अस्सलामलेकुम, सर के स्थान पर जनाब, वेरी वेल की जगह रहमत, केमिस्ट के बदले दवाखाना, गली मोहल्ला के लिए गली मोहल्ला प्रयुक्त होते हैं।

यह एक कृषि प्रधान देश है। इसके छोटे-बड़े 12 राज्य हैं। तेल, प्राकृतिक गैस, कपास, पेट्रोल यहां के मुख्य उत्पादन हैं। यहां जून-जुलाई में गरमी रहती है। अमूमन इस बीच तापमान 40-45 डिग्री सेंटिग्रेड रहता है। मार्च-अप्रैल बरसात तथा जनवरी फरवरी में बर्फबारी रहती है। सामान्य दिनों में तापमान 15-25 डिग्री सेंटिग्रेड रहता है।

मौसम सुहावना है। अभी तक हम घूम रहे हैं। रात के बारह बज चुके हैं। किसी तरह का

भय नहीं, न पुलिस का और न उनके प्रतिद्वंद्वियों का। पटियाला होटल में डिनर करने से पूर्व चंग बजाने वाली युवतियों के बीच ताशकंद की दक्ष नृत्यांगनाएं अब चंग पर मधुर, मृदु और पेचीदा धुन निकालने लगीं, और वे इतनी कोमल और सुंदर लगीं कि हम सब कुछ भूल गए। उनके आकर्षण से पूरा वातावरण सम्मोहित हो उठा। डिनर के बाद यह तय हुआ कि यहां आए हैं तो हमें 'मुसब्बिरी' की भी जानकारी होनी चाहिए। यहां की यादगार साथ ले जाई जा सकती है।

'तब तो मेरी तस्वीर बनाकर देखिए।' कितना अप्रत्याशित भाव था- उस भारतीय महिला का जो अपने पति के साथ इस समय घूम रही थी। विनोदपूर्ण, चंचल और सुंदर शब्दों को सुनकर उस युगल ने चित्र बनवाने का अवसर नहीं गंवाया। उन्हें देखकर हम लोग भी अपने बालों को सहलाते और गालों की मसाज करते रहे और अपनी बारी की प्रतीक्षा करने लगे। हम लोगों ने खुले मैदान में बैठकर अपने चित्र बनवाए।

देर रात में 'द पार्क ट्यूरान' लौटना हुआ।

सुबह आंख खुली तो समरकंद जाने की तैयारी होने लगी। जब से ताशकंद की छवियां हम देख रहे थे, ठीक उसके साथ-साथ मस्तिष्क में तैमूर तथा उलूगबेग का महान शहर समरकंद हमें आकर्षित कर रहा था। ताशकंद से कहीं अधिक सुहावना मौसम समरकंद का है। इसकी पक्की जानकारी हमें मिल चुकी थी।

हम लोग समरकंद शहर को चल पड़े। समरकंद की यात्रा के लिए मेट्रो रेलवे स्टेशन भी पहुंच गए। टिकट और सीट की व्यवस्था पहले हो चुकी थी। सभी आवश्यक चीजों से सुसज्जित मेट्रो रेल का कोच देखकर मन खुश हो गया। चाय-नाश्ता और वाइन तक की सुविधा। एक केबिन में छह यात्रियों के बैठने की व्यवस्था थी। हमारी गाइड भली-भांति जानती थी कि हमें क्या-क्या देखना है- क्या कहां पर है?

हम लोग उलूग बेग के जमाने में बनी विशाल गुंबदवाली खानकाह के पास से गुजरे। जरीना ने पूर्वी दरवाजे की ओर जाने वाले रास्ते की तरफ इशारा किया- 'मीर अलीशिर जब कभी समरकंद आते थे- इसी रास्ते से कई बार निकलते थे। इसके उस छोर पर अभी तक वह इमारत खड़ी है, जिसमें मीर अलीशिर के उस्ताद अब्दुल्लायस काम करते थे,' जरीना ने बताया यह मीर अलीशिर वही मशहूर शाहकार हैं जिनकी महत्वपूर्ण कृति 'मजलिस-उन-नफीस' है। समरकंद की इन्हीं गलियों में 'कुतुबुद्दीन' की प्रसिद्ध पुस्तक विक्रेता की दुकान थी - जिस पर उस समय की अति महत्वपूर्ण पुस्तक 'मेजान-उल-औजान' को बाबर अपने पुस्तकालय के लिए क्रय करने आया था जिसमें अरबी, फारसी, उर्दू आदि भाषाओं में काव्य रचना के नियम थे- जिसकी रचना नवाई ने की थी।

समरकंद में बीवी खानम शानदार अजीबो-गरीब इमारत है। इमारतों के भव्य रूप उनकी बहिरेखाएं हृदय में प्रशंसा का भाव आज भी जगाती हैं। उत्सुकता से कई प्रश्न जरीना से किए गए जिनमें कौन-सा गुंबद उलूगबेग मदरसे का है और कौन सा बीवी खानम की मस्जिद का। नीले गुंबदों वाली इन इमारतों का रख-रखाव और साफ-सफाई देखते बन रही थी - निर्मल और साफ आकाश की तरह। 'आशिकान' प्रेमियों की गुफा है जो कि फीरोजा दरवाजे के पास है। समरकंद में आज भी पुरानी दिल्ली की भांति तंग गलियां हैं। बर्फबारी के दिनों में इस शहर की ये तंग गलियों में जहां धूप नहीं पहुंचती, ठंडी हवा गालों को जमा देती है। गेहूं की भरपूर पैदावार होने से यहां के नॉन

प्रसिद्ध हैं। जब हम लोग ताशकंद हवाई अड्डे पर उतरे थे तो बड़े-बड़े गोलाकार नॉन देखकर आश्चर्य हुआ था- उसी आकार-प्रकार के नॉन यहां भी देखने को मिल रहे थे- नॉन खाने की इच्छा से हम लोग उचित जगह की तलाश करने लगे। जब शहर घूम रहे थे तो हथकरघे से बनी धारीदार कमीजें पहने युवक और युवतियों की चंचलता पर हमारी आंखें टिकी जा रही थीं। यकायक नानबाईयों को देखकर बाबर का यह कथन याद आया- 'हम समरकंद का पेट भरने नहीं आए हैं यह सही है, लेकिन उसे लूटने के इरादे से भी नहीं आए हैं।' जब हम समरकंद घूम रहे थे- 'बाबर' उपन्यास का वह वाक्य याद आया- 'समरकंद के बदनसीब बाशिंदे अपने कमसिन बेटों को घर से बाहर जाने देने से डरते थे- उन्हें लड़कियों की तरह जनानखानों में छिपाकर रखते थे' ..... लेकिन आज जब हम यहां घूमने आए हैं ऐसा कुछ भी नहीं है- आज यहां के जन-जीवन में न भूख की वेदना है और न लूटे जाने का भय बल्कि वहां हर किसी की आवाज में संगीत भरा है।

(लेखक सुप्रसिद्ध कथाकार हैं)

लेखकों से अनुरोध

- वैचारिक, आलोचनात्मक लेख, कहानी, संस्मरण, डायरी, यात्रा वृत्तांत आदि अधिकतम 3000 शब्दों में ही प्रेषित करें।
- लेख के अंत में अपना नाम, पता, फोन, ई-मेल आदि का उल्लेख करें।
- भेजी गई सामग्री स्पष्ट एवं पठनीय हो तथा पन्ने के एक तरफ लिखी गयी हो। बेहतर होगा कि लेख यूनीकोड/मंगल फांट में ही टाइप कराकर भेजें।
- चित्र एवं अन्य कॉपीराइट-सुरक्षित सामग्री के संदर्भ में : लेख में उपयोग हेतु आवश्यक अनुमति लेना लेखक का उत्तरदायित्व होगा।
- रचनाओं की स्वीकृति व अस्वीकृति की सूचना एक माह के अंदर दे दी जाएगी। रचनाओं की वापसी के लिए लिफाफा संलग्न करें।
- लेख के साथ भेजे गए पत्र में इस बात का उल्लेख अवश्य हो कि यह लेखक की मौलिक, अप्रकाशित और अप्रसारित रचना है तथा इसको प्रकाशन हेतु अन्यत्र नहीं भेजा गया है।

आप लेख amishrafaiz@gmail.com पर ई-मेल कर सकते हैं अथवा रजिस्ट्रीकृत डाक/स्पीड पोस्ट से निम्न पते पर भेज सकते हैं-

संपादक
बहुवचन
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र)
मो. नं.- 09422386554

संस्मरण

मीरा कुटीर, शैलेश मटियानी पुस्तकालय रामगढ़

राजेंद्र राजन

10 जनवरी, 2013। जाड़े की सर्द, बर्फीली, नुकीली हवाओं के बीच मैं मल्ला रामगढ़ में महादेवी सृजनपीठ का पता पूछ रहा हूं। यहां एक छोटा सा बाजार है। अलसाए से गांव में चंद वीरान सी दिखती दुकानें। एक अजनबी से पूछता हूं तो वह एक पक्के संपर्क मार्ग की ओर इशारा करता है जिसे हम आध फर्लांग पीछे छोड़ आए थे। हम यानी अल्मोड़ा की चुलबली सी कवयित्री विनीता और हमारा टैक्सी ड्राइवर रवि। पेशे से विनीता स्कूल अध्यापिका है। सृजनपीठ दिखाने के लिए इस वक्त वह मेरी गाइड बनकर आई है। वह यह सोचकर परेशां सी है कि मैंने नैनीताल, अल्मोड़ा या फिर मल्ला रामगढ़ आने के वास्ते जनवरी का महीना क्यों चुना?

मन में उत्कंठा है, उत्सुकता है, उत्तेजना है महादेवी के उस काटेज को देखने की जहां रहकर उन्होंने सालों-साल साहित्य साधना की। हिंदी साहित्य को महान, कालजयी रचनाएं देकर छायावादी युग की शीर्ष, युगांतरकारी कवयित्री के रूप में साहित्य जगत में एक विशिष्ट स्थान अर्जित किया। मुझ पर पागलपना सवार है। सृजन स्थलों की तलाश, उनकी यात्राएं मुझे हर बार नई उत्तेजना, नई ऊर्जा, नए आत्मविश्वास से भर देती हैं लबालब। इसलिए चूंकि महान युगांतरकारी रचनाकारों का समस्त सृजन आने वाली पीढ़ियों के लिए प्रेरणापुंज बना रहता है। उनकी धरोहर को देखने, उनकी छवियों को आंखों, अंर्तमन में बसा लेने की व्यग्रता से मैं शायद कभी नहीं उबर पाता।

मैं रवि को गंतव्य पर पहुंचने का आग्रह करता हूं। चंद मिनट में हम उतराई पर एक ऐसे मोड़ पर पहुंच गए जहां हमें सृजनपीठ का मेन गेट दिखा। गेट के बाएं किनारे पर एक दुकान है जिसमें आटाचक्की लगी है। दूर एक नवनिर्मित इमारत की पृष्ठभूमि में नीले रंग व लाल टीन की छत की एक काटेज दिखाई दी। दुकान पर बैठे एक अजनबी ने बताया कि वहीं महादेवी की काटेज है। शायद वह बंद न हो। मैं निराश हो गया। 'अरे विनीता। अगर काटेज बंद हुई तो यहां आने का प्रयोजन निष्फल हो जाएगा।' अरे नहीं राजनजी। आज कोई हॉलीडे थोड़े ही है। मैं देखकर आती हूं। वह तेज-तेज डग भरते हुए ओझल हो गई।

सोचा दुकान पर बैठे अजनबी से गुफ्तगू की जाए। आपसे कुछ बात करनी है। जी बताएं। मैं हमीरपुर, हिमाचल से आया हूं। महादेवी के काटेज के बारे में जानकारी प्राप्त करना चाहता हूं। उसने अदब से मुझे बैठने के लिए कुर्सी दी। उस नौजवान ने अपना नाम अभिषेक जोशी बताया। इससे पूर्व कि अभिषेक से बात शुरू हो, विनीता का फोन बजा, 'आप तुरंत आ जाएं। काटेज खुली है।' मैंने उससे कहा कि वह वहां मेरी प्रतीक्षा करे लेकिन उसकी बेचैनी का यह आलम था कि जब

तक अभिषेक से बात का सिलसिला आगे बढ़े उसने दो तीन बार फोन कर तुरंत काटेज में पहुंचने की ताकीद कर दी। खूब बातूनी है ये लड़की।

अभिषेक ने बताया, 'सौ साल पहले अंग्रेज यहां आए थे। चाय के बगीचे उन्होंने लगाए। मेरे पड़दादा उमापति जोशी यहां के प्रधान थे। यह बात 1896 की है। उनके वंशजों ने यह गांव बसाया। गांव का नाम उमागढ़ है लेकिन अब यह मल्ला रामगढ़ के नाम से मशहूर है। यहां 100 साल पहले रवींद्रनाथ टैगौर भी आए थे। यहां से चार मील दूर टैगौर टॉप नाम से पहाड़ी है। वहां गीतांजलि काटेज है। टैगोर ने गीतांजलि के कुछ अंश यहां रहकर लिखे थे। वे अपनी बेटी की मृत्यु के बाद यहां आए थे।'

अभिषेक जोशी से संक्षिप्त बातचीत के बाद मैं सृजनपीठ के रास्ते पर चल पड़ा। काटेज से पहले एक बड़े भवन का निर्माण किया गया है। यह शैलेश मटियानी की स्मृति को समर्पित है। भवन में सुंदर, सुरुचिपूर्ण ढंग से सुसज्जित पुस्तकालय है। यहां शैलेश मटियानी की धरोहर पुस्तकों के अलावा हिंदी भाषा व साहित्य के नामी लेखकों की पुस्तकों के के साथ-साथ लघुपत्रिकाएं भी उपलब्ध हैं। पुस्तकालय के इंटीरियर को सुरुचिपूर्ण ढंग से डिजाइन किया गया है। इसमें प्रवेश के बाद लगता है आप किसी संग्रहालय में दस्तक दे रहे हों। यहां महत्वपूर्ण लेखकों द्वारा रची गई सभी विधाओं में ग्रंथावालियां उपलब्ध हैं। कोई 50,000 रुपए मूल्य की पुस्तकें यहां उपलब्ध हैं। लेखकों के पोट्रेट्स दीवारों पर सजे हैं। मटियानीजी का एक खूब बड़ा चित्र भी दीवार पर सजा है। लगता है जिस किसी ने भी मटियानीजी की स्मृति में यह पुस्तकालय डिजाइन किया है उसके पास गजब की सौंदर्यदृष्टि रही होगी। कोई कलाकार ही ऐसे पुस्तकालय को अत्यंत कलात्मक व हृदय को छू जाने वाले ढंग से शक्ल दे सकता है। बहरहाल, मटियानीजी अल्मोड़ा के पास बाड़ोछिना गांव के रहने वाले थे।

पुस्तकालय के भीतर और बाहर का माहौल पुस्तकें पढ़ने के लिए अभिप्रेरित करता है। अगरचे निराशाजनक पहलू यह है कि मल्ला रामगढ़ जैसे बियावान में पुस्तक प्रेमी कहां से आएंगे? बाहर से यहां आने वाले लेखक तो सैर सपाटे के नजरिए से यहां आते हैं। वे कोई पुस्तक पढ़ना भी चाहें तो नहीं पढ़ सकते। वजह, उनके पास इतना वक्त कहां जो वे यहां बैठकर पढ़ें या लिखें? अगर वे दो चार दिन यहां रहकर पढ़ना-लिखना भी चाहें तो आवास की व्यवस्था नहीं है। महादेवी सृजनपीठ की काटेज गत 70 साल से उस गिद्ध दृष्टि की शिकार रही है जो ऐसी विश्व धरोहरों को गैर-कानूनी ढंग से हथियाकर उन्हें मुनाफे की दुकानों में बदलने के लिए आमदा रहते हैं। मुझे पता चला कि उत्तराखंड सरकार ने लाखों खर्च कर काटेज की बगल में ही कुछ कमरे लेखकों के आवास के लिए बनवाए थे। बताते हैं स्थानीय पंचायत के कुछ कारकुनों ने सरकारी कोष से बने इस 'गेस्ट हाउस' को हथिया लिया है और उस पर निजी ताले जड़ दिए हैं। संभवतः न्यायालय में इस मामले में कोई केस भी दायर है। ऐसे में लेखक क्या रोज पचास किलोमीटर कर सफर तय कर नैनीताल से यहां अप-डॉउन कर साहित्य का रसास्वादन करेगा? कदापि नहीं। हमारे देश में अकसर स्थानीय स्तर पर छुटभैये नेताओं का माफिया व्यवहार इतना अधिक आतंक पैदा करता है कि अकसर सरकार, प्रशासन स्वयं को पंगु समझने लगता है।

शैलेश मटियानी स्मृति पुस्तकालय के पृष्ठ का एक दरवाजा महादेवी वर्मा सृजन पीठ की

कुटिया के आंगन में खुलता है। यहां महादेवी की मूर्ति का एक 'कांस्य बस्ट' एक ऊंचे पैडेस्टल पर स्थापित है। सोचा यहां बैठकर महादेवीजी के साथ कुछ फोटो खिंचवा लिए जाएं। इसके लिए मैंने विनीता से आग्रह किया। यह एक स्थल है जहां से हिमाच्छादित पहाड़ों के मनमोहक व अत्यंत नयनाभिराम दृश्य मीरा कुटीर को भव्यता प्रदान करते हैं। मीरा कुटीर में महादेवी वर्मा की रोजमर्रा जिंदगी की जरूरतों के सामान को खूब एहतियात के साथ प्रदर्शित किया गया है। लकड़ी का वह ठिया जहां बैठकर वे सृजन करतीं थीं। उनकी क्राकरी, फर्नीचर, पत्रिकाओं के वे दुर्लभ अंक जिनका संपादन महादेवीजी ने किया। चाय बनाने की पुरानी एंटीक केतली, लालटेन। तिपाई, मेज कुर्सियां और दीवारों पर उनके रचे जलरंग के फ्रेमयुक्त चित्र। और भी बहुत कुछ जिनके सूक्ष्म विवरण प्रस्तुत करने मुश्किल हैं। लगा, महादेवी यहीं-कहीं आसपास होंगी। किसी पोशीदा कमरे से निकलकर हमारे सामने ठिठक जाएंगी। मीरा कुटीर के हर गोशे में महादेवी की स्मृतियां रची बसी हैं। कुछ कचोटता है तो सन्नाटा। कहीं कोई हलचल नहीं। चौकीदार भी नहीं है। क्या कोई ऐसी बहुमूल्य धरोहर को यूं ही छोड़कर चला जाता है।

कला व सृजन के ऐसे संस्थानों को उनके संचालक संभवतः कभी गंभीरता से नहीं लेते। हम मीरा कुटीर से विदा होने ही वाले थे कि तभी एक व्यक्ति ने प्रवेश किया। परिचय के उपरांत पता चला कि उनका नाम मोहन सिंह रावत है। वे यहां शोध अधिकारी हैं। उन्होंने हमें अपने कमरे में बैठने का आग्रह किया। उनके चेहरे की चमक बता रही थी कि वे हमारी उपस्थिति से प्रसन्न हुए हैं। मैंने गुजारिश की कि अगर एक प्याला गर्म गर्म चाय मिल जाए तो उनकी कृपा होगी। हमारी तमन्ना पूरी हुई। सोचा रावतजी से मीरा कुटीर के रहस्यों से पर्दा हटेगा। वरना हमें अधूरी सूचना लेकर लौटना पड़ता।

मोहन सिंह रावत का कहना था, 'आज यहां मुक्तेश्वर के लिए बनी पक्की सड़क से आप पहुंचे हैं वह 1936 से पहले बद्रीनाथ यात्रा का पैदल मार्ग होता था। काठगोदाम तक रेल सुविधा थी। अब तो है ही। वहां से मल्ला रामगढ़ 50 किलोमीटर दूर है। जिस स्थान पर मीरा कुटीर बनी है उसे महादेवीजी ने उमापति जोली से 10 रुपए सालाना लीज पर लिया था। मीरा कुटीर का निर्माण 1938 में हुआ था। तब से लेकर 1975 तक नियमित रूप से वे गर्मियों में यहां आती रहीं। साल में 5-6 महीने यहां रहती थीं। पशु पक्षियों से उन्हें बेहद लगाव था। रामजी पांडे उनके सचिव थे। यहां रहकर उन्होंने अनेक पत्रिकाओं का संपादन किया। इनमें अमृतराय द्वारा संपादित 'हंस' के अप्रैल 1948 के अंक का संपादन, 1946 में सरस्वती, संचयन, साहित्यकार, संगम (मई 1948), रानी (जून 1943) अतीत के चलचित्र इत्यादि पत्रिकाएं शामिल हैं। मीरा कुटीर में दर्जनों कालजयी रचनाओं का सृजन हुआ। उदाहरणस्वरूप सुमित्रा नंदन पंत की प्रकृति संबंधी कविताएं, इलाचंद्र जोशी का उपन्यास 'श्रृतुचक्र', धर्मवीर भारती के यात्रा संस्मरण। महादेवी का काव्य संग्रह 'दीपशिखा', 'शृंखला की कड़ियां' तथा 'अतीत के कुछ रेखाचित्र' सम्मिलित किए जा सकते हैं। उन्होंने 1960 में 'दीपशिखा' की सभी कविताएं मीरा कुटीर में प्रवास के दौरान पूरी कीं। 1980 में उन्हें भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार से पुरस्कृत किया गया। 1987 में उनका निधन हुआ।

वर्ष 1987 से 1994 तक मीरा कुटीर लावारिस दशा में रही। उमापति जोशी के पोते लक्ष्मीदत्त जोशी के पास मीरा कुटीर की चाबी रहती थी। 1994 में ही कुमाऊं के जिला अधीक्षक एम.बी. सिंह

की अध्यक्षता में एक समिति का गठन हुआ। एम.बी. सिंह नामवर सिंह के रिश्तेदार थे। मृतप्रायः सृजन पीठ को पुर्नजीवित करने में उन्होंने अपनी संवदेनशीलता का परिचय दिया। समिति ने मीरा कुटीर का दायित्व संभाला। रंगरोगन करवाकर उसका जीर्णोद्धार करने का प्रयास किया। 1996 में यहां 'महादेवी साहित्य संग्रहालय' की स्थापना हुई। पुनः लेखकों की आवाजाही शुरू हुई। निर्मल वर्मा, अशोक वाजपेयी, केदारनाथ सिंह, अजित कुमार, मनोहर श्याम जोशी आदि विख्यात लेखक लगातार यहां आते-जाते रहे। रवीन्द्र कालिया, ममता कालिया, ध्रुव शुक्ल, रमेशचंद्र शाह भी यहां आए। साहित्यिक संगोष्ठियों, कार्यशालाओं, पुनश्चर्या कार्यक्रमों का सिलसिला बना। फिर शैलेश मटियानी संस्कृति पुस्तकालय की स्थापना हुई। मगर 'मीरा कुटीर' पर हर वक्त मंडराते संकट के बादल छंटने का नाम ही नहीं ले रहे थे मानों। उमागढ़ में मीरा कुटीर पर लगातार लोगों की गिद्ध दृष्टि पहले की तरह ही लगी हुई थी। वे हर वक्त इसमें आर्थिक लाभ ढूंढते रहे। जाहिर है ऐसे लोगों को न साहित्य में रुचि होती है ना ही लेखकों से कोई लगाव। एक ओर मीरा कुटीर पर अतिक्रमण कर उसे हथियाने की कोशिशें जारी रहीं तो दूसरी ओर सृजन समाज के बीच बचाव व सक्रिय दखल के बाद उत्तराखंड सरकार ने इसका स्वामित्व कुमाऊं विश्वविद्यालय को सौंप दिया। अशोक वाजपेयी के सद्प्रयासों से 2002 में इसे वर्धा महाराष्ट्र स्थित महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय का विस्तार केंद्र बना दिया गया।

केंद्र में सरकार बदली। वर्ष 2003 में अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में बनी भाजपा सरकार के सत्ता संभालते ही विश्वविद्यालय के नए कुलपति जी. गोपीनाथन ने पूर्व कुलपति अशोक वाजपेयी की योजना को निरस्त कर दिया। अलबत्ता यहां शोध अधिकारी और चौकीदार के पद बने रहे। 2003-04 में एन.डी. तिवारी उत्तराखंड राज्य के मुख्यमंत्री बने। उन्होंने सहर्ष महादेवी वर्मा सृजन पीठ का प्रस्ताव स्वीकार किया। करीब दो करोड़ रुपए के स्थायी फंड की व्यवस्था की गई। अब यह संस्थान उसके ब्याज से संचालित है। भले ही हिंदी लेखक समाज के दुर्भावना से ग्रस्त कुछ लेखकों ने कथाकार बटरोही को आलोचना का शिकार बनाया और उनके विरुद्ध प्रचार करते रहे, लेकिन बटरोही के योगदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता। वे नैनीताल विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग के अध्यक्ष थे। सृजनपीठ के गठन के बाद मीरा कुटीर का भवन व जमीन विश्वविद्यालय हस्तांतरित हो गए और उसकी स्थायी संपत्ति बन गए।

उमागढ़ को बसाने वाले खानदान के बारे में कहा जाता है कि उनके परिवारजन कभी भी मीरा कुटीर या महादेवी वर्मा के हितैषी नहीं बन पाए। उमापति जोशी परविार के लोग यह कभी नहीं स्वीकार कर पाते कि उमागढ़ को मल्ला रामगढ़ के रूप में स्थापित करने में या उसे देश विदेश में विख्यात करने में उनका योगदान शून्य है। वे ये भूल जाते हैं या फिर इस बात का श्रेय किसी को भी नहीं देना चाहते कि मल्ला रामगढ़ की पहचान रवींद्रनाथ टैगोर और फिर महादेवी वर्मा से है। वरना देश-विदेश से कौन भला मीलों लंबा सफर तय कर यहां महज पेड़, पहाड़ नदी, नालों, झरनों या बर्फ से लदे पहाड़ों को देखने आता? लगता है सृजन विरोधी समाज को कभी भी ऐसी बातों से कोई सरोकार नहीं होता।

मीरा कुटीर की बगल में निर्मित विश्राम गृह का जिक्र मैं इस लेख के पूर्व में कर चुका हूं लेकिन हाशिए पर सिमटे रहने वाले लेखक समाज के लिए यह घोर अकर्मण्यता की स्थिति है। कहते हैं

कि अच्छा खासा यह दुमंजिला भवन पूर्व पंचायत प्रधान लक्ष्मी दत्त जोशी और उनकी बहू (जो वर्तमान में उमागढ़ की पंचायत प्रधान है) के कब्जे में है। यह विश्रामगृह कब और कैसे मुक्त होगा कोई नहीं जानता। मामला कोर्ट में है। उत्तराखंड सरकार के पंगु, दब्बू व अत्यंत संवेदनविहीन प्रशासन से कोई उम्मीद करना बेमानी होगी। उत्तराखंड में 15-16 जून, 2013 को भीषण तबाही के दृष्टिगत ऐसा प्रतीत होता है कि 'गवर्नेंस' नाम की कोई चीज वहां नहीं है। हजारों लोग प्राकृतिक आपदा में बेमौत मरते रहे और सरकार संभवतः तब जागी जब समूचे देश और मीडिया ने उसे जगाकर दायित्व बोध का एहसास कराया।

मीरा कुटीर और शैलेश मटियानी भवन की तस्वीरें खींचने और ज्यादा से ज्यादा जानकारी जुटाने के बाद मैं विनीता जोशी के साथ नैनीताल लौट आया। बुरांस, चीड़, बलूत, बाण के घने जंगल से टैक्सी में लौटते हुए मुझे एक बात का संतोष था कि एन.डी. तिवारी, एम.वी. सिंह, बटरोही और अन्य अनेक लेखकों व संस्कृतिकर्मियों के प्रयासों से मीरा कुटीर को संस्कृति विरोधी तत्वों से बचाया जा सका। जो लोग महादेवी सृजनपीठ की स्थापना, संचालन आदि में छिद्र खोजने के आदी हैं वे ये भूल जाते हैं कि हर वक्त मुंशी प्रेमचंद का झंडा उठाने वाले लेखकों ने वाराणसी के समीप लमही गांव में उनकी धरोहर को बचाने के कोई प्रयास नहीं किए। लेखक के जरिए सामाजिक क्रांति लाने के दिवास्वप्न में जीने वाले लेखक वास्तविक जीवन में सृजनकर्मियों की अमूल्य धरोहर के संरक्षण के लिए कभी भी अपना स्वर बुलंद नहीं करते? हमारा समाज ऐसे बेशुमार उदाहरणों से भरा पड़ा है जहां महान लेखकों के घरों और उनके धरोहर को बचाने के प्रयास नदारद रहे। जालंधर के कल्लोवानी मोहल्ले में उपेंद्रनाथ अश्क के पैतृक मकान और दिल्ली में अमृता प्रीतम के घर को जमींदोज कर वहां नए निर्माण हो गए। दिल्ली में चांदनी चौक के समीप बल्लीमारान में मिर्जा गालिब की हवेली की किसी ने सुध नहीं ली। यह कम खेदजनक नहीं कि हम, हमारी सरकारें, मुगल बादशाहों, ब्रतानी हुकूमत के दौरान बनी इमारतों के संरक्षण व जीर्णोद्धार पर करोड़ों फूंक देते हैं। चूंकि उन शिलालेखों में भारतवर्ष के लोगों के दमन, अत्याचार, शोषण की गाथाएं लिखी गई हैं। वहां इतिहास के पन्ने फड़फड़ाते रहते हैं लेकिन अपने ही देश के महान लेखकों, कलाकारों के प्रति हमारा शून्य भाव हमेशा की तरह बना रहता है। हमें बंगाल के लोगों से सीखना चाहिए। उनके लिए रवींद्रनाथ टैगोर ईश्वर के सामन पूजनीय हैं। हम हिंदी वाले प्रेमचंद की कद्र करना नहीं सीख पाए लेकिन मल्ला रामगढ़ में महादेवी सृजनपीठ की मीरा कुटीर, शैलेश मटियानी पुस्तकालय को देखकर लगता है कि इन दोनों महान रचनाकारों की धरोहर को बचाए रखने के लिए कुछ संवेदनशील लोगों ने कितनी लंबी जंग लड़ी होगी। मगर प्रश्न यह है कि क्या हम मल्ला रामगढ़ में स्थापित इन दो भव्य संस्थानों से प्रेरणा लेकर भारतवर्ष के दूसरे स्थानों में जन्में महान लेखकों के अवदान को वह आदर, सम्मान, गौरव प्रदान कर सकते हैं जिसके वे सही मायने में हकदार हैं?

(लेखक सुपरिचित रचनाकार एवं 'इरावती' के संपादक हैं।)

गोबिंद प्रसाद की कविताएं

सुबह-सुबह की बात

राजा बोला
रात है
मंत्री बोला
रात है
एक एक कर फिर सभासदों की बारी आई
उबासी किसी ने, किसी ने ली अंगड़ाई
इसने उसने, देखा-देखी फिर सब ने बोला
रात है
यह सुबह-सुबह की बात है।

अल्लाह नहीं अमेरिका जानता है

किस देश में कल क्या होगा
अल्लाह नहीं अमेरिका जानता है
किस मुल्क का वजीर कल कौन सी चाल से
ढाई घर चलकर अपने को बचाएगा
अल्लाह नहीं अमेरिका जानता है
किस मुल्क का प्यादा बादशाह को मात देकर
शहर बदर, मुल्क बदर कर दिया जाएगा
अल्लाह नहीं अमेरिका जानता है
किसकी वर्दी उतारी जाएगी
कल किस शाहे वक्त का ताज उछाला जाएगा
अल्लाह नहीं अमेरिका जानता है
और बदले में कल किस को अशर्फियों नहीं (भूल गए डॉलर) से तौला जाएगा
और कौन होगा जिसे जिंदगी की सौगात से नवाजकर बेनजीर कर दिया जाएगा
इसकी तैयारी आसमान में नहीं होती
आसमान वाला भी नहीं करता
यही तो विडंबना है कि दरअसल
कर्ता तो कोई और है
कर्ता ने तो एक मुद्दत से अपनी बिसात बिछा रखी है
कर्ता ने तो बहुत पहले से गोटे सजा रखी है

हम समझते हैं कि ढाई घर पार करके
मुल्क के अवाम ने बहुत बड़ा तीर मारा है, गढ़ जीत लिया है
और अब मुल्क पर जनता का परचम फहरेगा
यकीन मानिए यह भी अल्लाह नहीं अमेरिका जानता है
यह मत भूलो जिसे हम रंगमंच पर देख रहे हैं
वह महज तमाशा है, नेपथ्य में झांको
असली लीलाधारी तो वहीं बैठा हुआ आशिक का दम भरता हुआ परदानशीं बन बैठा है
हो सके तो पर्दाफाश कर, तमाशे से बाहर निकल और तमन्ना के जाल को लेकर उड़ जा
मगर यह मत भूलो हवाएं जो परचम फहराती हैं
फिलहाल जो समुद्र पार से आती हैं
जो सरस्वती की वीणा के तारों को छूकर नहीं
बल्कि अंधेरे के उल्लुओं को छूकर बदहवास होकर आती हैं
और नजूमी कहते हैं कि नौ का मनहूस नंबर ले बैठा बेनजीर को
क्या इस नौ की तैयारी भी अंधेरे के उल्लुओं ने रची थी!
अल्लाह नहीं अमेरिका जानता है।

(9 जनवरी 2008)

क्रांति की जेबों में

क्रांति की जेबों में
क्या है?
नारे
जुलूस
मशालें
भूखे पेट, हिंसा
और हड़तालें

बहुत हुआ तो खैनी खा ली
बीड़ी पी ली

तहस-नहस करके
बहस में खुद को
आंखों की चिलम से
लपट उठा ली
कभी लाल
कभी नीली
बहुत हुआ तो...
(17 फरवरी 2008)

हम तो चले जाएंगे

हम तो चले जाएंगे
दो-चार दिनों में
अपने गांव
बस एक शब्दों की
गठरी छोड़ जाएंगे
यहीं, इसी ठांव

हो सके तो खोल लेना
बन पड़े तो बांच लेना
एकाध चीज कोई गर निकल आए काम की
तो हमें भी बता देना
हम फिर लौट आएंगे
बनके तेरे इसी पेड़ की छांव

फूल बन शाख पर खिले न खिले
भावों की रक्तमणियां मिले न मिले
तरब के तारों से कभी झंकार कोई निकले
तो हमें भी बुला लेना
सर के बल आ जाएंगे
तेरे तमन्ना के साज की सरगम बनकर
न सही षड्ज पंचम
न सही ऋषभ धैवत
दिखाएंगे निषाद ही की गरिमा
दिखाएंगे मर-मर कर भी कभी न मरने वाले गान में
मौन में समाया सदा सांसों में बहने वाला
एक वही अमर्त्य भावों में वि-भाव।

चीख

इस देश में
धर्म के नाम पर
अभी जो नाटक हुआ
उसके सारे दृश्य आंखों से मिट जाने को कहूं तो चलूं

इस देश में
धर्म के नाम पर
अभी जो नाटक हुआ
उसके सारे संवाद खुद से भूल जाने को कहूं तो चलूं

इस देश में
धर्म के नाम पर
अभी जो नाटक हुआ
उसकी सारी भंगिमाएं, सारी चेष्टाएं तन-बदन में धूल हो जाने को कहूं तो चलूं

धर्म के नाम पर
इस देश में
नेपथ्य में जो होता आया है
दिनों से, महीनों से, बरसों-सदियों से
उन दृश्यों में दबी रह गई उस एक चीख को
मैं अपने में जगाऊं, तो चलूं
मित्रो, दोस्तो, साथियों!
इस चीख में तुम्हारी भी चीख सुन पाऊं तो चलूं...

(27 सितंबर 2013)

सुनीता जैन की कविताएं

भारती

रसोई में ही बसा लिया है घर
आजकल मैंने,
बिछा ली है एक मेज कुर्सी
रखी दी है कलम और दवात
हाथ में लिए-लिए घूमती हूं
एक डायरी, गैस से सिंक तक
सिंक से परांत

अब मेरी कल्पना की जद में
नहीं हैं गुलाब, न चिड़िया, न आकाश
रखना होता है मसालों का हिसाब
हाथों में गंध है कटी सब्जियों की
पर यह शिकायत नहीं
मात्र मेरा स्वीकार

जानती हूं बहुत फूहड़ हो गई हूं
समय के साथ-साथ
याद नहीं रहता नमक डाला या नहीं
याद नहीं आता कुकर ने कितनी सीटी दी
चावल गल गए कुछ ज्यादा
दाल थोड़ी कम गली, पर क्या करूं
भारती आई नहीं चार दिन हुए
किस्मत की मारी तो थी ही
कई वर्ष पहले चंपत हो गया उसका पति
किसी गोरी पहाड़न के साथ

अतरसों उसका बावला बेटा
घर से बाहर निकल गया सबसे छुपकर
भारती खोज रही है उसे
थाने और अस्पतालों में

बांट रही है उसके पोस्टर।
बेटा बोलना जानता है बस एक शब्द
मां... मां.... मां

यही गूंजता रहता है मेरे जहन में
मैं भारती के संग दौड़ नहीं सकती
कुलबुलाता है मेरा जी इसीलिए,
मैं आ गयी हूं उसकी जगह रसोई में

बरतन मलते, रोटी सेकते
जब थकने लगते हैं मेरे पैर
तो मुझे लगता है मैं साथ-साथ हूं भारती के
जानते हो, कल 47 डिग्री तापमान था पालम का,
कहां होगी भारती, वह बेचारी बंगालन मेरी!

यहां रसोई में तो शीतक है
लगवा दिया था पिछले वर्ष मैंने

हे निराकार!
बच्चों को रख सुरक्षित
सही सलामत-कहते हैं
हर मां है तेरा ही तो अवतार!

मिस्सी रोटी

मां जाएगी पहली जुलाई को सुबह-सुबह
अभी तो मई है-
वह होगी रसोई में
या हो सकता है बैंक गई हो
शायद मंदिर
बैठी होगी किसी पड़ोस के घर में सुस्ताने
अब सांस फूलता है उसका
लाठी से भी ठिलता नहीं देह का बोझ

वह आती ही होगी
उसे पता है मुझे अच्छी लगती है
मिस्सी रोटी ताजी और मटर
कचिया-कचिया, सूखी

वह रखेगी मेरे हाथ में,
कुछ नोट तुड़े मुड़े और कहेगी
'साड़ी ले लेना अपने जन्मदिन पर'

फिर मेरी नई पुस्तक देखेगी
बच्चों सा पुलकित होगी।
उलट-पलट खोलेगी
उसके होठों पर होगी एक मौन स्वस्ति
उसकी आंखों में तपिश नहीं होगी
ईर्ष्या की, औरों जैसी
समय, धीमी करो अपनी रफ्तार
मां को बाकी हैं कई काम अभी
बैंक, और मंदिर के
उसे गिड़गिड़ाना है फोन पर अपने बेटों से
कहना है जल्दी आ... जल्दी अंतिम रुखसत से पहले।

(मेरी मां की पुण्यतिथि 1 जुलाई का संदर्भ)
(7 मई 2012)

रश्मि के लिए

तुम्हारे और अपने शहर के बीच रास्ते
मैंने गेहूं, गन्ना और चावल देखा
सरसों कटने को तैयार खड़ी थी

हमारे इस 'फास्ट फूड' समय में
यह रोटी का गहरा हस्तक्षेप था,
चावल और गेहूं का गठजोड़ था

मेढ़ों पर बैठी बकुल पांत
देहाती बोली में बोल रही थी,
किसी फिरंगी भाषा का उसमें
घुसपैठ नहीं था

रश्मि, तुम जब भी बुलाओगी मुझे
मैं आऊंगी
लेकिन क्या तब तक

सड़कें दौड़ती रहेंगी ऐसे ही
मेरे और तुम्हारे शहर के बीच

क्या यह सूखी नहर
भर जाएगी पानी से अपने तब तक
ये हरे भरे खेत
बदलेंगे नहीं ईंटों के भट्टों में
और मेरे प्रदेश की उर्वरा भूमि
देती रहेगी महक अनाज की?

फिर भी मैं करती रहूंगी विश्वास, रश्मि
कि मेढ़ों पर बगुले कहते रहेंगे
'राम.... राम' एक दूजे से
न कि, 'ओ हाय, ओ हेलो जी'

(भिवानी के रास्ते फरवरी 2012)

वह तीसरा

प्रेम वह तीसरा था
जो उन दोनों के बीच था
संग रहता
संग खाता
हँसता कभी
कभी किस्से सुनाता

गाता भी था
गीत मास्टर मदन के
कुछ औरों के भी
बहुत पुराने...

आंचल से क्यों बांध लिया
मुझ परदेसी का प्यार

हँसता था प्रेम
'मैं तो आने वाला हूं तुम्हारे
सपनों में भी कल से
बहुत बहुत जिद्दी हूं
तुम नहीं जानते...'

वे दोनों मुग्ध थे
प्रेम की इतनी वाचालता पे
उसकी सहजता पे

उन दोनों को ही चाहिए था
प्रेम जैसा एक मित्र
देता उन्हें सुरक्षा सबसे
भरता उनमें अपनी अपनी
विशिष्टतमता का बोध

वे हाथ पकड़ कहते उससे
तुम जाना नहीं हमें छोड़कर

कल प्रेम बाहर निकला घर से
वे दोनों कुछ विचलित हुए
कुछ देर दोनों ने स्वयं को
दिया दिलासा
जाएगा कहां?
आता ही होगा
अब कोई बांधकर तो नहीं रख सकता
हरदम किसी को

फिर उन्होंने खिड़की से झांका
दरवाजे पर जाकर खड़े हुए राह ताकते
फोन को भी पटका
बस घंटी बजती रही

कहां गया?
क्यों गया
मैंने तो कुछ कहा नहीं
ऐसा भी क्या....?

वे देते रहे अपने को
बातों का झांसा
देते रहे दिलासा

लेकिन उन्हें पता था
प्रेम नहीं लौटेगा

जिद्दी था न
और गुस्से वाला
तिनक-मिनक करता था हरदम
धौंस दिखाता
दम घुटता था अकसर उनका
कब तक वे दबते उससे
जाता है तो जाए
ठीक नहीं इतनी भी
पर-निर्भरता कभी किसी पे!

अब चाय पर चुप्पी है
कागज भी चुप हैं
कलम पड़ी रहती है करवट के बल
घर की दीवारें भी।

जगतारजीत सिंह की कविताएं

सौगात

देखते ही देखते
फिसल गई हाथों से
दी हुई सौगात
बचाव को बढ़े हाथ भी
बचा न सके
टूटने से

टूटकर बिखर गया
सबकी आंखों के समक्ष
नजरों की शोभा बना गुलदान

कांच की किरचें,
चमक उठी लौ में
अपने में समेटे हुए रंगों से

चुभ गई किरचें
बुहारते बुहारते
किसी के हाथों में
पैरों में किसी के
उनसे बहे लहू ने
और भी सजा दिया
सौगात को जाते-जाते

सलामत रहें
असल-से दिखते
कागज के फूल
न वे टूटें
और न बिखरें
एक ही जगह पड़े
जैसे हों प्रतीक्षा में
एक और गुलदान की।

बूंद

बातें करते करते वह
नाखूनों से कुदेरती गई
धरती रेतीली

कुरेदते-कुरेदते
निकल आई रेत कणों से
बीती रात की
ओस की बूंद

पूछा ढलती धूप ने
कौन है प्यासा
जिसके लिए
खोद कर मुझको निकाला
मैं तो चलती जा रही थी
अंदर ही अंदर
समुंदर की तरफ

बूंद को बोलते देख
चुप थी, वह
हैरान भी
इस होनी पर

उसकी पीठ पीछे था सागर
जिसकी सतह पर
चादर थी लहरों की
चमकते रेत कणों पर
सिमटती बूंद ने पूछा
बता तो
कहां है प्यासा?
तूने जिस के वास्ते
धरती से मुझे
बाहर को खींच लिया
उस की देह को पीछे, ढलते
सूरज का सुर्ख दायरा था
बूंद पर
लंबे हो रहे
उसके साए की थी छाया

रेत के बने दीपक में
लौ की तरह कांपती
बूंद ने फिर पूछा
वह कौन है
प्यास जिसकी

सिर्फ मुझ से ही बुझेगी
क्यों मुझे
नाजुक कोख से निकाल,
बिठा लिया
अपनी आंखों के समक्ष

सूर्य छिप जाने के बाद
उतर आया चुपके से
पूनम का चाँद
चमक उठा
रेत का प्रत्येक कण
लगने लगा, ज्यों
सारा तट बिना पानी के पानी हो
मिल गया सागर से
सागर बन

थम गए हाथ उसके
पथरा गई आंख
टीस फूट उठी अधरों से
कुछ तो बोल
कहां है तू?
बूंद मेरी रेत में गुम हो गई

लुढ़क गई गर्दन
आंखों से निकलकर गर्म आंसू
चमक उठा कपोल पर
चाँद की चाँदनी में।

अरदास

सरकते-सरकते हाथ
आ जुड़े एक दूसरे से

और जुड़कर धीरे-धीरे
उठने लगे ऊपर की ओर
कुछ भी नहीं था जहां
बस, खला के सिवा

हाथ जुड़े तो
थरथराने लगे होंठ
कुछ कहने को
जो कभी मैंने
न सुना, न पढ़ा

धीरे-धीरे
जुड़ने लगी पलक से पलक
बाहरी दुनिया रह गई बाहर
लगा जागने हल्का हल्का
अंदर व्याप्त संसार

भटकता मन हो गया स्थिर
लगा जैसे मैं आज
पास अपने आ गया हूं।

गुमशुदा बुत

सुबह सवेरे
पर्दा उठना था जिस बुत से
शोर है चारों तरफ
रातों रात वह
चबूतरे से उतर
कहीं चला गया है

कुचले हुए फूल
खींच कर उतारीं
फूलों की लड़ियां
रंग बिरंगी झंडियां
रंगोली पर पैरों के निशान
सब बताते हैं कि वह
उतर कर
किस दिशा में गया है

पांच दस कदमों के बाद
निगल लिए
स्याह सड़क ने
उस के पैरों के निशान भी

हवा में फुसफुसाहट है
बुत ने
रात के अंधेरे में
सड़क के साथ मिलकर
रची होगी साजिश
अपने चले जाने की
लोगों के मुंह पर यही बात है
चबूतरे पर चढ़ने से पहले
बरसों बरस वह
कागजों पर
चढ़-चढ़ कर
उतरा था कई बार

उसके सहयात्री
तख्ती पर अंकित नाम को पढ़
यादों की गुल्लक हिलाते हैं
कोई खुशी से
अपने जीवित होने की
करता है निंदा
अपनी मौत के बाद
अपने बुत होने का
सपना देखता है

शहर के
हर रास्ते, हर मोड़,
हर चौराहे की दीवार पर
बुत की नहीं,
गुमशुदा बुत की
खबर चिपकी है

पुरस्कार घोषित है
उसे ढूंढ लाने का

नाके के आर-पार
झांकती आंखें
व्यस्त हैं
चलते फिरते जिस्मों में
बुत के निशान पहचानने में।

प्रतीक्षा

बिस्तर पर पड़ा
प्रतीक्षा करता है वह
मरने से पहले
अपनी मौत का
ले रहा हो जैसे
खुली आंखों से
सपना मौत का

टीस उसके दर्द की
'हाय' बन
बिखरती उतनी ही
जितनी होती उसके भीतर ऊर्जा

दूर, नजदीक के संबंधी
सुनते उसे उतना ही
जितना चाहते हैं वे सुनना

चलती फिरती उसकी निगाह
अटक जाती है कभी
सामने टंगी घड़ी पर
कभी पास वाले जीने की
दो चार सीढ़ियां चढ़
हांफ कर
नीचे उतर आती

उसकी तीखी नजर
घर की
छोटी-छोटी चीज को छूती है
जिन्हें कभी
सजाया था हाथों से

सराहा था देखने वालों ने
वही चीजें, अब
अपना अपना इतिहास ले बैठें

उसकी एक आंख
खुले दरवाजे पर
लगी रहती है हमेशा
अंबर से उतरते 'भंबू तारों' में से
शायद कोई परिचित चेहरा
दिखाई दे जाए
जिससे बतियाकर
चूर हो जाए देह थककर
गहरी नींद आंखों में उतर आए

किसी शहर, मुहल्ले या गली से चल
किसी की मृत्यु की सूचना
जब अपने घर तक पहुंचे
तो वह
लगती उसे अपनी मौत की खबर

कभी छोटा, कोई बड़ा
कभी कोई समवयी
चला जाता है जब
पक्षधर चलती हुई मौत भी, उसे
लगती है बेईमान

बिस्तर पर पड़ा,
वह
हर क्षण लेता है
खुली आंखों से
सपना मौत का।

पंजाबी से अनुवाद : विजय लक्ष्मी

बी.एल. गौड़ की कविताएं

आवाजों वाला घर

जी हां
मैं घर बनाता हूं
लोह-लक्कड़, ईंट-पत्थर
काठ-कंकड़ से खड़ा कर
द्वार पर पहरा बिठाता हूं
जी हां
मैं घर बनाता हूं

एक दिन
मेरे भीतर का मैं
बाहर आया
चारों ओर घूमकर
चिकनी दीवारों पर
बार-बार हाथ फेरकर
खिड़कियों और दरवाजों को
कई-कई बार
खोल कर, बंद कर
संतुष्टि करता हुआ बोला-
क्या खाक घर बनाते हो
मैं बताता हूं तुम्हें
घर बनाना

घर बनता है
घर के भीतर की आवाजों से
चढ़ती-उतरती सीढ़ियों पर घस-घस

बरतनों की टकराहट
टपकते नल की टप-टप
द्वार पर किसी की ठक-ठक
रसोई से कुकर की सीटी
स्नानघर से-हरी ओइम तत्सत
पूजाघर से-टनन टनन
आरती के स्वर
आंगन से बच्चों की धकापेल
दादा की टोकाटाकी
ऊपरी मन से
दादी की केसा-काटी
और इसी बीच
महाराजिन का पूछना
बीबीजी क्या बनाऊं?
जब-तक यह सब कुछ नहीं
तब तक, घर-घर नहीं
मत कहना दोबारा
कि मैं घर बनाता हूं
जी हां! मैं घर बनाता हूं।

ऐसा क्यों होता है

ऐसा क्यों होता है
कि हम
उम्र के अंतिम पड़ाव तक
पहुंचते-पहुंचते
काठी के साथ-साथ
कद में भी घिस जाते हैं

शेष बची उमर
ज्यों-ज्यों घटती है
जीने की ललक
त्यों-त्यों बढ़ती है
अभाव
धन के नहीं

अपनेपन के
बढ़ जाते हैं

लगने लगता है 'दिन'
अपनी उमर से बड़ा
और 'रात'
तय अवधि से अधिक लंबी
'परिवार'
शतरंजी खानों में बंटकर
खेलता है खेल
शह और मात के
ऐसे हालात में हम
दो नहीं
कई-कई पाटों के बीच
पिस जाते हैं।

रिश्तों के
प्यार से लबालब घटों में
न जाने कब
बारीक सूराख हो जाते हैं
और उम्र के
इस पड़ाव तक पहुंचते-पहुंचते
सारे घट रिस जाते हैं!!

पता नहीं क्यों

पता नहीं क्यों
आजकल
हर दिन सुबह-सुबह
क्या हो जाता है
कि अखबार पढ़ने के बाद
जी मिचलाता है

लगता है जैसे
खा ली हो कोई गोली

बिना शहद के
संभलवाले हकीम की
या श्यामलाल वैद्य की

बरबस उठ जाती है नज़र
गली के आखिर में चुपचाप खड़े
मंदिर और मस्जिद की तरफ
दादा बताते थे
कि यह मस्जिद
मन्दिर से प्यार करती है
अपने दुःख-सुख बतियाती है
और बताते थे यह भी
कि इनका प्यार
प्लैटॉनिक लव है
पर मैं नहीं समझा आज तक
प्लैटॉनिक लव का मतलब
बस देखता भर रहता हूं
इनके प्यार को
जब भी समय मिल पाता है

पर, इधर कुछ दिनों से
मन डरा-डरा रहता है
जब से एक आदमी
साइकिल पर एक बोरा लादे
इन दोनों के पास से
घंटी बजाता हुआ गुजरता है
घबराहट तब और बढ़ जाती है
जब वह
साइकिल को
मंदिर से टिकाकर
खिड़की विहीन दीवार की तरफ मुंह कर
खड़ा-खड़ा
खुद को राहत पहुंचाता है।

प्रगति

हम, हर रोज प्रगति कर रहे हैं
पर, ऐसा लगता क्यों नहीं
क्यों लगता है ऐसा
कि हम
डल झील के पानी की तरह
ठहरे हुए हैं
और लोग
हमारी हिलोर विहीन सतह पर
सजे-धजे बजरों में बैठे
किल्लोल कर रहे हैं

हम क्या करें?
क्या ठहरे हुए पानी में
हिलोर पैदा करें?
पर
ऐसा करने से
बजरे पलट जाएंगे
और बहुत सारे लोग
बे-मौत मर जाएंगे

ऐसा हम सोचते भर हैं
कर नहीं सकते
क्योंकि हमारी धमनियों में
संस्कार बहते हैं संस्कार
जिनसे जनमती हैं परंपराएं
हम तो
विवशता की शॉल लपेटे हुए
परंपरा का निर्वाह कर रहे हैं।

सुभद्रा कुमारी चौहान

प्रस्तुति : विजय मोहन शर्मा

प्रख्यात आलोचक रामविलासजी की स्क्रैप बुक्स लेखमाला के अंतर्गत पाठकगण हॉकी के विश्वविख्यात खिलाड़ी ध्यानचंद, उन्नीसवीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध जर्मन कवि हायनरिख हाइने एवं सुविख्यात जर्मन संगीतज्ञ लुडविग वैन बीथोवन के बारे में क्रमशः पढ़ चुके हैं। इस बार रामविलास शर्मा की स्क्रैप बुक्स की अंतिम किश्त के अंतर्गत भारत की सुप्रसिद्ध कवयित्री श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान के बारे में विजय मोहन शर्मा द्वारा प्रस्तुत गवेषणापूर्ण सामग्री दी जा रही है। सुभद्राजी, जैसा कि हिंदी पाठक जानते हैं, अपनी कविता 'झांसी की रानी' के कारण जन-मानस में बस गई थीं लेकिन वह एक श्रेष्ठ कवयित्री ही नहीं, अच्छी गद्य लेखिका भी थीं। फिर, उनका जीवन भी स्त्रियों तथा युवा पीढ़ी के लिए कम प्रेरणाप्रद नहीं रहा। अब आप उनके प्रारंभिक जीवन, विवाह, देशभक्ति के संदर्भ में जेल-यात्राओं तथा सृजनात्मक कृतियों आदि, के बारे में पढ़िए :

हिंदी में बहुत-सी कविताएं लिखी गई हैं। देश प्रेम जगाने वाली, वीर रस से ओत-प्रोत कविताएं, तरह-तरह की कविताएं, लेकिन हिंदी की दूसरी कोई कविता इतनी अधिक लोकप्रिय नहीं हुई, जितनी 'झांसी की रानी'। जहां तक लोकप्रियता का सवाल है, संभवतः कुछ और कविताएं इसके आस-पास फटक भी जाएं, लेकिन जनता को देश प्रेम से ओत-प्रोत कर, स्वतंत्रता के लिए अपने प्राणों की बाजी तक लगा देने के लिए प्रोत्साहित करनेवाली, दूसरी और कोई रचना निश्चित रूप से, दूर-दूर तक दिखाई नहीं देती। कविता की लेखिका सुभद्रा कुमारी चौहान स्वयं एक स्वतंत्रता सेनानी थीं।

स्वाधीनता आंदोलन के दौरान, लोगों को जुलूस बनाकर, लखनऊ के अमीनाबाद में, इस कविता को गाते, हाथों में पहने कड़ों को बजाते, आगे बढ़ते हुए, रामविलासजी ने स्वयं देखा था।

सुभद्रा कुमारी चौहान के पति भी स्वतंत्रता सेनानी थे और अकसर जेल में होते थे; सुभद्राजी को घर का काम-काज देखना होता था, बच्चों की पढ़ाई-लिखाई का ध्यान रखना होता था, समय निकालकर कविताएं लिखनी होती थीं, सभाओं में भाषण करने जाना होता था, झंडा लेकर जुलूस का नेतृत्व करना होता था और कभी-कभी जेल भी जाना होता था। कभी-कभी पति-पत्नी दोनों जेल में होते थे। आश्चर्य नहीं कि, उस सामाजिक परिवेश के लोग, उन्हें देवी की तरह पूज्य मानते थे।

बचपन : उत्तर प्रदेश के इलाहाबाद के निहालपुर गांव में रहने वाले ठाकुर रामनाथ सिंह के चार बेटियां थीं और दो बेटे। बेटियों के नाम थे- रानी, सुंदर, सुभद्रा और कमला। बेटों के नाम थे- अशोक

और राज बहादुर। मध्यवर्ग के साधारण से लगने वाले इस परिवार की कन्या सुभद्रा आगे चलकर असाधारण काम करेगी, यह बचपन से ही दिखाई देने लगा था। स्वभाव से ही चंचल, खेलकूद और पढ़ाई-लिखाई में समान रूप से अग्रणी, सुभद्रा छुआछूत और ऊंच-नीच के खिलाफ थी। वह किसी तरह का अन्याय सहन नहीं कर सकती थीं और तुरंत विद्रोह करने के लिए खड़ी हो जाती थी।

उसके मन में अपार ममता और दया भी थी; वह नौकर-नौकरानियों को घर का सदस्य मानती थी और उनके काम में हाथ बंटाती रहती थी, चाहे इसके लिए उसे डांट ही क्यों न खानी पड़े। चारों बहनों में रानी शांत और गंभीर थी। सुंदर, बहुत मीठे स्वभाव की, स्नेही और संतोषी लड़की थी। सुभद्रा बहुत चंचल थी और किसी के खिलाफ, कैसा भी अन्याय सहन नहीं करती थी। छोटी-सी बात तक से भड़क जाती थी। कमला छोटी होने के नाते सबकी दुलारी थी। भाइयों में छोटे थे रज्जू भैया-राज बहादुर सिंह-जो सुभद्रा से बड़े थे और उस पर विशेष स्नेह रखते थे।

खाना खाते समय पानी रखने का काम या तो सुंदर करती थी या कोई और, लेकिन सुभद्रा यह काम कभी नहीं करती थी। प्यास लगने पर सबसे पहले पानी पीने वाली भी यही थी।

एक बार सुंदर बिगड़ गई, 'पानी तो रखती नहीं है, पी लेती है सबसे पहले', और उठाकर पानी का लोटा सुभद्रा पर उलट दिया। बालिका सुभद्रा गुस्सैल तो थी ही। उसने भी पानी का गिलास सुंदर पर उंडेल दिया। दोनों बहनें भीग गईं लेकिन ठंडे पानी ने लड़ाई को भी ठंडा कर दिया।

सुभद्रा कुमारी चौहान का जन्म 16 अगस्त, 1904 को हुआ था। उस जमाने में लड़कियों को 5-6 साल की उम्र की बाद घर से बाहर नहीं जाने दिया जाता था। ऐसे में सुभद्रा को घर, बाहर, स्कूल, पड़ोस सभी जगह मोर्चा लेना पड़ता था।

स्कूल की चहारदीवारी में खेल सकते थे, लेकिन बाहर जाना मना था। सुभद्रा का मन, पंख लगाकर उड़ना चाहता था। उसका मन कविताएं पढ़ने और कविताएं लिखने में अधिक लगता था, बजाय गणित के प्रश्न हल करने में। नौ वर्ष की आयु में उसकी पहली कविता 'सुभद्रा कुंवरि' के नास में छप गई थी। कविता नीम के पेड़ पर थी-

तू रोगमुक्त अनेक जन को सर्वदा करती रहै,
इस भांति से उपकार तू हर एक का करती रहै।
प्रार्थना हरि से करूं हिय में सदा यह आस हो,
जब तक रहें नभ चंद्र तारे सूर्य का परकास हो।
तब तक हमारे देश में तुम सर्वदा फूलो-फरो,
निज वायु शीतल से पथिक-जन का हृदय शीतल करो।

सुभद्रा पढ़ने-लिखने में तेज थीं। कविता लिखने में कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता था। स्कूल का अधिकांश काम घर आते-जाते इक्के में ही खत्म कर डालती थी। क्लास में प्रथम आने पर शाबासी तो मिलती ही थी, इनाम भी मिलता था। इस कारण, अध्यापिकाएं सुभद्रा को विशेष रूप से प्यार करती थीं। गणित में, खास तौर से अंकगाणित में, उसका मन बिल्कुल नहीं लगता था लेकिन इस कष्ट से भी, उसकी अध्यापिका ही उसे उबारती थीं। परीक्षा से पहले, पिछले कई वर्षों के प्रश्न-पत्र हल करने को देती थीं। जब तक सुभद्रा उन्हें ठीक से हल न कर ले, तब तक छुट्टी नहीं मिलती थी। कुछ दिन बाद सुभद्रा को बोर्डिंग हाउस में भर्ती कराया गया। सुभद्रा का मन बोर्डिंग हाउस में

बिल्कुल नहीं लगता था, और वह किसी-न-किसी बहाने, घर भाग आती थी। पर, धीरे-धीरे बोर्डिंग हाउस में उसका मन लगने लगा। यहां उसकी कई सहेलियां बन गईं। साथ में पढ़ने वाली एक लड़की के चेहरे पर चेचक के दाग थे और उसका रंग भी सांवला था। उससे कोई नहीं बोलता था और वह अकसर दुखी रहती थी। सुभद्रा ने उससे दोस्ती बढ़ाई और उसे हमेशा अपने बगल में बैठाया।

स्कूल छोड़ने के वर्षों बाद, एक बार जब सुभद्रा किसी कवि-सम्मेलन में गईं, तो उन्होंने देखा कि उनकी वही बचपन की सहेली अब एक प्रतिष्ठित व्यक्ति की पत्नी है।

जब तक सुभद्रा स्कूल में रहीं, वह खेल-कूद और पढ़ाई-लिखाई, सभी क्षेत्रों में अग्रणी रहीं। स्कूल की अध्यापिकाएं उनकी 'फैन' थीं। सन् 1919 में सुभद्रा ने मिडिल पास कर लिया। वह प्रदेश में आठवें नंबर पर आईं-और, लड़कियों में सर्वप्रथम। इसी वर्ष उनकी शादी तय हो गई और पढ़ाई बंद हो गई।

विवाह : उन दिनों इलाहाबाद शिक्षा का बड़ा, और अच्छा केंद्र माना जाता था। दूर-दूर से मेधावी छात्र पढ़ने के लिए यहां आते थे और इसीलिए कई अच्छे स्कूलों-कॉलेजों में बोर्डिंग हाउस भी बनाए जाते थे ताकि बाहर के बच्चे उनमें रहकर पढ़ाई पूरी कर सकें। लक्ष्मण सिंह बहुत साफ-सुथरे व्यक्ति थे। उनके आचार-विचार, रंग-रूप-सभी कुछ मन-मोहक थे। वह गरीब घर के जरूर थे, लेकिन वह अपने चरित्र, मेहनत व लगन से उनकी भरपाई कर लेते थे। फीस देने के लिए उन्हें ट्यूशन करनी पड़ती थी, लेकिन कभी किसी के आगे हाथ फैलाने की नौबत नहीं आई। उन दिनों लड़कियों के भाइयों और माता-पिता को लड़कियों की शादियों की बड़ी चिंता रहती थी और कम उम्र से ही से लोग वर की तलाश करने लगते थे। मौका देखते ही शादी कर दी जाती थी।

रज्जू भैया भी लक्ष्मण सिंह में सुभद्रा का भावी पति देखते थे और आवश्यकता से अधिक 'लिफ्ट' देते थे। पर्दे के बंधन अभी तक टूटे तो नहीं थे, लेकिन ढीले अवश्य हो चले थे। निहालपुर में लक्ष्मण सिंह ने सुभद्रा को देखा भी, उनके बारे में सुनते तो रहते ही थे। एक बार जब लक्ष्मण सिंह निहालपुर गए हुए थे तो रज्जू भैया ने अपनी मां और भाभी से कहा कि सुभद्रा के लिए लड़का देख लो। उन लोगों को भी लड़का पसंद आया। समस्या सिर्फ यही थी कि खंडवा इलाहाबाद से काफी दूर पड़ता था। खैर, एक बार हरी झंडी मिल जाने पर लक्ष्मण सिंह के लिए निहालपुर भावी ससुराल हो गई। जब भी वहां जाते, उनके मित्र उनके ठाठ राजसी बना देते। कोई अपना कोट दे देता, कोई पगड़ी पहना देता, और कोई अपने जूते। यहां तक कि उनके 'अपने कपड़ों' में से कोई भी उनके तन पर नहीं रहने पाता।

यों सुभद्रा जैसी सुंदर, सर्वगुण संपन्न और तेजस्विनी लड़की के लिए योग्य लड़कों की कोई कमी नहीं थी लेकिन रज्जू भैया को लक्ष्मण सिंह जैसा मेधावी चरित्रवान युवक और कोई दिखाई नहीं देता था। एक बैरिस्टर साहब सुभद्राजी से विवाह करने की इच्छा एक से अधिक बार व्यक्त कर चुके थे पर रज्जू भैया को उनकी उम्र अधिक लगती थी। इसके अलावा, रज्जू भैया विचारों की उदारता को अधिक महत्व देते थे। मानासिक धरातल पर उन्हें लक्ष्मण सिंह अधिक उपयुक्त लगते थे अतः निर्णय करने में अधिक समय नहीं लगा।

राज बहादुर सिंह ने अपने एक संस्मरण में लिखा है 'इलाहाबाद विश्वविद्यालय के कॉनवोकेशन के समय, क्रास्थवेट गवर्नमेंट स्कूल की तरफ से सिनेट हॉल में एक समारोह आयोजित

हुआ, जिसमें स्कूल की प्रिंसिपल मिस मानकर का भाषण हुआ। एक और वक्ता का भी भाषण हुआ; जो कन्या इस कार्य के लिए चुनी गई थी वह सुभद्रा थी। सुभद्रा के भाषण से लोग अत्यंत प्रभावित हुए। यह सन् 16-17 की बात होगी। उस समय मैं अध्यापक था। सुभद्रा की सूरत-शक्ल से लोग पहचान गए कि वह मेरी बहन है। उन्होंने आकर मुझे बहुत बधाई दी।'

एक दिन रज्जू भैया लक्ष्मण सिंह को मिस मानकर से मिलाने ले गए। बातों-बातों में उन्होंने मिस मानकर को बताया कि लक्ष्मण सिंह का विवाह सुभद्रा के साथ तय हो गया है। मिस मानकर सुभद्रा को बहुत प्यार करती थीं। उन्होंने राज बहादुर सिंह से कहा कि अगर सुभद्रा का विवाह अभी न करें, तो एक दिन यह ऐतिहासिक लड़की होगी। इसका विवाह करके आप देश का बड़ा नुकसान करेंगे। मिस मानकर लक्ष्मण सिंह को जानती नहीं थीं, वरना वे समझ जातीं कि दो समानधर्मा व्यक्ति एक-दूसरे के लिए बाधक नहीं, प्रेरक बन जाते हैं।

बहरहाल, अनेक व्यवधानों और नाते-रिश्तेदारों के विरोध को पार करके, शादी हो गई। शादी भी कैसी-न लेन-देन की बात हुई, न और किसी रस्मो-रिवाज की! शादी में जैसी सहमति लड़के की थी, वैसी ही सहमति लड़की की भी थी। शादी के समय न कोई पर्दा हुआ और न कोई छुआछूत। ऐसी शादी इससे पहले कभी नहीं हुई थी। अनोखी! लीक से हटकर!

सुभद्रा जब मंडप में पीढ़े पर बैठीं तो उनके शॉल में आग लग गई। लोगों ने इसे बड़ा अपशकुन माना। सुभद्रा और लक्ष्मण सिंह ने इसे हवा में उड़ा दिया।

शादी के बाद बारात वधू को लेकर इलाहाबाद से खंडवा के लिए रवाना हुई। लंबा रास्ता। धीरे-धीरे रुकती-रुकती चलने वाली रेलगाड़ी। इटारसी स्टेशन पर लगभग एक घंटे रुकती थी। लक्ष्मण सिंह ने सुभद्रा को देखा। बेचारी बारातियों के बीच में फंसी हुई, सिकुड़ी-सिमटी सी, बैठी थीं। देखकर लक्ष्मण सिंह को बड़ा कष्ट हुआ। सुभद्रा को लेकर वह स्टेशन के प्लेटफॉर्म पर उतर गए और दो चक्कर लगाए।

लक्ष्मण सिंह के बड़े भाई उमराव सिंह इस विवाह से यों ही असंतुष्ट थे। एक तो भाई ने अपने मन से शादी तय कर ली, फिर शादी में न कोई पर्दा, न लेन-देन, न नेग-व्यवहार की कोई रस्म! यह भी कोई शादी हुई? और ऊपर से तुर्रा यह कि अभी बारात लेकर घर भी नहीं पहुंचे, और बहू के साथ घूमना शुरू कर दिया! ऐसी बेशर्मी वह अपने घर में नहीं चलने देंगे। खंडवा पहुंचते ही वह दूसरे बारातियों से पहले ही घर जा पहुंचे और हाथ में डंडा लेकर दरवाजे पर खड़े हो गए। आखिर खानदान की इज्जत का सवाल था। उन्होंने हुक्म दिया कि बहू पहले घूंघट निकालेगी, तब घर में घुसने पाएगी। सुभद्रा ने इस प्रसंग को समाप्त करने के लिए घूंघट निकाल लिया, लेकिन रूढ़ियों से टकराने का संकल्प भी मन में उसी समय कर लिया।

उन दिनों पर्दा न करना कितनी बड़ी बात होगी, इस बात का अंदाज इससे लग जाता है कि लक्ष्मण सिंह की शादी के तीन-चार दिन बाद, जब उनके मित्र बाबू लाल तिवारी कहीं बाहर से खंडवा लौटे, तो उन्होंने घर-घर में चर्चा सुनी कि लक्ष्मण जाने कैसी औरत ब्याह लाया है जो मुंह उघाड़े घूमती है!

कविताएं : सुभद्रा की पढ़ाई नौवीं कक्षा के बाद छूट गई।

गांधीजी के असहयोग की पुकार को सारा देश सुन रहा था। सुभद्रा ने भी स्कूल से बाहर आकर पूरे मन-प्राण से अपने को असहयोग आंदोलन में झोंक दिया। उनके कार्य दो रूपों में थे : एक तो,

देश-सेविका के रूप में, और दूसरा, देशभक्त कवयित्री के रूप में।

जलियांवाला बाग कांड उन्हीं दिनों घटित हुआ था। सुभद्राजी के मन पर इसका गहरा आघात लगा। उन्होंने इस पर तीन कविताएं लिखी। 'जालियांवाला बाग में वसंत' में उन्होंने लिखाः

परिमल-हीन बाग खून से सना पड़ा है।
हा! यह बाग खून से सना पड़ा है।
आओ प्रिय ऋतुराज! किंतु धीरे से आना,
यह है शोक-स्थान यहां मत शोर मचाना।
कोमल बालक मरे यहां गोली खा-खाकर,
कलियां उनके लिए गिराना थोड़ी लाकर।

सुभद्राजी की कविताएं बड़े सरल, सीधे-सादे शब्दों में लिखी गई है; लेकिन चूंकि ये कविताएं हृदय से निकले उद्‌गार हैं, इसलिए सीधे पाठक के हृदय में उतर जाती हैं।

उनकी सबसे लोकप्रिय कविताओं में से कुछ निम्नांकित हैं (स्थानाभाव के कारण हम उनके आंशिक उद्धरण ही दे पा रहे हैं):

झांसी की रानी

सिंहासन हिल उठे, राजवंशों ने भृकुटी तानी थी
बूढ़े भारत में भी आयी, फिर से नई जवानी थी
गई हुई आजादी की कीमत सबने पहचानी थी
दूर फिरंगी को करने की सबने मन में ठानी थी।
चमक उठी सन् सत्तावन में वह तलवार पुरानी थी
बुंदेले हरबोलों के मुंह हमने सुनी कहानी थी,
खूब लड़ी मर्दानी, वह तो झांसी वाली रानी थी।

वीरों का कैसा हो वसंत

वीरों का कैसा हो वसंत?
आ रही हिमाचल से पुकार,
है उदधि गरजता बार-बार,
प्राची, पश्चिम, भू, नभ अपार
सब पूछे रहे हैं दिग-दिगंत
वीरों का कैसा हो वसंत?
फूली सरों ने दिया रंग,
मधु लेकर आ पहुंचा अनंग
वधु-वसुधा पुलकित अंग-अंग
है वीर देश में किंतु कंत
वीरों का कैसा हो वसंत?

मेरा जीवन

मैंने हँसना सीखा है,
मैं नहीं जानती रोना
बरसा करता पल-पल पर
मेरे जीवन में सोना।

ठुकरा दो या प्यार करो

देव तुम्हारे कई उपासक
कई ढंग से आते हैं,
सेवा में बहुमूल्य भेंट वे
कई रंग की लाते हैं।

मैं उन्मत्त प्रेम की लोभी
हृदय दिखाने आयी हूं,
जो कुछ है, वह यही पास है
इसे चढ़ाने आयी हूं।
चरणों पर अर्पित है, इसको
चाहो तो स्वीकार करो,
यह तो वस्तु तुम्हारी ही है
ठुकरा दो या प्यार करो।

उनकी कुछ अन्य प्रसिद्ध कविताएं हैं 'रक्त की चुनौती', 'विदा', 'यह कदंब का पेड़' तथा 'राखी की चुनौती'। उनकी कविताओं के संग्रह हैं- 'त्रिधारा', 'मुकुल' (1930), 'यह कदंब का पेड़'। सुभद्राजी की कविताओं ने अपने समय के अनेक लेखक-लेखिकाओं को प्रभावित किया था। गजानन माधव मुक्तिबोध ने सुभद्राजी के राष्ट्रीय काव्य को हिंदी में बेजोड़ माना है। उन्होंने कहा है 'कुछ विशेष अर्थों में सुभद्राजी का राष्ट्रीय काव्य हिंदी में बेजोड़ है, क्योंकि उन्होंने उस राष्ट्रीय आदर्श को जीवन में समाया हुआ देखा है, उसकी प्रवृत्ति अपने अंतःकरण में पाई है, अतः यह अपने समस्त जीवन-संबंधों को उस प्रवृत्ति की प्रधानता पर आश्रित कर देती है, उन जीवन संबंधों को उस प्रवृत्ति के प्रकाश में चमका देती है। यही उनके राष्ट्रीय काव्य की बड़ी ऊंचाई और सफलता है।' उनका पहला कविता-संग्रह 'मुकुल' नाम से छपा था और उसे हिंदी साहित्य सम्मेलन ने सेकसरिया पुरस्कार से सम्मानित किया था।

कहानीकार सुभद्रा : समाज की अनीतियों से उत्पन्न जिस पीड़ा को सुभद्राजी अपनी रचनाओं में व्यक्त करना चाहती थीं, उसे गद्य में अभिव्यक्त किया जा सकता था। इसलिए सुभद्राजी ने कहानियां लिखना शुरू किया। उनकी कहानियों में संघर्षरत नारी की पीड़ा और विद्रोह का स्वर मुखर है। साल भर में उन्होंने एक कहानी-संग्रह तैयार कर लिया था। नमा रखा 'बिखरे मोती'। इसे छपवाने के लिए वह इलाहाबाद गईं। इसकी अधिकांश कहानियां सत्य घटनाओं पर आधारित हैं। देश प्रेम और गरीबों के प्रति सहानूभूति, इन कहानियों की प्रमुख धारा है। कहानी-संग्रह 'बिखरे मोती' छप गया और उस

पर भी उन्हें सेकसरिया पुरस्कार मिला।

उनकी कहानियों में सामजिक सरोकारों से जूझने का ही विवेचन है। 'बिखरे मोती' के आत्म निवेदन में वह कहती हैं : 'रूढ़ियों और सामजिक बंधनों की शिलाओं पर अनेक निरपराध आत्माएं प्रतिदिन चूर-चूर हो रही हैं उनके हृदयबिंदु जहां-तहां मोतियों के समान बिखरे पड़े हैं। मैंने उन्हें केवल बटोरने का ही प्रयत्न किया है। मेरे इस प्रयत्न में कला का लोभ है और अन्याय के प्रति क्षोभ भी।'

प्रसिद्ध आलोचक धनंजय वर्मा ने सुभद्राजी की कहानियों के बारे में लिखा है : 'सुभद्रा की कहानियों में भी यथार्थ की जितनी सहज और सीधी पकड़ से स्वीकृति और आदर है, उतनी कविताओं में भी नहीं है। उनकी कविताओं में भावनाओं का समारोह है, आवेग है लेकिन उनकी कहानियों में समकालीन सच्चाई का जीवंत मुहावरा है। उनमें अपने समय की लगभग हर घटना और स्थिति से उत्फुल्ल होने और सारे मौजूद यथार्थ को सही या उचित मानने का रूमानी संस्कार भी नहीं है। अपने वक्त के सपनों और वास्तविकताओं के बीच मौजूद अंतर्विरोधों के प्रति उनकी चेतना में एक संपृक्त सुधारक का जैसा नजरिया है और साथ ही यह विश्वास भी है कि बेहतरी के लिए राजनीतिक बदलाव के साथ सामाजिक बदलाव भी जरूरी है। उनकी कहानियों के कम-से-कम चार संग्रह तो निकले ही हैं, 'बिखरे मोती' (1932), 'उन्मादिनी' (1934) 'सीधे-सादे चित्र' (1946) तथा 'गौरी'।

स्वतंत्रता संग्राम- विवाह के कुछ दिनों बाद ही लक्ष्मण सिंह को जबलपुर में नौकरी मिल गई। माखनलाल चतुर्वेदी उन दिनों 'कर्मवीर' निकालते थे। उसी में लक्ष्मण सिंह को नौकरी मिली थी। उनके साथ सुभद्राजी भी जबलपुर आ गईं। सुभद्राजी मात्र गृहिणी बनकर घर बैठने से संतुष्ट नहीं थी। उनके अंदर जो तेज था काम करने का जो उत्साह था और जो लगन थी, उसके लिए घर की चहारदीवारी बहुत छोटी थी। इसके अलावा, उनमें लिखने और भाषण करने की विलक्षण प्रतिभा थी। उन्हें पति के रूप में ऐसा व्यक्ति मिला था, जो उनकी प्रतिभा को पनपने के लिए उचित वातावरण देने का प्रयत्न करता था। दोनों, पति और पत्नी, मन-प्राण से कांग्रेस का काम करने लगे।

सुभद्रा महिलाओं के बीच घर-घर जाकर स्वाधीनता संग्राम का संदेश पहुंचाने लगीं। वह उन्हें स्वदेशी वस्तुएं अपनाने, पर्दा-प्रथा छोड़ने, छूआछूत और ऊंच-नीच की संकीर्ण भावनाओं से ऊपर उठने की सलाह देती थी। स्त्रियां सुभद्राजी की बातें बड़े ध्यान से सुनती थीं। 1920-21 में मध्यवर्ग की बहुओं में प्रगतिशील मूल्यों का संचार करने में सुभद्राजी ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। 1920-21 में सुभद्राजी और लक्ष्मण सिंहजी, दोनों, अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्य थे। उन्होंने नागपुर कांग्रेस में भाग लिया और घर-घर जाकर कांग्रेस का संदेश पहुंचाया।

रूखा-सूखा खाना, मोटा पहनना, और आदर्शों पर चलना- यही उनका जीवन था। दिसंबर 1921 में पति-पत्नी, दोनों अहमदाबाद कांग्रेस में भाग लेने के लिए गए और लौटते वक्त कुछ समय के लिए साबरमती आश्रम में रुके। सुभद्राजी ने यहां बापू के दर्शन किए, कस्तूरबा भी उनके साथ थीं। त्याग और सादगी के आवेश में आकर सुभद्रा सफेद खादी की, बिना किनारी की, धोती पहनती थीं। कपड़ों और गहनों की शौकीन होते हुए भी, उनके हाथों में न चूड़ियां थीं और न माथे पर बिंदी। आखिर बापू ने उनसे पूछ ही लिया, 'बेन! तुम्हारा ब्याह हो गया।' सुभद्राजी ने कहा, 'हां' फिर बताया, 'मेरे पति भी साथ आए हैं।'

इस बात को सुनकर बा और बापू जहां आश्वस्त हुए, वहीं उन्होंने सुभद्रा को डांटा भी : 'तुम्हारे माथे पर सिंदूर क्यों नहीं है? और, तुमने चूड़ियां क्यों नहीं पहनी हैं? जाओ, कल किनारी वाली साड़ी पहनकर आना।'

सन् 1922-23 का जबलपुर का झंडा-सत्याग्रह, देश का पहला सत्याग्रह था, और सुभद्रा पहली सत्याग्रही थीं। रोज सभाएं होती थीं और इनमें सुभद्राजी बोलती थीं। 'टाइगर्स ऑफ इंडिया' के संवाददाता ने इन्हें 'लोकल सरोजिनी' कहा। उनका भाषण सुनने दूर-दूर से लोग आते थे, शायद इसलिए भी कि यह अपने भाषण के साथ-साथ बीच में कविताएं भी सुनाती थीं। जब वह जोश में आकर 'खूब लड़ी मर्दानी वह तो झांसी वाली रानी थी' सुनातीं, तो श्रोताओं में जोश की लहर दौड़ जाती थी। इसी तरह आश्रम में रहते, सभाओं मे भाषण देते, कांग्रेस का प्रचार करते, हमउम्र साथियों से हँसी-मजाक करते एक दिन सुभद्राजी ने भी सत्याग्रह किया और गिरफ्तार हो गईं। सत्याग्रहियों को नागपुर की जेल में रखा गया। ऊंची-ऊंची दीवारें, एक के बाद एक बंद होते दरवाजे, बेड़ियों की खनक और गार्डों की आवाजें जेल को क्रूर व निर्मम जगह बनाती थीं। जेल के खराब खाने व कठोर जीवन के कारण उनकी तबियत खराब हो गई-इतनी खराब कि जेल अधिकारियों को सजा पूरी होने से पहले ही सुभद्राजी को रिहा करने पर विवश होना पड़ा। सुभद्राजी का बंदी बनना अपने-आप में एक बड़ी घटना थी। उनकी गिरफ्तारी के बाद कांग्रेस के चक्रवर्ती राजगोपालाचारी जैसे बड़े नेता अपने भाषण में कहते थे : 'मुझे उम्मीद है कि आप लोग जानते होंगे कि हमारी एक बहन गिरफ्तार हो गई। उसने पुलिस वालों और अनजान लोगों के सामने क्यों आत्मसमर्पण कर दिया। कोई भी हिंदू स्त्री जान-बूझकर ऐसा नहीं करती, इसे भी आपने सोचा है? अगर आप सोचेंगे तो पाएंगे कि हमारी स्वाधीनता के युद्ध में यह एक अद्‌भुत प्रगति है। यदि हमारी दूसरी बहनें भी इस काम के साहस और दृढ़ता को अपने मन में अनुभव करें, तो यह सरकार हमारी होते देर न लगेगी। मुझे मालूम है कि हमारी बहनें अपनी अंग्रेज बहनों की तरह झरोखों में इकट्ठी होकर केवल दर्शक नहीं बनी रहीं, बल्कि वे घटना-स्थल पर मौजूद थीं। घर-घर में सुभद्रा कुमारी के इस काम को लोग जानेंगे और उससे प्रभावित होंगे।'

सुभद्राजी का जीवन निरंतर संघर्ष का जीवन था। ऊंचे-नीचे पड़ावों पर उन्हें ठोकरें लगी थीं, अभाव की पीड़ा ने उन्हें सताया था; पर ये मनुष्य के प्रति उनकी आस्था और विश्वास को डिगा नहीं पाईं; न ही उनके जीवन में कोई तिक्तता आने पाई। गांधीजी के कहने से उन्होंने किया और और उन्हें जेल में डाल दिया गया। जबलपुर जेल में वह अकेली स्त्री-राजनीतिक-बंदी थीं, इसलिए उन्हें महिला अस्पलात के एक कमरे में रखा गया। उन्हें दो स्त्री कैदी काम-काज के लिए मिली थीं। एक दिन में उनके साथ रहती थीं तो दूसरी रात में। उन स्त्रियों में और अन्य अपराधी बंदिनियों से सुभद्राजी उनके दुःख-सुख की बातें सुनती थीं। जेल में उनके साथ जैसा कूर और अमानुषिक व्यवहार होता था, उसे जानकर सुभद्राजी को बड़ा क्लेश होता था। स्वयं जेल में होते हुए भी, वह जो कुछ उनके लिए कर सकती थीं, उन्होंने किया।

एक महीने के जेल प्रवास में, उन्होंने पंद्रह कहानियां लिख डालीं। उनकी अन्य कहानियों की तरह ही, ये कहानियां भी कल्पना और सत्य दोनों को साथ-साथ छूती हुई चलती हैं। कहानी 'जब और सहा नहीं जाता' में एक कैदी स्त्री अपनी कहानी सुनाती है। जेल का प्रवास बड़ा शांतिमय था।

उन 'अपराधिनी हत्यारिणी' बंदियों में उन्हें असली मानवता के दर्शन हुए। उनमें आपस में सुविधाओं के लिए होड़ न होने के कारण, कोई ओछापन भी नहीं था।

रामविलासजी से परिचय और मित्रता : सन् 1943 में रामविलासजी लखनऊ से आगरा आ गए थे। यहां आकर वह साहित्य समारोहों में भी जाने लगे थे। मेरठ में हेमवतीजी जब-तब साहित्यिक गोष्ठियों का आयोजन करती रहती थीं। इन गोष्ठियों में वह तमाम कवियों, लेखकों को बुलाती थीं। सन् 1939 में आयोजित ऐसी ही एक गोष्ठी में निरालाजी भी गए थे। उसमें रामविलासजी के अलावा जैनेंद्र कुमार, भारत भूषण अग्रवाल, अज्ञेय आदि भी थे।

इसी तरह की एक दूसरी गोष्ठी हेमवतीजी ने फिर मेरठ में आयोजित की। उसमें उन्होंने सुभद्रा कुमारी चौहान को भी बुलाया। रामविलासजी भी उसमें गए और सुभद्राजी को उन्होंने यहां पहली बार देखा। उन्होंने रामविलासजी से कहा कि तुम तो अभी नौजवान-से हो; मैं तो समझती थी कि तुम बूढ़े आदमी होगे- आचार्य रामचंद्र शुक्ल की तरह की तुम्हारी मूंछें होंगी लेकिन तुम तो मेरे छोटे भाई की तरह हो। वह बड़े स्नेह से मिली और रामविलासजी को उन्होंने सचमुच अपने छोटे भाई की तरह अपना लिया। उस कवि-सम्मेलन की अध्यक्षता सुभद्राजी ने की थी और संचालन किया था रामविलासजी ने।

'मुकुल' का प्रकाशन : प्रफुल्लचंद्र ओझा 'मुक्त' के सहयोग से सुभद्राजी का पहला कविता-संग्रह 'मुकुल' प्रकाशित हुआ। हिंदी संसार ने इसका दिल खोलकर स्वागत किया। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, इस संग्रह पर हिंदी साहित्य सम्मेलन ने उन्हें 'सेकसरिया' पुरस्कार की घोषणा की। उनका यह कविता-संग्रह बहुत दिनों तक चर्चा में रहा। जयपुर के कवि मेघ वर्मा, वीर रस में ओजस्वी कविताएं लिखते थे। वे भी सुभद्रा जी के भक्त थे। उन्होंने कवि के रूप में अपना उपनाम 'मुकुल' रख लिया। हमारे परिवार में जन्मे एक शिशु का नाम ही 'मुकुल' रखा गया।

रामविलासजी और सुभद्राजी एक-दूसरे का कितना सम्मान करते थे, यह इस बात से भी जाहिर है कि सुभद्राजी ने अपना पहला प्रकशित कविता-संग्रह 'मुकुल' रामविलासजी को भेंट किया। रामविलासजी उस संग्रह को जीवन पर्यंत संभाले रहे। सुभद्राजी ने उन्हें कविताएं लिखने के लिए एक कॉपी भी दी थी और पत्र लिखकर पूछा था कि उसमें कितनी कविताएं लिखीं।

सुधा का विवाह : जाति-प्रथा के बंधन तोड़कर अपनी पुत्री सुधा का विवाह सुभद्राजी ने प्रेमचंद के सपुत्र अमृतराय से किया। रूढ़िवादियों ने इसका विरोध किया पर सुभद्राजी ने उनका सामना किया। विवाह में सम्मिलित होने के लिए उन्होंने रामविलासजी को बड़े आग्रह के साथ जबलपुर बुलाया था।

शादी के बाद सुभद्राजी ने कहा, 'बेटी चली गई है; मुझे बड़ा अकेलापन महसूस हो रहा है, तुम कुछ दिन यहां रहो।, उनका आदेश मानकर रामविलासजी वहां रुक गए और दस बाहर दिन वहां रहे। वहां परिवार के सदस्यों से रामविलासजी की घनिष्ठता हो गई; जबलपुर के अन्य साहित्यकारों से भी परिचय हुआ। सुभद्राजी का बेटा अशोक उनके साथ क्रिकेट खेलता था। बाहर दीवाल पर विकेट बनाकर रबड़ की गेंद से क्रिकेट खेली जाती थी। बाकी सारे दिन सुभद्राजी से साहित्य, समाज ओर राजनीति पर चर्चा होती थी।

उन दिनों रामविलासजी घर में प्रायः हाफ-पैंट के साथ बुशर्ट या आधी बांह की कमीज पहनते

थे। सुभद्राजी ने कहा, 'तुम्हें खद्दर पहनना चाहिए।' रामविलासजी ने कहा, अच्छा। सुभद्राजी ने सिर्फ कहा ही नहीं, वह बाजार जाकर खद्दर की एक जोड़ा धोती और कुर्ते के लिए कपड़ा ले आईं। स्वयं इसे काटकर उन्होंने रामविलासजी के लिए कुर्ता सिया। रामविलासजी ने नहा-धोकर धोती-कुर्ता पहनकर जब उनका नमस्कार किया, तो वह बड़ी प्रसन्न हुईं।

15 अगस्त 1945 को सुभद्राजी ने जबलपुर से रामविलासजी को तार दिया कि वह दिल्ली जाते हुए आगरा से गुजरेंगी। उन्होंने लिखा, 'स्टेशन पर मिलो'। पर आगरे में एक से ज्यादा स्टेशन होने के कारण इन लोगों की मुलाकात न हो पाई। सुभद्राजी अपना सामान लपेट-बांधकर उतरने के लिए तैयार बैठी थीं, लेकिन मुलाकात न होने के कारण उतरीं नहीं। उन्होंने सोचा कम्युनिस्ट पार्टी वालों ने आने न दिया होगा और नाराज होकर एक पत्र लिखा। कारण पता लगने पर नाराजगी दूर हुई।

देहांत : 15 अगस्त, 1947 को जब देश स्वतंत्र हुआ, तो सुभद्राजी ने भेड़ाघाटा जाकर खान मजदूरों को कपड़े और मिठाइयां बांटकर स्वतंत्रता-पर्व मनाया। जब गांधीजी की अस्थियां नर्मदा में विसर्जन के लिए जबलपुर ले लाई गई, तो सुभद्राजी उन्हें लेने मदन महल स्टेशन गईं और पुलिस का घेरा तोड़ा। 14 फरवरी को वह शिक्षा-विभाग की बैठक में भाग लेने नागपुर गई। डॉक्टर ने रेलगाड़ी से नहीं, कार से जाने की सलाह दी। 15 फरवरी 1948 को दोपहर के समय वह जबलपुर के लिए वापस चलीं। उनका बेटा कार चला रहा था। सुभद्राजी ने देखा कि रास्ते में दो-चार मुर्गी के बच्चे हैं। उन्होंने अचकचाकर कहा, 'अरे बेटा मुर्गी के बच्चों को बचाओ। तेजी से काटने के कारण कार पेड़ से टकरा गई।

सुभद्राजी को जब तक अस्पताल पहुंचाया गया, उनका देहांत हो चुका था। उनका चेहरा एकदम शांत, निर्विकार था, जैसे गहरी नींद सो गई हों! उनकी अर्थी के साथ चार-पांच हजार आदमी थे। उनमें रिक्शे वाले, मेहतर-मेहतरानियां, कांग्रेसी कार्यकर्ता, अध्यापक, लेखक व्यापारी सभी थे। सभी धर्मों के लोग साथ थे। 44 वर्ष की अल्पआयु में ही उनका देहांत हो गया। सुभद्राजी ने यदि और कुछ न किया होता और सिर्फ, 'खूब लड़ी मर्दानी वह तो झांसी वाली रानी थी' नाम की एक ही कविता लिखी होती, तो भी वह अमर हो जातीं।

स्क्रैप-बुक में क्यों?

रामविलाजी ने अपनी स्क्रैप-बुक में सुभद्राजी पर निकला डाक टिकट चिपका रखा है। उन्हें स्क्रैप-बुक में स्थान देने के संभवतः निम्नलिखित कारण रहे होंगेः सुभद्राजी, रामविलासजी को बड़ा सम्मान देती थीं, और छोटे भाई जैसा स्नेह करती थीं। सुभद्राजी की कथनी और करनी में कोई अंतर नहीं था। उनकी अपनी शादी एक मिसाल थी और अपनी बेटी की शादी दूसरी। रामविलासजी भी वही कहते थे, जो वे स्वयं करते थे। सुभद्राजी देश प्रेम से ओत-प्रोत थीं। सुंदर, सरल, सीधे-सादे शब्दों में वह अपनी बात कहती थीं, जो सीधे जनता और श्रोता के दिल में उतर जाती थीं। यह गुण रामविलासजी में भी था।

भाषा, समाज सुधार और अंग्रेजों का विरोध आदि अनेक ऐसे मुद्दे थे, जिन पर दोनों (सुभद्राजी और रामविलासजी) में सहमति थी। महिला होकर, घर का काम-काज करते हुए, सुभद्रा जी देशभक्ति, समाज-सुधार व साहित्य-रचना से जुड़े काम करती रहीं। रामविलासजी भी समाज में स्त्रियों की सक्रिय भूमिका के दृढ़ समर्थक थे।

वैकल्पिक मीडिया का बढ़ता दायरा

नरेंद्र कुमार वर्मा

एक समय वह था, जब एक-दूसरे के पास एक छोटे-से संदेश को भेजने में एक सप्ताह से ज्यादा वक्त लग जाता था, लेकिन अब नया दौर है, इसलिए अब इधर आपने संदेश भेजकर अपनी पलकें झपकी नहीं कि उधर दूसरा व्यक्ति संदेश तक पढ़ लेता है, हालांकि कई बार ये संदेश किसी को नुकसान भी पहुंचा देते हैं। लोगों का कहना है कि अगर इंटरनेट का इतना ज्यादा विस्तार नहीं हुआ होता, तो समाजसेवी अन्ना हजारे का जनलोकपाल आंदोलन सफल नहीं होता या दिल्ली में सामूहिक बलात्कार पीड़ित निर्भया को लेकर आंदोलन नहीं होता और संभव है कि न्याय मिलने भी देरी होती। दरअसल, संचार के नए साधनों के तौर पर इंटरनेट ने अपनी जबरदस्त पकड़ बना ली है। इंटरनेट के प्रभाव से देश का कोई क्षेत्र अछूता नहीं है। राजनीतिक दलों के दफ्तरों से लेकर, सरकारी सचिवालय तक और चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र से लेकर प्रौद्योगिकी संस्थानों तक इंटरनेट के बिना काम होना असंभव-सा हो गया है। एक दशक पहले ऐसी स्थिति नहीं थी। देश में इंटरनेट का दायरा बहुत छोटा था, लेकिन जैसे-जैसे देश में प्रौद्योगिकी का प्रसार बढ़ता गया, इंटरनेट का दायरा भी बढ़ता गया। कल तक जो लोग इसका विरोध करते थे, आज वे इसकी ताकत स्वीकार करने लगे हैं। वैकल्पिक मीडिया के बारे में अब लोगों की धारणा बदल रही है।

वैकल्पिक मीडिया के तमाम माध्यम आज लोकप्रिय हो रहे हैं। धीरे-धीरे वैकल्पिक मीडिया का दायरा बढ़ता जा रहा है और एक बहुत बड़े वर्ग द्वारा लगातार उसका उपयोग किया जा रहा है। उपयोग भी ऐसा कि एक-दो घंटे के भीतर ही कोई छोटी-सी घटना बहुत बड़े वर्ग तक पहुंच जाती है। फेसबुक, ब्लॉग, वॉट्सअप, यू-ट्यूब, ई-मेल, ट्विटर और सामुदायिक रेडियो जैसी सोशल साइट्स वैकल्पिक मीडिया के नए विकल्पों के तौर पर सामने आए हैं और बहुत मजबूती के साथ इन्होंने जनता के बीच अपनी पकड़ कामय कर ली है। साल 2011 में दिल्ली के रामलीला मैदान में समाजसेवी अन्ना हजारे द्वारा जब जनलोकपाल विधेयक के गठन के लिए आमरण अनशन शुरू किया था, तो उस आंदोलन को एक बहुत बड़े वर्ग ने फेसबुक और दूसरी सोशल साइट्स के जरिए ही अपना समर्थन दिया था। कन्याकुमारी में रहने वाले व्यक्ति ने यू-ट्यूब के जरिए अन्ना के आंदोलन में हिस्सा लिया और अपनी प्रतिक्रियाओं से दूसरे लोगों को अवगत कराया। आज से दो दशक पहले हम मीडिया के विस्तार के बारे में केवल समाचार-पत्रों, पत्रिकाओं और सरकारी दूरदर्शन चैनल से आगे की बात सोच नहीं पाते थे। देश में कंप्यूटर युग की शुरुआत का भी व्यापक विरोध हुआ था और इसके विरोधियों ने इसे श्रमिकों के लिए अहितकारी बताया था। कहते हैं कि तकनीकी

का विस्तार अगर सूचना- तंत्र के बारे में हो, तो उसे बहुत बड़े वर्ग द्वारा स्वीकार किया जाता है। आज यही हो रहा है। समाचार-पत्र और पत्रिकाओं की भीड़ के बीच देश में आज सैकड़ों खबरिया और मनोरंजन चैनलों का विस्तार हो रहा है, फिर भी देश में एक बहुत बड़ा वर्ग तेजी के साथ ट्विटर, फेसबुक, मीडिया साइट्स और यू-ट्यूब के जरिए अपनी बात को रख रहा है, दूसरों के साथ साझा कर रहा है। अपने विचारों को इस माध्यम से आगे बढ़ाकर अपने ज्ञान में बढोत्तरी भी कर रहा है। देश में दिसंबर 2012 में दिल्ली में एक छात्रा के साथ दुष्कर्म की घटना ने सोशल साइट्स पर इतना बड़ा रूप अख्तियार कर लिया कि सरकार भी हिल गई। फेसबुक पर लाखों लोगों ने उक्त प्रकरण पर अपनी टिप्पणी की और देश के कोने-कोने में विरोध प्रदर्शन होने लगे। सरकार में बैठे विभिन्न मंत्रियों के आचरण पर लाखों लोगों ने कमेंट किए और इस तरह की घटनाओं को रोकने के लिए सुझाव भी सामने रखे। दरअसल आज का युवा वर्ग बहुत बड़े पैमाने पर सोशल साइट्स का इस्तेमाल कर रहा है। वह इन्हीं माध्यमों द्वारा तमाम क्षेत्रों की जानकारी भी हासिल करता है और उसको आगे बढ़ाता है।

दिल्ली से लखनऊ के सफर के दौरान एक बार मुझे उस वक्त बहुत सुखद आश्चर्य हुआ, जब श्रमजीवी एक्सप्रेस के साधारण डिब्बे में दिल्ली से बिहार जाने वाले कामगार अपने मोबाइल फोन पर ट्रेन के बारे में जानकारी ले रहे थे। एक व्यक्ति से मैंने पूछा कि आप मोबाइल से किस तरह का काम लेते हैं, तो उन्होंने मुझे बताया कि मैं अपने घर बातचीत करने के अलावा इस फोन पर एफएम रेडियो सुनता हूं, ज्योतिष की जानकारी लेता हूं, घर जाने के लिए टिकट का पीएनआर नंबर चेक करता हूं और जब मन करता है, तो अपने राज्य की खबरों को भी इस पर पढ़ लेता हूं। क्या इसमें खर्चा नहीं होता? वह बोले कि होता है, पर बहुत कम होता है। मैं जहां काम करता हूं वहां बड़ा रेडियो नहीं ले जा सकता और ना ही रोज अखबार पढ़ सकता हूं। यह बहुत सुखद बात है कि हाथ की मुठ्ठी में समा जाने वाले छोटे से यंत्र ने संचार के साधनों का परिभाषा ही बदल दी है। वैकल्पिक मीडिया के विस्तार में मोबाइल क्रांति का भी बड़ा योगदान है। दरअसल यह तकनीकी के प्रसार के कारण संभव हो सका है, जिसका निरंतर विकास हो रहा है और भविष्य में ज्यादा विकास होगा। सोशल साइट्स के बाद मोबाइल फोन के एप्स लोगों के लिए बहुत कारगर साबित हो रहे हैं। इसके जरिए लोग देश दुनिया की खबरों के बारे में जानकारी तो एकत्र कर ही रहे हैं साथ ही विभिन्न विषयों पर अपनी राय भी दे रहे हैं। देश में होने वाले जनांदोलनों में भी मोबाइल फोन के एप्स का भरपूर इस्तेमाल हो रहा है।

देश में सबसे पुरानी राजनीतिक पार्टी कांग्रेस ने देश की 543 लोकसभा सीटों में से 200 ऐसी सीटों को चिह्नित किया है, जहां सोशल मीडिया खासा का प्रभाव देखा जा रहा है। लिहाजा इन लोकसभा सीटों पर सोशल साइट्स के जरिए प्रचार की रणनीति पर विचार किया जा रहा है। सोशल मीडिया की अहमयित इतनी ज्यादा बढ़ती जा रही है कि आज हर बड़ा राजनेता अपनी बात को ज्यादा से ज्यादा लोगों तक पहुंचाने के लिए उसका सहारा ले रहा है। कांग्रेस ने अपने उन प्रवक्ताओं को नए स्मार्टफोन दिए हैं, जो मीडिया में पार्टी की बात को रखते हैं। इस फोन के द्वारा वे पल भर में किसी भी जानकारी को हासिल कर पत्रकारों के सवालों के जवाब देते हैं। पार्टी ने 'खिड़की' नाम से एक नेटवर्किंग साइट बनाई है। इस साइट पर पार्टी के बारे में सभी जानकारी और सरकार के

कार्यक्रमों की रूपरेखा मौजूद रहेगी, ताकि किसी प्रवक्ता को पत्रकारों से बातचीत करने में कोई दिक्कत पेश न आए। 'खिड़की' के ऐप्लिकेशन को पार्टी के नेता अपने मोबाइल फोन में डाउनलोड कर उसका इस्तेमाल कर रहे हैं। देश की राजनीतिक पार्टियों द्वारा किस तरह सोशल साइट्स का अधिक-से-अधिक इस्तेमाल किया जा रहा है, 'खिड़की' को पेश करने के पीछे इस बात को समझा जा सकता है। भाजपा की तरफ से प्रधानमंत्री पद के उम्मीदवार नरेन्द्र मोदी सोशल मीडिया का जमकर इस्तेमाल करते हैं। देश भर में होने वाली उनकी रैलियों की कवरेज उनके समर्थक वॉट्सअप के माध्यम से दूसरे लोगों तक पहुंचाने का काम कर रहे हैं।

देश के आदिवासी क्षेत्रों में बहुत से स्वयंसेवी संगठनों द्वारा सामुदायिक रेडियो के प्रचलन को बढ़ावा मिला है। छत्तीसगढ़ और झारखंड के दूरदराज के इलाकों में सामुदायिक रेडियो के महत्व को स्वयंसेवी संगठन आदिवासियों को समझा रहे हैं। दिल्ली से सटे आधुनिक शहर गुड़गांव में एक स्वयंसेवी संगठन ने सामुदायिक रेडियो शुरू किया। यह रेडियो स्टेशन बहुत थोड़े से इलाके में सुना जाता है, लेकिन इसके श्रोता एक खास वर्ग के हैं, जिनके बीच यह रेडियो स्टेशन बहुत लोकप्रिय है। इस सामुदायिक रेडियो स्टेशन पर बिहार, उत्तर प्रदेश, पंजाब, दक्षिण भारत और पश्चिम बंगाल के लोगों की पसंद के लोकगीत और कार्यक्रमों का प्रसारण होता है। गुड़गांव जैसे आधुनिक शहर में देश के हर हिस्से के कामगार काम करते हैं, जहां उनके मनोरंजन और उनके इलाकों की जानकारी के लिए कोई साधन नहीं है और अगर है, तो बहुत सीमित है। लिहाजा यह सामुदायिक रेडियो बहुत पसंद किया जाता है। बड़े-बड़े एफएम रेडियो स्टेशनों के बीच मामूली से संसाधनों वाले इस सामुदायिक रेडियो के जरिए लोगों को अपने आस-पास की जानकारियां मिलती हैं। ओडिशा और झारखंड जैसे पिछड़े राज्यों में भी कई सामुदायिक रेडियों स्टेशनों को लोकप्रियता मिल रही है। वैकल्पिक मीडिया के ये नए चेहरे उन लोगों के लिए बहुत फायदेमंद साबित हो रहे हैं, जिनके पास जानकारी एकत्र करने के लिए ज्यादा संसाधन नहीं हैं या वे उन संसाधनों तक पहुंच नहीं पा रहे हैं।

भारत निर्वाचन आयोग ने भी अब इस तथ्य को स्वीकार किया है कि सोशल मीडिया का चुनाव के दौरान प्रचार में बहुत बड़ा योगदान हो रहा है। निर्वाचन आयोग ने नवंबर 2013 में हुए पांच राज्यों के विधानसभा चुनावों में बाकायदा यह मानक तय कर दिया था कि सोशल मीडिया से किया जाने वाला प्रचार भी उम्मीदवारों के चुनावी खर्चे में जोड़ा जाएगा। आयोग ने निर्वाचन में हिस्सा लेने वाले उम्मीदवारों से कहा कि नामांकन के दौरान ही उन्हें अपनी अधिकृत ई-मेल आइडी और सोशल मीडिया की जानकारी भी देनी होगी और सोशल साइट्स पर विज्ञापन देने के लिए आयोग से उसकी मंजूरी लेनी होगी। इस तरह यह बात साफ हो रही है कि सरकार भी इस तथ्य को स्वीकार कर रही है कि सोशल मीडिया की ताकत लगातार बढ़ रही है और लोगों के बीच वह लोकप्रिय भी हो रहा है। दिल्ली विधानसभा चुनावों में हिस्सा लेने वाली आम आदमी पार्टी ने तो सोशल मीडिया के द्वारा अपना व्यापक प्रचार किया, जो देश-विदेश में तो देखा ही गया, साथ ही एसएमएस संदेशों द्वारा मतदाताओं के पास तक पहुंचा। फेसबुक और यू-ट्यूब पर आम आदमी पार्टी की लघु फिल्मों को देखकर विदेशों में रहने वाले भारतीयों का जुड़ाव भी उसके साथ हुआ और उन्होंने भी आम आदमी पार्टी को अपना समर्थन दिया। वैकल्पिक मीडिया के द्वारा एक बड़े वर्ग को अपने साथ जोड़ने की मुहिम देश के कॉरपोरेट घरानों ने भी शुरू कर दी है। वे भी अपनी बात को जनता तक पहुंचाने

के लिए मीडिया के दूसरे साधनों के अतिरिक्त सोशल साइट्स का भी सहारा ले रहे हैं।

सोशल साइट्स के प्रति लोगों की दिलचस्पी दिन-प्रतिदिन कितनी बढ़ रही है इसे 'भारतीय दूरसंचार नियामक प्राधिकरण' के आंकड़ों से समझा जा सकता है, जिसमें कहा गया है कि देश में 84 फीसदी युवा अपने मोबाइल फोन में इंटरनेट का इस्तेमाल कर रहे हैं। भारत दुनिया का सबसे युवा देश है यहां के युवाओं में इंटरनेट के प्रति उत्साह लगातार बढ़ रहा है। यह भविष्य के लिए फायदे का सौदा साबित हो सकता है। सोशल साइट्स के जरिए बहुत बड़ी संख्या में उन लोगों को एक प्लेटफॉर्म मिला है, जिन्हें समाचार-पत्रों, पत्रिकाओं और संचार के दूसरे माध्यमों के जरिए अपनी बात कहने का अधिकार नहीं मिल पाता। आज ऐसी बहुत-सी खबरिया साइट्स हैं, जहां लोग धड़ल्ले से अपनी बात रख रहे हैं और उनके विचारों को बहुत से लोग पसंद भी कर रहे हैं। ऐसा ही एक माध्यम ब्लॉग के तौर पर सामने आया है। आज हर जानकारी वाला ब्लॉग हाजिर है- गांव-देहात की बातें, डॉक्टरी सलाह, कानूनी सलाह, पढ़ाई-लिखाई सीखना, संगीत सीखना, अंग्रेजी बोलना, अपने-आसपास की खबरें लिखना, किसी बारे में सवाल पूछना और घूमने-फिरने के लिए कहां जाना है, इंटरनेट पर हजारों ऐसे ब्लॉग हैं, जिन पर इन विषयों से जुड़ी अच्छी जानकारियां हैं। समाचार-पत्रों में जिन खबरों को जगह नहीं मिल पाती, ब्लॉग के माध्यम से वे खबरें जगह पाती हैं और लोगों में चर्चा का विषय बनती हैं। यह बहुत बड़ी उपलब्धि है कि स्थापित मीडिया के बीच आज बड़ी संख्या में लोग सोशल मीडिया की स्वीकार्यता को मान रहे हैं।

वैकल्पिक मीडिया का सबसे बड़ा फायदा यह देखा जा रहा है कि इसके विचार या प्रकाशित सामग्री तत्काल लक्ष्य तक पहुंच जाती है हालांकि उसकी सत्यता पर कभी-कभी संदेह होता है लेकिन अपने अनुभव से उससे जुड़ा व्यक्ति समझ जाता है कि जानकारी में कितनी सच्चाई है। तत्काल प्रभाव की वजह से सरकार भी कई बार वैकल्पिक मीडिया के बारे में बंदिश लगाने की बात कह चुकी है लेकिन भारत में उसके लिए अभी तक कोई दिशा निर्देश नहीं बनाए गए हैं। वैकल्पिक मीडिया का दायरा जिस तरह से बढ़ रहा है, उसी तरह से उन पर बाजारवाद का प्रभाव भी देखा जा रहा है। परंपरागत मीडिया में ऐसा नहीं है। मोबाइल एसोसिएशन ऑफ इंडिया की एक रिपोर्ट कहती है कि सोशल साइट्स पर मार्च 2014 तक 2938 करोड़ रुपये के विज्ञापन पहुंचने की संभावना है। यह तथ्य इस बात की तरफ इशारा करता है कि सोशल साइट की बढ़ती लोकप्रियता को बाजार भी भुनाने में लगा हुआ है। इंटरनेट पर आज अगर कोई भी साइट्स खोलते हैं तो सबसे पहले वहां विज्ञापन ही नजर आता है। खास बात यह है कि वहां प्रदर्शित होने वाले विज्ञापनों को इंटरनेट प्रेमी उपभोक्ताओं-पाठकों की रुचि के अनुसार तैयार किया जा रहा है। विज्ञापनों के बड़े बाजार ने सोशल साइट्स की बढ़ती उपयोगिता को देखते हुए एक बहुत बड़े बजट को इन पर खर्च करने के लिए तैयार रखा है। यहां यह बात भी दीगर है कि वैकल्पिक मीडिया में लोग अकसर बेहूदी टिप्पणियां भी करते हैं। मर्यादित आचरण से बाहर निकल जाते हैं, हालांकि इसे रोकने में कई व्यावहारिक कठिनाइयां हैं, जिनसे तत्काल निपटना संभव नहीं है। दरअसल इसका एक बड़ा कारण यह भी है कि सोशल साइट पर अभिव्यक्ति को प्रकट करने का निःशुल्क अधिकार है, लिहाजा लोग मर्यादा की सीमा रेखा को लांघ जाते हैं। अब स्थितियों में बदलाव आ रहा है। अगर कहीं कोई गलत सामग्री या विचार है, तो उसे लॉग इन करने वाला स्वयं हटा सकता है।

विकासशील देशों में वैकल्पिक मीडिया की बहुत बड़ी भूमिका होती है, क्योंकि वहां सामाजिक मुद्दों के साथ ही उन मुद्दों पर देश का ध्यान आकर्षित किया जाता है, जिन्हें मुख्यधारा की मीडिया में स्थान नहीं मिलता है। देश में गरीबी, विस्थापन की पीड़ा, महिला उत्पीड़न, मानवाधिकारों का उल्लंघन, हिंसा, स्वास्थ्य, शिक्षा और दलित उत्पीड़न जैसे विषयों पर मुख्यधारा के मीडिया द्वारा बहुत कम ध्यान दिया जाता है, क्योंकि इन मुद्दों से कथित तौर पर टीआरपी हासिल नहीं होती। समाचार-पत्रों में बिकाऊ खबरें प्रकाशित होने लगी हैं और खबरिया चैनलों पर टीआरपी देने वाले विजुअलों को प्राथमिकता मिलती है। बाजारवाद ने खबरों को उत्पादन की तरह बना दिया है। ऐसे में उन लोगों के मुद्दों को कौन अहमियत देगा, जो समाज में हाशिए पर पड़े हैं। यह बहुत सुखद बात है कि वैकल्पिक मीडिया में इसी तरह के मुद्दों को प्रमुखता से उठाया जाता है। आज सामाजिक सरोकारों की लड़ाई को वैकल्पिक मीडिया में लड़ा जा रहा है। वहां बहुत से लोगों के समूह बन चुके हैं, जो विभिन्न विषयों पर बहस करते हैं और उन्हें दूसरों तक पहुंचाने का काम करते हैं। कुछ महानुभाव वैकल्पिक मीडिया को केवल समय की बर्बादी के अतिरिक्त कुछ नहीं बताते हैं लेकिन फिर भी वहां पूरी प्रतिबद्धता के साथ लोग डटे हुए हैं।

बुंदेलखंड में महिलाओं के समूह द्वारा निकाले जाने वाला अखबार 'खबर लहरिया' और बिहार के मुजफ्फरपुर के ग्रामीण इलाके से संचालित होने वाले खबरिया चैनल अप्पन समाचार ने साबित कर दिया कि स्थापित मीडिया बाजार के बीच ऐसी धारा भी अपनी पहचान बना सकती हैं, जो बेहद सीमित साधनों के बल पर तैयार की गई हों। दरअसल यह धारा उस वक्त फूटती है, जब जन समस्याओं की प्रचलित माध्यमों द्वारा उपेक्षा की जाती है। देश में आज क्षेत्रीय और राष्ट्रीय खबरिया चैनलों का व्यापक नेटवर्क काम कर रहा है। समाचार-पत्रों की भी यही स्थिति है कि उसके संवाद सूत्र हर छोटी-बड़ी जगह पर मौजूद हैं। खबरिया चैनलों के स्ट्रिंगर भी पॉकेट में वीडियो कैमरा लेकर हर जगह पर नमूदार हो जाते हैं। इसके बावजूद महिला उत्पीड़न, पर्यावरण प्रदूषण, किसानों की समस्या, खेती के साधनों का अभाव, ग्रामीण स्तर पर संसाधनों का अभाव, कुपोषण, सरकारी योजनाओं का अभाव, पेयजल की किल्लत, राशन की कालाबाजरी, आदिवासियों का शोषण, अव्यवस्थित औद्योगिकरण से पलायन और पटवारी से लेकर थानेदार तक के भ्रष्टाचार की कितनी खबरें उनके द्वारा प्रेषित की जाती हैं? खबरिया चैनलों और समाचार-पत्रों द्वारा अपने स्ट्रिंगरों और संवाद सूत्रों से दो-टूक कह दिया जाता है कि जब जरूरत होगी, हम खबर मंगा लेंगे। आप बिना जरूरत के कोई भी खबर मत भेजना। इस तरह के वातावरण के बाद वैकल्पिक मीडिया की बेहतर और उर्वरा जमीन तैयार होगी, जो हो भी रही है इसलिए आज के परिवेश में सोशल साइट्स की जरूरत अब अहम बनती जा रही है।

हालांकि जो भी तकनीक लाभदायक होती है, उसके कुछ नकारात्मक पहलू भी होते हैं। संचार माध्यम जहां लोगों के लिए सुविधाजनक है, वहीं यह किसी के लिए इतनी असुविधा कर देते हैं कि वे इसे कोसते नजर आते हैं। खासकर महिलाओं के साथ ऐसी घटनाएं हो रही हैं कि उनके जानने वाले लोग ही उनके खिलाफ ऐसी बातें और उनकी ऐसी फोटो सोशल साइट्स पर डाल देते हैं कि उन्हें काफी शर्मिंदगी का सामना करना पड़ता है। हाल ही में मुजफ्फनगर दंगों के दौरान किसी ने पाकिस्तान में घटित एक पुरानी घटना का वीडियो डाल दिया था, जिसमें दो व्यक्तियों की भीड़ पिटाई

कर रही है बताते हैं कि इस वीडियो को देखने के बाद दंगा और ज्यादा भड़क गया हालांकि जानकारों का कहना है कि सोशल मीडिया पर फैलाई जा रही ऐसी अफवाहों पर लगाम लगाने की कोशिशें जारी हैं और जल्दी ही इस ओर सफलता मिलेगी।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि मुख्यधारा के मीडिया में खबरों के लिए घटते स्पेस और अपनी बात रखने के लिए सोशल साइट्स पर मिले मंच ने पाठकों को वैकल्पित मीडिया की ओर उन्मुख किया है। जाहिर है कि आने वाले समय में वैकल्पिक मीडिया एक बहुत बड़ी भूमिका का मंच बनने वाला है।

(लेखक सुपरिचित मीडिया विश्लेषक हैं)

व्याख्यान

हम और हमारे पड़ोसी राष्ट्र

मुचकुंद दुबे

भारतीय विदेश सेवा के अधिकारी एवं पूर्व विदेश सचिव मुचकुंद दुबे अंतरराष्ट्रीय मामलों के प्रमुख विद्वानों में एक हैं। उनके द्वारा महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा के 16वें स्थापना दिवस (29 दिसंबर 2013) के अवसर पर दिए गए महत्वपूर्ण विचारोत्तेजक व्याख्यान को पाठकों के लिए अविकल प्रस्तुत किया जा रहा है :

वर्धा-नगरी का गांधीजी की कर्मभूमि के रूप में प्रत्येक भारतीय के हृदय में अन्यतम स्थान है। यह शहर हमारे स्वतंत्रता-संग्राम के बलिदान एवं उसके अरमानों से जुड़ा है। इसका मैंने अब तक नाम ही सुना था पर आज यहां आकर मुझे जितनी प्रसन्नता हो रही है, उसका मैं अनुमान भी नहीं लगा सकता।

मैं अपने इस व्याख्यान के द्वारा भारत की विदेश नीति के एक अहम पहलू पर प्रकाश डालना चाहता हूं। और वह है- अपने पड़ोसी राष्ट्रों से अपने संबंध किस तरह निभाए जाएं। प्रत्येक राष्ट्र अपनी विदेश नीति के प्रतिपादन एवं संचालन में पड़ोसी देशों के साथ के संबंधों को उच्चतम प्राथमिकता प्रदान करता है। इसका मुख्य कारण यह है कि दुनिया के अन्य राष्ट्र हमें अपने पड़ोसियों की निगाहों से ही देखते हैं। विश्व रंगमंच पर हमारी प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि पड़ोसी राष्ट्रों से अच्छे संबंध निभाने पर निर्भर करती है। पड़ोसियों के साथ प्रतिकूल संबंध विश्व राजनीति में वांछित रोल अदा करने में सबसे बड़ी बाधा साबित हो सकती है। मसलन, मेरी समझ से जब तक पाकिस्तान के साथ के हमारे रिश्तों में तल्खी बनी रहेगी, तब तक कोई भी भारतीय संयुक्त राष्ट्र संघ का महासचिव नहीं हो सकता। इसके अलावा यू.एन. सुरक्षा परिषद का स्थायी सदस्य बनने के मार्ग में भी सबसे बड़ी बाधा है, पाकिस्तान के साथ हमारा प्रतिकूल संबंध।

पड़ोसियों के साथ हमारे संबंधों का प्रत्यक्ष असर हमारी सुरक्षा पर पड़ता है। इसमें सामरिक और गैर-सामरिक, दोनों प्रकार की सुरक्षा शामिल है। चीन और पाकिस्तान से हमारी सुरक्षा को प्रत्यक्ष सामरिक खतरा है, जबकि अन्य सभी पड़ोसी राष्ट्रों से हम गैर-सामरिक खतरे के साए में हैं। इन गैर-सामरिक खतरों में शामिल है : इन देशों के आंतरिक जातीय कलह के भारत तक फैलने की संभावना, वहां से बड़े पैमाने पर अवैध प्रवसन का खतरा और उनके द्वारा भारत में आतंक फैलाने वाले तत्त्वों को पनाह देना। यह कई सूत्रों से प्रमाणित हो चुका है कि पाकिस्तान, नियंत्रण रेखा एवं अंतरराष्ट्रीय सीमा का उल्लंघन कर भारत में दहशत फैलाने के कार्य में आतंकवादियों की मदद कर रहा है। इसके लिए पाकिस्तान की सरकार ने उन्हें अपनी संस्थाएं एवं प्रशिक्षण केंद्र चलाने की

अनुमति दी है। यह पाकिस्तान की जम्मू और कश्मीर में विद्रोह भड़काने एवं भारत की राजनीतिक स्थिति को अस्थिर बनाए रखने की रणनीति का एक अविभाज्य अंग है। बांग्लादेश ने कई सालों से असम संयुक्त मुक्ति मोर्चा एवं अन्य गिरोहों को भारत में दहशत फैलाने के लिए अपने सीमावर्ती इलाकों में प्रश्रय दे रखा है और प्रशिक्षण केंद्र चलाने की इजाजत दी है। इस प्रकार, हमारे इस पड़ोसी राष्ट्र ने भारत के उत्तर- पूर्वी इलाके में अस्थिरता बनाए रखने में मदद की है। बांग्लादेश से भारत की सुरक्षा के लिए दूसरा गैर-सामरिक खतरा है-वहां के नागरिकों का बड़े पैमाने पर भारत में गैर-कानूनी प्रवसन। इससे भारत के सीमावर्ती इलाकों में कानून-व्यवस्था की समस्या जटिल हो गई है और वहां के बाशिंदों का आर्थिक और सामाजिक बोझ गुरुतर हो गया है। बांग्लादेश और श्रीलंका, दोनों पड़ोसियों से भारत ने जातीय हिंसा एवं अल्पसंख्यकों पर हुए जुल्म से त्रस्त शरणार्थियों के प्रवेश की समस्या का सामना किया है। बांग्लादेश से चकमा (बौद्ध) एवं हिंदू शरणार्थी और श्रीलंका से तमिल शरणार्थी भारत में आते रहे हैं।

नेपाल के असहयोग के कारण भारत और नेपाल से होकर बहने वाली किसी भी नदी के पानी के उपयोग के लिए बांध बनाना संभव नहीं हो पाया है। इसके चलते भारत को अपार क्षति हो रही है। नदियों में गाद भर रहा है जिससे भारत के मैदानी इलाकों में आने वाले बाढ़ों की संख्या और तीव्रता में काफी वृद्धि हुई है। इसके चलते जान-माल की अपार क्षति हो रही है। नेपाल के असहयोग के कारण इन नदियों की बेशुमार जलविद्युत क्षमता का शोषण नहीं हो पा रहा है और न ही सूखाग्रस्त गंगा-सिंचित भारतीय भूमि में सिंचाई के लिए इन नदियों के पानी का प्रयोग हो पा रहा है।

पड़ोसी राष्ट्र आर्थिक मामलों में हमारे स्वाभाविक सहयोगी हैं। इसका कारण है भौगोलिक समीपता, सामान्य भाषाएं, धर्म एवं खान-पान की प्रणाली और उपनिवेशकाल से चली आ रही सामान्य संस्थागत एवं भौतिक संरचना। इन साधनों से सेवाओं एवं वस्तुओं के आदान-प्रदान में होने वाले खर्चों में कमी होती है जिससे दक्षिण एशिया के बाहर के देशों की अपेक्षा भारत को तुलनात्मक फायदा होता है। 1977 में श्रीलंका और 1982 में बांग्लादेश द्वारा व्यापारिक उदारीकरण नीति के अपनाने के बाद भारत के लिए इन देशों के बाजारों में ये फायदे बड़े पैमाने पर प्रतिफलित हुए। भारत इन देशों को सर्वाधिक निर्यात करने वाले राष्ट्र के रूप में उभरकर आया है। बांग्लादेश के बाजार में निर्यात करनेवालों में हम अपना पहला स्थान 2005-06 तक बनाए रख पाए। उस साल चीन ने हमें दूसरे स्थान पर ढकेल दिया और अबतक स्थिति यथावत है। श्रीलंका के बाजार में साल 2000 में भारत-श्रीलंका मुक्त बाजार संधि के अमल में आने के बाद भारत ने पहला स्थान बना लिया, जो स्थिति अब तक कायम है।

1982-83 में बांग्लादेश को हमारा निर्यात 43.33 मिलियन डॉलर का था। 2008-09 में यह बढ़कर 3.5 बिलियन डॉलर के बराबर हो गया। ताजातरीन आंकड़ों के मुताबिक यह अंक बढ़कर करीब 4.5 बिलियन डॉलर हो गया है। भारत से बांग्लादेश का गैर-कानूनी यानी तस्करी-आयात उतना ही है जितना कानूनी आयात। अगर हम इन दोनों रकमों को जोड़ दें तो भारत का बांग्लादेश को जाने वाला कुल निर्यात करीब 9 से 10 बिलियन डॉलर का है। यह रकम और भी बड़ी हो जाएगी अगर हम इसमें बांग्लादेश को जानेवाली सेवाओं से होनेवाली आमदनी को जोड़ दें। सेवाओं से आमदनी उन बांग्लादेशियों से होती है जो शिक्षा प्राप्त करने या डॉक्टरी इलाज के लिए भारत आते

हैं। इस श्रेणी में आने वालों की संख्या काफी बड़ी है।

भारत-पाकिस्तान के बीच का व्यापार दशकों से नियंत्रित और सीमित रहा है। पाकिस्तान भारत को एम.एफ.एन. (मोस्ट फेवर्ड नेशन) की सुविधा नहीं देता है। इसका मतलब है, यह देश हमें अन्य देशों की तुलना में समानता से व्यापार करने नहीं देता। हम पाकिस्तान को उन्हीं सामानों का निर्यात कर सकते हैं जो पाकिस्तान द्वारा बनाई गई भारत से आने वाले सामानों की सूची में शामिल हैं। इस प्रतिबद्धता के बावजूद, 2007-08 में पाकिस्तान को भारत का निर्यात करीब 2 बिलियन डॉलर था, जबकि 2001-02 में इस देश को भेजा जाने वाला हमारा निर्यात केवल 144 मिलियन डॉलर था। इससे संकेत मिलता है कि हमारे निर्यात में पिछले कुछ वर्षों से काफी वृद्धि हो रही है। अनुमान लगाया गया है कि सिंगापुर और दुबई से होकर पाकिस्तान को भेजा गया हमारा अवैध निर्यात 1 और 2 बिलियन डॉलर के दरमियान है। यह भी अनुमान लगाया गया है कि यदि पाकिस्तान भारत के साथ एमएफएन के आधार पर व्यापार करना शुरू कर दे तो दोनों देशों के बीच का कुल व्यापार 5 साल के अंदर बढ़कर 10 बिलियन डॉलर एवं 10 साल के अंदर 25 बिलियन डॉलर पहुंच जाएगा।

इन आंकड़ों से पता चलता है कि आर्थिक एवं व्यापारिक दृष्टि से पड़ोसी राष्ट्र हमारे लिए कितने महत्वपूर्ण हैं और उनके साथ के हमारे संबंधों के सामान्य एवं प्रगाढ़ होने से हम और हमारे पड़ोसी राष्ट्रों की प्रगति एवं सुख-समृद्धि में कितनी वृद्धि हो सकती है।

भारत जैसे अनेकवादी समाज के लिए पड़ोसी राष्ट्रों के साथ अच्छा संबंध निभाना और भी आवश्यक हो जाता है। पड़ोसी राष्ट्रों में होने वाली घटनाओं का अपने अनेकवादी समाज को एकबद्ध रखने की हमारी क्षमता पर बहुत बड़ा असर पड़ता है। मसलन, यदि बांग्लादेश या पाकिस्तान में अल्पसंख्यकों के अधिकारों का बड़े पैमाने पर हनन या उनके साथ अत्याचार के कांड हों तो उसके प्रतिक्रियास्वरूप भारत में सांप्रदायिक दंगे भड़क सकते हैं जिससे हमारे अल्पसंख्यकों की सुरक्षा खतरे में पड़ सकती है। इसका उलटा होना भी उतना ही सही है। अगर भारत में अल्पसंख्यकों की जान-माल पर आघात होता है, तो हमारे पड़ोसी राष्ट्रों की अपने अनेकवादी समाज की रक्षा करने की क्षमता कमजोर हो जाएगी। इसके चलते उन देशों के अल्पसंख्यक- बौद्ध, हिंदू, इसाई- तबाह हो जाएंगे।

(क) राष्ट्रीय पहचान का संकट :

पड़ोसी राष्ट्रों से संबंध निभाने में भारत को कुछ विशिष्ट समस्याओं का सामना करना पड़ता है। उनमें सबसे प्रमुख है राष्ट्रीय-पहचान की समस्या। हमारे सभी पड़ोसी राष्ट्र हमारे रूबरू राष्ट्रीय पहचान के संकट का अनुभव करते हैं। वह प्रत्येक वस्तु, गुण या तत्त्व जिसे वे अपना बनाना चाहते हैं या जिसके साथ वे तादात्म्य स्थापित करना चाहते हैं, उन्हें भूतपूर्व भारतीय उपमहादेश से थाती के रूप में मिला है। यह चाहे वह उनका इतिहास हो या उनकी भाषा, उनका धर्म, कला, रहन-सहन, रीति-रिवाज, किंवदंतियां या लोकवार्ता। अपने राष्ट्रीय आत्म-पहचान को अभिव्यक्त करने या दावेदार बनने के लिए वे जिस दिशा में भी मुड़ते हैं वहां वे भारत की लंबी गहरी छाया सतत विद्यमान पाते हैं। इस कारण वे अपने को भारत से भिन्न साबित करने के लिए तरह-तरह के अजीब साधनों एवं उपायों का सहारा लेते हैं। विद्यार्थियों के पाठ्यक्रम में वे इतिहास को विकृत करते हैं, मान्य तथ्यों एवं आंकड़ों को तोड़-मरोड़कर रख देते हैं। भारतीय उपमहादेश के विश्वविख्यात और पहचान-प्राप्त भोजन, पोशाक, संगीत एवं नाट्य शैली को पाकिस्तानी, बांग्लादेशी, नेपाली आदि पुकारना शुरू कर

देते हैं। इसी वजह से भारत से पुस्तक, कैसेट, वीडियो एवं अन्य सांस्कृतिक सामग्रियों के आयात पर भी वे प्रतिबंध लगा देते हैं और भारतीय सांस्कृतिक प्रतिनिधियों या मंडलों को अपने यहां आने से रोक देते हैं। उन्हें भय है कि यदि वे ऐसा प्रतिबंध या नियंत्रण बनाए न रखें तो उनकी राष्ट्रीय आत्म-पहचान बनाने की चेष्टा विफल हो जाएगी। इसके बावजूद इन देशों के लोगों की एक दूसरे के नजदीक आने की इतनी उत्कट अभिलाषा है कि जब कभी राजनीतिक संबंधों में सुधार होता है, सांस्कृतिक आदान-प्रदान की शुरुआत हो जाती है।

राष्ट्रीय आत्म-पहचान के संकट से उत्पन्न होने वाली समस्या का सामना भारत प्रत्येक पड़ोसी राष्ट्र से करता है। परंतु, पाकिस्तान के साथ यह समस्या तीव्रतर रूप धारण कर लेती है। इसका कारण यह है कि इस पड़ोसी के साथ राष्ट्रीय आत्म-पहचान की समस्या के अलावा 'एक-धर्म-एक-राष्ट्र' के सिद्धांत (टू नेशन थ्योरी) की समस्या जुड़ जाती है। पाकिस्तान-निर्माण में अग्रणी मुहम्मद अली जिन्ना एवं अन्य नेताओं ने दलील दी थी कि हिंदू और मुसलमान दो अलग-अलग राष्ट्र हैं जो साथ नहीं रह सकते इसलिए इन दोनों धर्मानुयायियों के लिए दो अलग-अलग राष्ट्रों का निर्माण होना चाहिए। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के गांधी, नेहरू एवं मौलाना आजाद जैसे नेताओं ने इस तर्क को नहीं माना। अंततः, 'एक-धर्म-एक-राष्ट्र' के सिद्धांत के आधार पर पाकिस्तान बना, जबकि नया भारत धर्मनिरपेक्षता के आधार पर गठित हुआ। यदि इतना ही होता तो कोई विपत्ति नहीं होती परंतु, दुर्भाग्यवश पाकिस्तान ने धर्मनिरपेक्ष भारत को अपने 'टू नेशन थ्योरी' पर आधारित अस्तित्व पर सबसे बड़ा, मूलभूत और दायमी खतरा समझा। इसलिए इसके शासक वर्गों ने भारत के साथ अनवरत शत्रुता की नीति अपनाई। इन्होंने न केवल अन्य पड़ोसियों की तरह भारत से एक पृथक पहचान बनाने की चेष्टा की, बल्कि भारत के प्रतिकूल पहचान बनाने में संलग्न हो गए। इन्होंने न केवल भारत उपमहादेशीय इतिहास, संस्कृति आदि को विकृत करना शुरू कर दिया, बल्कि भारत की धर्मनिरपेक्षता के ऊपर खुल्लमखुल्ला प्रहार करना भी शुरू कर दिया। ये भारत को एक हिंदू राष्ट्र एवं भारतीय धर्मनिरपेक्षता को एक ढोंग के रूप में चित्रित करने में लग गए। इसका कारण यह था कि यदि भारत एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र के रूप में खरा उतरा तो पाकिस्तान की 'टू नेशन थ्योरी' की धज्जी उड़ जाती और इसके ऊपर आधारित पाकिस्तानी राज्य वहां की ही जनता की नजर में खोखला दिखने लगता। 1971 में बांग्लादेश के आर्थिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक कारणों से पाकिस्तान से अलग होने के कारण "एक-धर्म-एक-राष्ट्र" के सिद्धांत पर गहरा आघात पहुंचा परंतु, पाकिस्तान इस नीति पर अभी भी अडिग है और इसका परिणाम भारत को अभी भी भोगना पड़ रहा है।

कश्मीर पर पाकिस्तान का दावा इसी 'एक-धर्म-एक-राष्ट्र' के सिद्धांत पर टिका है। पाकिस्तानी हुक्मरानों ने उच्चतम स्तर पर, कश्मीर को भारत-विभाजन का एक अपूर्ण एजेंडा करार दिया है। उनका मानना है कि एक राज्य के रूप में पाकिस्तान तब तक पूर्ण नहीं होगा जब तक मुस्लिम-बहुल कश्मीर इसका एक हिस्सा नहीं बन जाता। पाकिस्तान के इस तर्क का परिणाम भारत के अन्य मुसलमानों के लिए एवं स्वतः पाकिस्तान के लिए भी भयावह हो सकता है।

'एक-धर्म-एक-राष्ट्र' के पाकिस्तानी सिद्धांत का दूसरा दुष्परिणाम है, पाकिस्तानी हुक्मरानों द्वारा भारतीय मुसलमानों की स्थिति को लेकर भारत के अंदरूनी मामलों में हस्तक्षेप करना। जब कभी

पाकिस्तान की निगाह में भारतीय मुसलमानों पर जुल्म होता है या उनके मानवाधिकार का हनन होता है तो पाकिस्तान न केवल द्विपक्षीय स्तर पर भारत सरकार के समक्ष यह मामला उठाता है बल्कि अंतरराष्ट्रीय मंचों पर भी इसे उछालता है। इसके द्वारा यह न केवल अपने लोकमत का तुष्टीकरण करता है, बल्कि भारत की धर्मनिरपेक्षता की नीति का भी उपहास उड़ाता है। पाकिस्तान परवाह नहीं करता कि इसकी इस नीति से भारतीय मुसलमानों के हितों की कितनी क्षति होती है क्योंकि पाकिस्तानी हस्तक्षेप की प्रक्रिया में वे राष्ट्रीय जीवन की मूल धारा से विमुख हो जाते हैं।

दुनिया में बहुत ऐसे राज्य हैं जिन्होंने धर्म के आधार पर अपने को संगठित किया है। लेकिन, इसका मतलब यह नहीं होना चाहिए कि वे अन्य सिद्धांतों के आधार पर संगठित दीगर राष्ट्रों से शत्रुतापूर्ण व्यवहार करें। 'एक-धर्म-एक-राष्ट्र' के सिद्धांत की अनुसरण-प्रक्रिया में पाकिस्तानी शासकों ने जानबूझकर अपने देश में उग्र एवं कट्टर धार्मिक गिरोहों को पाला-पोसा है, समर्थन किया है और भारत के खिलाफ उपद्रव मचाने एवं साजिश रचने में उनका इस्तेमाल किया है। परिणामस्वरूप, इन गिरोहों की शाखा-प्रशाखा एवं प्रभाव पाकिस्तान की सामाजिक एवं राजनैतिक व्यवस्था में व्यापक रूप से फैल गया है। अब तो ये पाकिस्तानी राष्ट्र को ही निगलने पर आमादा हो गये हैं।

(ख) छोटे राष्ट्र एवं बड़े राष्ट्र की स्वाभाविक बर्ताव-प्रणाली :

पड़ोसी राष्ट्रों से संबंध निभाने में भारत जिस एक अन्य अनूठी समस्या का सामना करता है उसे कहा जा सकता है : छोटे-राष्ट्र, बड़े-राष्ट्र की स्वाभाविक बर्ताव-प्रणाली (बिग नेबर, स्मॉल नेबर सिंड्रोम)। यह लक्षण भारत एवं उसके पड़ोसी राष्ट्रों, दोनों पक्षों के नीति-निर्धारण में प्रतिकूल प्रभाव डालता है। इसके कारण, अपने पड़ोसियों से समीप आने के लिए की गई भारत की सभी पहलकदमियों को ये राष्ट्र संदेह की निगाह से देखते हैं। इनमें वे केवल नकारात्मक पक्ष ढूंढ़ते हैं और जानबूझकर उनको तूल देते हैं। अपने देश में प्राकृतिक कारणों से भी जो संकट आता है, उसे वे भारत की साजिश मानते हैं। मसलन, बांग्लादेश में नदी तटवर्ती इलाकों में जो भी आर्थिक या सामाजिक संकट घटता है, उसकी जिम्मेदारी भारत के मत्थे मढ़ी जाती है। कहा जाता है कि फरक्का बैरॉज के पास पानी निकालने से नदियों के पानी में खारापन के बढ़ने के कारण ऐसी स्थिति आई है। बांग्लादेश और भारत की सीमा के आर-पार जो तस्करी होती है, उसे बांग्लादेश के अखबार भारत द्वारा बांग्लादेश की संपत्ति को लूटने का इरादा समझते हैं। बांग्लादेश में बाढ़ के प्रकोप का कारण माना जाता है- भारत द्वारा दोनों देशों के बीच बहने वाली नदियों के ऊपरी भाग में जानबूझकर पानी छोड़ना। नेपाली अखबार अपने देश में मुद्रा-स्फीति को भारतीय मुद्रा-स्फीति का परिणाम समझते हैं अथवा भारत द्वारा अत्यावश्यक सामग्रियों की पूर्ति को रोक देने का परिणाम। दूसरी ओर, इस लक्षण का उलटा परिणाम यह है कि भारत छोटे पड़ोसी राष्ट्रों की परवाह नहीं करता एवं उनकी समस्याओं, अरमानों एवं अपेक्षाओं पर ध्यान नहीं देता। भारतीय विदेश नीति की प्राथमिकताओं में पाकिस्तान के अलावा अन्य पड़ोसी राष्ट्रों को अहमियत नहीं दी जाती। भारत सरकार के कुछ उच्च-स्तरीय नीति-निर्माताओं ने छोटे पड़ोसी राष्ट्रों के साथ भद्र तिरस्कार (बिनाइन नेग्लेक्ट) की नीति अपनाने की सलाह दी है। उन्होंने यह नहीं सोचा कि ये पड़ोसी राष्ट्र ऐसी नीति को अपमानजनक मानेंगे। छोटे राष्ट्रों के साथ के संबंधों में ठहराव या अल्पकालीन विराम का भी परिणाम प्रतिकूल होता है।

पड़ोसी राष्ट्र इस तरह की हमारी नीति में उनके खिलाफ तरह-तरह की साजिश ढूंढ़ने लगते हैं जब संबंध गतिहीन हो जाते हैं तो सालों के परिश्रम से निर्मित सहयोग के तंत्र बिखरने लगते हैं। इसका एक बहुत बुरा परिणाम होता है, इन देशों में भारत-विरोधी शक्तियों का आगे आना और भारत-समर्थक शक्तियों का पीछे हटना।

छोटे-राष्ट्र-बड़े-राष्ट्र के लक्षण के चलते छोटे पड़ोसी राष्ट्र हमारे साथ किसी बड़ी परियोजना में शामिल नहीं होना चाहते हैं। उनको यह भय होता है कि इसके चलते भारत के ऊपर उनकी निर्भरता में वृद्धि होगी और परिणामस्वरूप, उनकी सार्वभौमिकता पर खतरा मंडराने लगेगा। बांग्लादेश का भारत को प्राकृतिक गैस बेचने से झिझकना या अपने भू-भाग से होकर भारत की व्यापार सामग्रियों के लिए पारगमन की सुविधा प्रदान न करने का मुख्य कारण यही भय है। शायद यही कारण है कि विगत 6 दशकों से नेपाल ने दोनों देशों से होकर बहनेवाली नदियों के पानी को प्रयोग में लाने के लिए किसी वृहत् परियोजना के लिए अपनी स्वीकृति नहीं दी है। और यही कारण है कि पाकिस्तान ने भारत से मशीनों आदि अवकरणों के सस्ते आयात पर आधारित प्रतियोगी औद्योगिक ढांचा खड़ा करने के बदले दक्षिण एशिया के बाहर के देशों से अधिक कीमत पर किए गए आयात के आधार पर औद्योगिक विकास किया है जो विश्व प्रतिस्पर्द्धा में खरा नहीं उतर सकता।

भारत के प्रति इन देशों के शासक वर्गों एवं आम जनता के कुछ तबकों में ऐसा भय और आशंका है कि वहां की सरकारें अपने को भारत-समर्थक घोषित करने से झिझकती हैं। 1999 के बांग्लादेश के आम चुनाव में बांग्लादेशी राष्ट्रीय पार्टी द्वारा अपने प्रतिद्वंद्वी अवामी लीग एवं उसके नेता शेख हसीना को भारत-समर्थक के रूप में दर्शाना शेख हसीना की हार का एक मुख्य कारण साबित हुआ। 1990 में नेपाल का प्रमुख राजनैतिक दल, नेपाली कांग्रेस लोकप्रियता की चोटी पर पहुंच गया था, क्योंकि इसने नेपाल में प्रजातांत्रिक प्रणाली के पुनर्स्थापन में प्रमुख रोल अदा किया था परंतु, इसके परवर्ती वर्षों में इसकी लोकप्रियता में काफी ह्रास हुआ। इसका एक कारण था इसकी भारत-समर्थक छवि। यही कारण है कि भारत-समर्थक प्रमुख राजनैतिक दल और व्यक्ति भारत की प्रशंसा अपने घर के ड्रॉइंग रूम में बैठकर करना पसंद करते हैं, आम सभा में या खुलेआम बयानों से नहीं। इसके चलते जब पड़ोसी देशों में हमारे अनुकूल सरकार सत्ता में आती है, उस समय भी हमारे आपस के संबंध वांछित या उच्चतम स्तर छू नहीं पाते।

हम जिस प्रकार से पड़ोसी राष्ट्रों के साथ अपना संबंध निभाते हैं, उसमें भी अनेक खामियां हैं। पड़ोसियों से बर्ताव करने में हम प्रायः पूरी सावधानी नहीं बरतते। उनके प्रतिनिधियों का हम यथोचित सत्कार नहीं करते। उनके साथ सौदा तय करने में हम अल्पकालीन लाभ-हानि पर ज्यादा जोर देते हैं। मध्यवर्ती एवं दीर्घकालीन संभावनाओं की उपेक्षा करते हैं। महाकाली परियोजना पर समझौता करने के दरमियान 1990 में हमने बांध के नीचे उपलब्ध पानी के प्रयोग के लिए नेपाल द्वारा की गई रॉयल्टी की मांग को ठुकरा दिया था, यह कहकर कि अंतरराष्ट्रीय कानून के तहत हमारी ऐसी कोई जवाबदेही नहीं है। ऐसा कर हम कानूनी धरातल पर तो सही खड़े रहे, लेकिन हम यह भूल गए कि यदि हम रॉयल्टी देकर इस परियोजना के लिए नेपाल की सहमति प्राप्त कर लेते तो भारत को पनबिजली, सिंचाई के पानी आदि के रूप में अरबों डॉलर का लाभ होता और वह लाभ सालों-सालों तक मिलता रहता। इसी प्रकार, हम भारतीय बाजार में बांग्लादेश के उनके निर्यातों के

निर्बाध और एकतरफा प्रवेश की मांग को सालों तक ठुकराते रहे, इस भय से कि इससे भारत के कुछ घरेलू उद्योगों पर बुरा असर पड़ेगा। पर हम यह भूल गये कि बांग्लादेश के निर्यात के बढ़ने से उसकी भारत से आयात करने की क्षमता में वृद्धि होगी, क्योंकि बांग्लादेश के बाजार में भारत अन्य देशों से प्रतिस्पर्द्धा में अग्रणी है।

(ग) पड़ोसियों को भारत से खतरे का डर :

एक उभरती विश्व-शक्ति के रूप में, भारत के लिए जरूरी है कि यह अपनी सामरिक क्षमता को बढ़ाए जिससे दक्षिण एशिया के बाहर के देशों से इसकी सुरक्षा पर आंच न आए और यह अपने विश्वव्यापी रणनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति कर पाए। दुर्भाग्यवश, भारत के इस प्रकार के कार्य या पहल से पड़ोसी राष्ट्र अपने ऊपर ही खतरे का एहसास करने लगते हैं। जब हम बड़े पैमाने पर अस्त्र-शस्त्र खरीदते हैं या परमाणु अस्त्रों का परीक्षण करते हैं या अपनी नौसेना का विस्तार करते हैं तो पड़ोसी राष्ट्र इसे अपने ही ऊपर खतरा समझते हैं। इसके चलते वे स्वयं अस्त्र-शस्त्र एकत्र करने में जुट जाते हैं एवं बाहरी शक्तियों के साथ सांठ-गांठ करने लगते हैं। भारत के प्रति इस प्रकार की प्रतिक्रिया में पाकिस्तान अत्यन्त व्यस्त रहा है। दोनों देशों के अत्यधिक शस्त्रीकरण का यह एक मुख्य कारण बन गया है। और इसके चलते ही दक्षिण एशिया में परमाणु अस्त्रों की समस्या खड़ी हुई है।

पड़ोसी राष्ट्र यह समझने की चेष्टा नहीं करते कि दक्षिण एशिया के इतर क्षेत्रों या देशों में भारत को अपने रणनीतिक हितों की रक्षा करनी है और इन देशों से इसकी सुरक्षा खतरे में पड़ सकती है। अपने आर्थिक विकास-दर को उच्च स्तर पर बनाये रखने के लिए हमें बाहर से कच्चे माल एवं ऊर्जा का आयात करना है; अपने व्यापार के लिए हमें समुद्री मार्ग खुले रखने हैं, हमें अपने समुद्र तट की रक्षा करनी है, हमें चीन से आने वाले सुरक्षा-संकट का मुकाबला करना है, हमें द्विपक्षीय, क्षेत्रीय एवं बहुपक्षीय संधि-वार्ताओं में अपनी सौदा करने की ताकत को बढ़ाना है। हमारे पड़ोसियों को समझना चाहिए कि भारत की शक्ति दक्षिण एशिया तक सीमित नहीं रह सकती और अपनी वैश्विक रणनीति के कार्यान्वयन के लिए हम जो कदम उठाते हैं उससे उनकी सुरक्षा को खतरे में डालने का हमारा कोई इरादा नहीं है।

(घ) आंतरिक स्थिति का महत्व :

हमारे देश के अंदर क्या हो रहा है, इसका भी पड़ोसी राष्ट्रों की हमारे प्रति धारणा और रुख पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। यह बात दक्षिण एशिया के बाहर के देशों के लिए भी सही है पर हमारी आंतरिक स्थिति का पड़ोसी राष्ट्रों पर ज्यादा असर होता है। भारत की आजादी के ठीक बाद के कुछ वर्षों में भारत की सरकार स्थिर और सुदृढ़ थी, इसका नेतृत्व प्रभावशाली था और यह मजबूत प्रजातांत्रिक संस्थाओं के निर्माण में सफल हुआ था। भारत ने विकास की अपनी एक अलग रणनीति बनाई थी जिसका अनेक अन्य विकासशील देशों ने अनुसरण किया था। इसकी अंतरराष्ट्रीय महत्ता इसकी आर्थिक एवं सामरिक शक्ति से कहीं ऊंची थी। इन तत्त्वों ने हमारे प्रति पड़ोसी राष्ट्रों के रुख को बहुत प्रभावित किया था। हम उनकी ईर्ष्या और प्रशंसा दोनों के पात्र थे। इसकी अभिव्यक्ति कभी खुलेआम होती थी और कभी चुपके-चुपके निजी वार्तालाप में।

1960 के दशक के मध्यकाल से, जब पाकिस्तान से हमारी लड़ाई हुई, यह परिस्थिति बहुत हद तक बदल गई। अगले दो दशकों में हमारी आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति का ह्रास हुआ और

हमारी प्रजातांत्रिक संस्थाओं का अनवरत पतन। इस अवधि में भारत सामाजिक एवं आर्थिक प्रगति, शासन की गुणवत्ता एवं नैतिक गरिमा के लिहाज से दक्षिण एशिया एवं विश्व के अन्य विकासशील देशों की सामान्य न्यून श्रेणी में आ गया। केवल पड़ोसी राष्ट्रों ने ही नहीं, अपितु दुनिया ने हमें एक ऐसे लड़खड़ाते देश के रूप में देखना शुरू कर दिया जो आजादी के बाद जगाई गई अपेक्षाओं पर खरा उतर नहीं पाया और जो अपने संविधान के सामाजिक अनुबंध का भी पालन नहीं कर पाया। 1975 में आपातकालीन स्थिति की घोषणा के बाद ऐसा लगा कि भारतीय प्रजातंत्र ही तिरोहित होने वाला है। इस बीच अनेक अन्य विकासशील देश हमसे आगे निकल गए। पड़ोसियों में श्रीलंका सामाजिक एवं आर्थिक उपलब्धि के मापदंड पर हमसे कई पायदान ऊपर पहुंच गया। हमारे कई पड़ोसी देशों में भी प्रजातंत्र पुनर्जीवित हुआ, यद्यपि यह अब तक दोषपूर्ण और चार दिन की चांदनी की तरह दिखाई पड़ता है। हमारा प्रजातंत्र अभी भी पड़ोस में सर्वश्रेष्ठ है, पर हम जानते हैं कि यह कितना दूषित हो गया है।

1990 के दशक के प्रारंभ से भारत में केंद्रीय सरकारें कमजोर एवं अस्थिर रही हैं। सरकारी नेताओं ने अपने शासनकाल का अधिक समय अपने राजनीतिक जीवन को बचाने और बढ़ाने में व्यय किया है। पड़ोसी राष्ट्रों के साथ के द्विपाक्षिक मसलों को हल करने एवं उनके संबंधों में दीर्घकालीन सुधार लाने के लिए न तो उनके पास समय था, न साहस और न दूरदर्शिता। एकमात्र अपवाद था 1996 के दिसम्बर में बांग्लादेश के साथ गंगा के पानी के बंटवारे की संधि पर हस्ताक्षर होना। यह तीन कारणों के अपूर्व मेल से संभव हो पाया। पहला, बांग्लादेश में शेख हसीना के नेतृत्व में अवामी लीग सरकार का सत्ता में आना; तत्कालीन विदेश मंत्री इंद्र कुमार गुजराल की चेष्टा, प्रतिबद्धता एवं प्रबुद्ध विचारधारा और ज्योति बसु के नेतृत्व में तत्कालीन पश्चिम बंगाल की सरकार का सक्रिय सहयोग।

1992 में बाबरी मस्जिद के ध्वस्त होने और तत्पश्चात सांप्रदायिक शक्तियों के उत्थान के बाद, एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र के रूप में भारत की छवि बहुत धूमिल हो गई है। तबसे पड़ोसी राष्ट्रों के साथ के कई मसलों को सांप्रदायिक चश्मे से देखा जा रहा है। उदाहरणस्वरूप, भारतीय जनता पार्टी का यह विचार कि बांग्लादेश से गैरकानूनी ढंग से भारत में आने वाले हिंदू, शरणार्थी हैं और मुसलमान गैरकानूनी आप्रवासी। पाकिस्तान के साथ वार्ता शुरू करने या उनके साथ के द्विपक्षीय समस्याओं के समाधान के बारे में भी इस राजनीतिक दल ने कट्टर और अनुचित रवैया अपनाया है। धर्मनिरपेक्षता, हमारी विदेश नीति का, खासकर पड़ोसियों के प्रति, एक अमूल्य रत्न (यूएसपी) है। इसे खोना एक बहुत बड़ी क्षति होगी।

(ङ) पड़ोसी देशों से अन्य समस्याएं :

पहला, भारत से खतरे के एहसास के कारण पड़ोसी राष्ट्र, भारत के साथ के द्विपक्षीय मसलों को बहुपक्षीय बनाने की चेष्टा करते हैं। गंगा के पानी के बंटवारे के लिए की गई संधि-वार्ता में बांग्लादेश ने हमेशा नेपाल को शामिल करना चाहा, बावजूद इसके कि इसके चलते समस्या के समाधान में और भी विलंब हो जाता और यह अत्यंत कठिन समस्या और भी जटिल हो जाती।

दूसरा, हमारे पड़ोसी राष्ट्र हमारे साथ के द्विपक्षीय मामलों में एवं दक्षिण एशियाई पारस्परिक सहयोग प्रक्रिया में बाहर की शक्तियों को लाने में उतावले रहते हैं। ये शक्तियां हैं- प्रमुख

विकासशील देश, जैसे अमेरिका, जापान, जर्मनी एवं अंतरराष्ट्रीय संस्थाएं, विशेषकर विश्व बैंक और एशियन विकास बैंक। ये इन्हें या तो मध्यस्थ या सलाहकार के रूप में लाना चाहते हैं।

भारत ने अब तक पड़ोसी देशों के इन प्रयासों को सफल होने नहीं दिया है, क्योंकि इन देशों या संस्थाओं के मध्यस्थ या सलाहकार के रोल को निष्पक्ष रूप में अदा करने की बहुत कम संभावना है। बाहर की बड़ी शक्तियों का दक्षिण एशिया में अपना-अपना स्वार्थ निहित है। और अंतरराष्ट्रीय संस्थाएं अमूमन बड़ी शक्तियों के इशारे से काम करती हैं। इसके अलावा, इन बड़े देशों एवं अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं के परामर्शों के भारत के हितों के खिलाफ होने की अधिक संभावना है। इसका कारण है छोटे एवं कमजोर राष्ट्रों से सहज सहानुभूति। इसके अतिरिक्त भारत की स्वायत्त विदेश नीति के चलते बड़े राष्ट्र इससे खार खाए रहते हैं। फिर भी, हमें समझना चाहिए कि पड़ोसी राष्ट्र हमारा प्रस्ताव, सुझाव या तर्क आसानी से नहीं मान लेंगे। तीसरे पक्ष से इनके पुष्टिकरण की इनकी सहज प्रवृत्ति होगी। इसलिए विशेष परिस्थितियों में बाहर की शक्तियों या संस्थाओं से सलाह लेने के उनके सुझाव को मान लेना चाहिए पर हम उनकी मध्यस्थता स्वीकार नहीं कर सकते, अगर हम इसके लिए कानूनन बाध्य न हों।

तीसरा, हमारे पड़ोसी देशों में हमारे खिलाफ गुट बनाने की प्रवृत्ति है, ताकि हमसे वे ऐसे लाभ उठा सकें जो द्विपक्षीय आधार पर संभव नहीं है। बांग्लादेश के राष्ट्रपति जियाउर रहमान ने साल 1980 में दक्षिण एशिया क्षेत्रीय सहयोग संस्था (सार्क) बनाने के लिए जो पहल की थी, उसके पीछे बहुत हद तक यही मकसद था। हमारे पड़ोसी राष्ट्रों का यह विश्वास है कि 'सार्क' मंच द्वारा वे भारत पर संयुक्त दबाव डालकर, बिना मूल्य चुकाए, रियायत हासिल कर सकते हैं। इन्होंने 'सार्क' संस्था का इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कई बार इस्तेमाल किया है। भारतीय प्रतिनिधियों की जागरूकता के कारण इन्हें इस प्रयास में बहुत सीमित सफलता मिल सकी है, यद्यपि भारत ने इनके इस चाल की वजह से कई बार 'सार्क' मंच में संकट की स्थिति का सामना किया है।

चौथा और आखिरी, हमारे पड़ोसी देशों ने सरकारी प्रचार मशीनरी एवं मीडिया के द्वारा भारत को एक प्रभुता-आकांक्षी (हेगीमोन) देश के रूप में चित्रित करने का प्रयास किया है। इसमें इनके शैक्षिक एवं बौद्धिक समुदाय के एक बड़े तबके ने साथ दिया है। इस कार्य में ये पाश्चात्य देशों एवं चीन के विद्वानों एवं चिंतक मंडलियों से प्रेरणा लेते रहे हैं। चीन ने तो सरकारी स्तर पर भी कई बार भारत को एक प्रभुता-आकांक्षी राष्ट्र की संज्ञा दी है। लेकिन, भारत का इस रूप में चित्रण तथ्य पर आधारित नहीं है। यह मिथ्या, भ्रामक एवं अन्य स्वार्थों की सिद्धि के हेतु है।

पड़ोसी एवं पाश्चात्य देशों के पत्रकारों एवं विद्वानों के लेखों में इस अभियोग की पुष्टि के लिए जो दृष्टांत दिए गए हैं, उनमें शामिल हैं : 1989-90 में नेपाल के खिलाफ नाकेबंदी; 1987-90 में श्रीलंका में भारतीय शांति सेना को तैनात करना; और 1988 में मालदीव में नौसेना भेजकर लुटेरों को भगाना।

इन तीनों परिस्थितियों में भारत की कार्यवाहियां सही, आवश्यक और अंतरराष्ट्रीय कानून के मुताबिक थीं। भारत ने 1989-90 में भारत-नेपाल सीमा पर कोई नाकेबंदी नहीं लगाई थी। उस समय भारत-नेपाल व्यापार यथावत चलता रहा। भारत से नेपाल को भेजी जानेवाली अत्यावश्यक सामग्रियों की पूर्ति में कोई कोताही नहीं की गई। भारत ने नेपाल की कुछ कार्यवाहियों पर नाराजगी दिखाने

के लिए कुछ सीमा-चौकियों को बन्द कर दिया था, जबकि अधिकांश बड़ी-बड़ी और चालू चौकियां खुली रहीं। श्रीलंका में भारतीय शांति सेना श्रीलंका के तत्कालीन राष्ट्रपति के अनुरोध पर एवं एक द्विपक्षीय संधि के तहत भेजी गई थी। यह जोखिम भरा कदम भारत ने श्रीलंका की एकता एवं अक्षुण्णता को बनाए रखने के लिए उठाया था। मालदीव में भी भारतीय नौसेना के जहाज मालदीव के राष्ट्रपति के अनुरोध पर भेजे गए थे। यह काम समुद्री लुटेरों को भगाने के लिए किया गया था, किसी लोकप्रिय जन-आंदोलन को कुचलने के लिए नहीं।

नीति-निर्देश :

(क) मनोवैज्ञानिक तत्वों के प्रति संवेदनशीलता :

अब तक के विश्लेषण से जाहिर है कि पड़ोसी देशों से संबंध निभाने में हम विशेष प्रकार की समस्याओं का सामना करते हैं। इसके समाधान के उपाय भी विशिष्ट और अलग प्रकार के होने चाहिए। पड़ोसियों के साथ संबंध बढ़ाने में हमें विशेष सावधानी बरतनी चाहिए और कुछ मूलभूत चीजों पर विशेष ध्यान देना चाहिए। पहला यह कि पड़ोसियों से सम्पर्क में मनोवैज्ञानिक तत्त्वों का वस्तुगत तत्त्वों से ज्यादा महत्व है। इसलिए यह अत्यंत आवश्यक है कि हम पड़ोसियों की धारणाओं एवं भावनाओं के प्रति अत्यंत संवेदनशील रहें। हमें उनसे हर तरह से समानता से बर्ताव करना चाहिए और उनको सम्मान देना चाहिए। उनके प्रस्तावों पर विचार करने के लिए और उनकी प्रतिक्रियाओं को समझने के लिए हमें हमेशा अपने को उनके स्थान पर रखकर सोचना चाहिए। हमें कभी भी उनका तिरस्कार नहीं करना चाहिए और न तो उन्हें तिरस्कृत अनुभव करने का मौका देना चाहिए। स्पष्टतः, उनके साथ के बर्ताव में 'भद्र तिरस्कार' का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि हमारा तिरस्कार कितना भी भद्र क्यों न हो, उसे वे अपना अपमान समझेंगे।

हिंदुस्तान से रूबरू होने में, पड़ोसी देश अपनी राष्ट्रीय-पहचान एवं सार्वभौमिकता के प्रति विशेष सजग हो जाते हैं। जब कभी उन्हें मौका मिलता है, वे अपने को अलग दिखाने का प्रयास करते हैं एवं अपनी सार्वभौमिकता की दुहाई देते हैं। हमें इनकी इन भावनाओं के प्रदर्शन पर रोष जाहिर नहीं करना चाहिए। यह समझना चाहिए कि यह स्वाभाविक है और इसके भीतर भारत के प्रति कोई शत्रुता भाव छिपा नहीं है। हमें कभी भी कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए या कोई ऐसी बात नहीं बोलनी चाहिए जिससे इनकी इन भावनाओं पर ठेस पहुंचे। हमें अपने पड़ोसियों के साथ की सामान्यताओं पर उनके समक्ष न तो अधिक जोर देना चाहिए और न बढ़ा-चढ़ाकर कहना चाहिए।

निस्संदेह, उनकी सार्वभौमिकता का सम्मान करने का यह मतलब नहीं कि उनके साथ संबंध निभाने में हम अपने हितों की रक्षा न करें। पर हमें अपने हितों की परिभाषा ठीक और प्रबुद्ध रूप में करना चाहिए। इसमें कोई संदेह नहीं कि हमने कुछ कार्य अल्पकालीन आवेश में आकर या घरेलू राजनीतिक लाभ उठाने के लिए किए हैं, जिससे हमारे पड़ोसी क्षुब्ध हुए हैं।

मसलन, 1987 में श्रीलंका की तमिल आबादी वाले इलाकों में हमने हवाई जहाज से खाद्यान्न गिराने का जो काम किया, उसे टाला जा सकता था। श्रीलंका की सरकार एवं वहां की जनता ने इसे अपने देश की सार्वभौमिकता पर प्रत्यक्ष प्रहार समझा। यह घटना दशकों से श्रीलंकाइयों में भारत के प्रति रोष का कारण बनी हुई है।

(ख) संलाप में विराम न हो :

पड़ोसी राष्ट्रों से हमारा द्विपक्षीय संलाप हर स्तर पर नियमित रूप से चलते रहना चाहिए। किसी भी हालत में पारस्परिक संलाप के रूकने या संलापों के बीच बड़े अंतराल के लिए हमें जिम्मेवार नहीं होना चाहिए। दो-दो बार सार्क शिखर सम्मेलन भारत के आग्रह पर स्थगित हुआ है जिससे सार्क के अन्य सदस्य राष्ट्रों ने बड़ी नाराजगी और क्षोभ प्रकट किया है। द्विपक्षीय स्तर पर भारत-पाकिस्तान संयुक्त संलाप (इंडिया-पाकिस्तान कम्पोजिट डायलॉग) भारत की जिद के कारण निलंबित रहा है। 9 नवम्बर, 2008 में पाकिस्तानी खुफिया एजेंसी की सहायता से, वहां के आतंकियों द्वारा मुंबई में हुई हिंसा की वारदात के बाद यह संलाप प्रायः निष्क्रिय रहा है। वारदात के कारण क्षुब्ध लोकमत के तुष्टीकरण के लिए संलाप को कुछ दिन तक स्थगित रखने की राजनीतिक बाध्यता थी। लेकिन, उनको तब से इतने सालों तक रोके रखना दोनों देशों में से किसी के हित में नहीं है। निष्क्रिय रहने के लाख बहाने होते हैं। किंतु, साहसिक और दूरदर्शी नेता हमेशा सक्रिय प्रयास का अवसर ढूंढ़ते हैं।

पूर्व प्रधानमंत्री, नरसिंह राव ने अपने पूरे पांच साल के दरमियान बांग्लादेश की सरकारी यात्रा नहीं की। इसका उन्होंने निजी तौर पर जो कारण बताया वह कुछ ऐसा था : यदि वे जाएंगे तो बांग्लादेशी फरक्का के पास गंगा नदी के पानी के बंटवारे का मामला उठाएंगे। चूंकि इस समस्या का उनके पास कोई समाधान नहीं है, इसलिए वे यात्रा के दौरान परेशानी में पड़ जाएंगे। इसलिए, यात्रा को स्थगित रखना ही वांछित होगा।' नरसिंह राव का यह तर्क बड़ा ही कमजोर और लचर था। अपने पड़ोसियों के साथ तो हमेशा ही कठिन और कभी-कभी असाध्य प्रतीत होने वाली समस्याओं पर भी संघर्ष करना पड़ता है। इसका मतलब यह नहीं है कि हम उनके साथ शिखर-स्तर पर कोई संपर्क ही न रखें। अमूमन, जिन मसलों का निम्न स्तर की बातचीत से हल नहीं होता, उनका हल ढूंढ़ने के लिए उन्हें शिखर-स्तर पर उठाया जाता है। अगर हल नहीं भी हो तो शिखर वार्ता से अविश्वास और गलतफहमी दूर होती है और भविष्य में समस्या समाधान का मार्ग प्रशस्त होता है। शिखर-स्तर वार्ता से इनकार करना एक धृष्ट आचरण माना जाता है।

पड़ोसी देशों के साथ के संबंध अनिश्चित काल के लिए निष्प्राण अवस्था में नहीं रखे जा सकते। अगर इनमें बीच-बीच में ऊर्जा और नए जीवन का संचार नहीं किया जाय तो इनमें द्रुत गति से ह्रास होने की संभावना होती है। दीर्घकालीन परिप्रेक्ष्य में पड़ोसियों के साथ के संबंधों में लंबी गतिहीनता एवं उनके साथ के संलाप में बार-बार विराम भारत के हित में नहीं है। विवादास्पद मसलों पर उच्च स्तर पर विचार-विमर्श नहीं चलते रहने से पड़ोसी राष्ट्र हमारे इरादों पर संदेह करने लगते हैं और इनके बारे में तरह-तरह की कल्पना करना शुरू कर देते हैं। उन्हें भय होने लगता है कि भारत कहीं उनके खिलाफ साजिश तो नहीं कर रहा है। इस डर से कभी-कभी वे ऐसा कदम उठाते हैं जो दोनों देशों के हित में नहीं है और जिससे विवादास्पद मामले और भी जटिल हो जाते हैं। पड़ोसियों से तनाव बने रहने एवं उनके साथ सक्रिय संपर्क की अनुपस्थिति में उनके लोग हमसे विमुख हो जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में संलाप के पुनरारंभ के बाद पूर्व स्थिति में पहुंचने में बहुत समय लग सकता है।

भारत को पड़ोसियों के साथ के संबंधों को हमेशा दीर्घकालीन परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए। इसमें

गतिरोध आने से या इनके अचानक बिगड़ जाने से हतोत्साहित नहीं होना चाहिए। पड़ोसियों के साथ के संबंधों पर बीच-बीच में सदमा पहुंचना और उनका प्रतिकूल होना अवश्यंभावी है। आवश्यकता है वर्तमान के तुमुल कोलाहल में मूलभूत उद्देश्यों को न भूलना। और ये उद्देश्य हैं- सतत विश्वास पुनर्स्थापित करना और इसे बनाए रखना, संदेह दूर करना और सहयोग के नए आयाम ढूंढ़ना।

(ग) द्विपक्षीय समस्याओं के समाधान को स्थगित नहीं रखना चाहिए :

भारत की विदेश-नीति के कर्णधारों में जो एक दुखद प्रवृत्ति पाई जाती है, वह है पड़ोसियों के साथ द्विपक्षीय समस्याओं का समाधान ढूंढ़ने के बदले उन्हें धीमी आंच पर उबलते छोड़ देना। उपमहादेश का वृहत्तम राष्ट्र होने के कारण अल्पकाल में यथास्थिति भारत के पक्ष में जाती है। इसके चलते भारत के नीति-निर्माता समस्याओं के शीघ्रतम समाधान के लिए कोई उत्साह नहीं दिखाते। और जब ये समस्याएं भीषण रूप धारण कर लेती हैं तो उनपर कोई पैबंद लगा देने या कोई अल्पकालिक समाधान ढूंढ़ने की चेष्टा करते हैं या किसी प्रकार इनका प्रबंधन करते हैं। अनुभव यह बताता है कि यदि किसी द्विपक्षीय समस्या के समाधान को लंबे अरसे तक स्थगित रखा जाता है तो कालांतर में वह पहले से अधिक पेचीदा हो जाता है। इसके अलावा, द्विपक्षीय समस्याओं के बने रहने से दोनों राष्ट्रों को अमूमन भारी कीमत चुकानी पड़ती है। जटिल समस्याओं को बनाए रखने का आत्मसंतोष, नेतृत्व की अदूरदर्शिता और जोखिम उठाने में साहस और सूझ के अभाव का परिचायक है। यह आत्मसंतोष अवांछित है और आगे चलकर घोर विवाद का कारण बन सकता है। इसलिए हमारे लिए यह लाजिम है कि पड़ोसी देश के साथ द्विपक्षीय समस्याओं के समाधान का मौका सतत तलाशते रहें और जब कोई मौका सामने आए तो उसको किसी भी हालत में न गंवाएं। ऐसा हमने फरक्का के पास गंगा नदी के पानी के बंटवारे के मामले को सुलझाने के लिए किया। इसके चलते भारत और बांग्लादेश के बीच चले आ रहे तनाव के एक मुख्य कारण को रास्ते से हटाने में सफलता मिली।

पड़ोसी राष्ट्रों की प्रवृत्ति रही है, द्विपक्षीय समस्याओं के समाधान की जवाबदेही भारत पर डालना। निस्संदेह बड़ा पड़ोसी होने की हैसियत से समस्याओं के समाधान के लिए भारत को पहल करनी चाहिए और इसके लिए होने वाली संधि-वार्ता में एक हद तक उदारता भी दिखानी चाहिए। किंतु, यह व्यवहार पूर्णतया एकतरफा नहीं हो सकता है। अधिकांश मामलों में, पड़ोसियों द्वारा भारत की बाध्यताओं एवं अनिवार्यताओं की उपेक्षा करने से और अपने रुख में आवश्यक परिवर्तन नहीं करने से समस्या का कभी भी समाधान नहीं हो सकता।

(घ) दीर्घकालीन लाभ के लिए अल्पकालीन त्याग :

पड़ोसियों से संबंध-निर्वाह में भारत को दीर्घकालीन लाभ के लिए अल्प या मध्यकालीन त्याग करना चाहिए। पड़ोसी राष्ट्रों में समृद्धि और स्थिरता बहाल करने के लिए भारत को सजग एवं योजनाबद्ध रूप में काम करना चाहिए, और इसके लिए आवश्यक पूंजी निवेश करना चाहिए। इस संबंध में स्वतंत्र विचारकों और विशेषज्ञों ने बीच-बीच में बहुमूल्य सुझाव दिए हैं। उनमें से एक रहा है भारतीय बाजार में न्यूनतम विकसित एवं छोटे पड़ोसी देशों के निर्यात को एकतरफा शुल्क एवं कोटा-मुक्त कर देना। भूटान और नेपाल को यह सुविधा पहले से ही प्राप्त है। श्रीलंका के साथ भी

हम साल 2000 में मुक्त व्यापार संधि कर चुके हैं। अतः जब हम एकतरफा छूट की बात करते हैं तो केवल बांग्लादेश के निर्यात की बात करते हैं। पाकिस्तान तो हमें एमएफएन सुविधा भी नहीं दे रहा है। इसलिए भारतीय बाजार में उसे एकतरफा मुक्त व्यापार की सुविधा देने का प्रश्न ही नहीं उठता। मगर यदि पाकिस्तान भारत को एमएफएन सुविधा देता है तो हम उसके साथ भी मुक्त व्यापार संधि करने के लिए वार्तालाप कर सकते हैं। और उस प्रक्रिया में हम उसे कुछ समय के लिए एकतरफा सुविधा भी दे सकते हैं। इसकी आर्थिक न्यायसंगतता है और आने वाले सालों में दोनों देशों को इससे दूरगामी आर्थिक लाभ मिल सकता है। साथ-ही-साथ इसका सकारात्मक राजनीतिक परिणाम भी हो सकता है।

एक दूसरा सुझाव है, सार्क देशों का एक वृहत विकास-कोष बनाना। इसके लिए कम-से-कम 5 बिलियन डॉलर का पूंजी-निवेश आवश्यक है। इस कोष से सार्क के न्यूनतम विकसित राष्ट्रों, जैसे बांग्लादेश, नेपाल और भूटान की मानव-सम्पदा एवं भौतिक संरचना के विकास के लिए पूंजी निवेश किया जाएगा। अगर सार्क के अंतर्गत ऐसे कोष का निर्माण नहीं भी हो, तो भारत द्विपक्षीय स्तर पर ऐसे कोष की स्थापना कर सकता है। नेपाल और बांग्लादेश के लिए ऐसी धनराशि उपलब्ध कराना भारत के लिए बहुत ही फायदेमंद होगा।

उदाहरणस्वरूप, अगर बांग्लादेश ने भारत को अपने भू-भाग से होकर पारगमन की सुविधा दी तो भारत को इससे अपार लाभ होगा। सबसे बड़ा लाभ होगा देश के उत्तर-पूर्वी क्षेत्रों को भारतीय मूलधारा में शामिल करने का अवसर मिलना। परंतु यह लाभ हम तब तक नहीं उठा सकते जब तक बांग्लादेश की भौतिक संरचना को चार-पांच गुना उन्नत नहीं किया जाए। और इसके लिए बड़े पैमाने पर पूंजी निवेश करना होगा- कम-से-कम 10 बिलियन डॉलर। यह कोई बहुत बड़ी रकम नहीं है। अपने देश में भौतिक संरचना के विकास के लिए सरकार ने अपने पांच वर्षों में खर्च के लिए 150 बिलियन डॉलर का अनुमान लगाया है। क्या हम इसमें से बांग्लादेश की संरचना में विकास के लिए 10 बिलियन डॉलर खर्च नहीं कर सकते, जबकि पारगमन की सुविधा प्राप्त करने के बाद उनकी संरचना हमारी संरचना के तुल्य हो जाएगी।

अगर सार्क के मुल्कों के बीच का व्यापार मुक्त हुआ तो न्यूनतम विकसित सदस्य निर्यात-पूर्ति के अभाव में इससे समान लाभ नहीं उठा पाएंगे। वे ऐसा तभी कर पाएंगे जब उनके निर्यात-उत्पादन की क्षमता में वृद्धि हो। इसके लिए पूंजी लगाने की आवश्यकता है।

इसी वजह से 1996 में सार्क के एक प्रख्यात व्यक्ति समूह ने न्यूनतम विकसित राष्ट्रों के लिए एक विकास कोष के निर्माण की सिफारिश की थी। यदि यह कोष बन पाता, तो इसमें 70-75 प्रतिशत लागत भारत को करना पड़ता, क्योंकि ऐसे कोषों में योगदान आर्थिक क्षमता के आधार पर होता है। दुर्भाग्यवश न तो सार्क देशों के बीच सही मायने में मुक्त बाजार बन पाया है और न ही ऐसे कोष का निर्माण हो सका है।

(ङ) गैर-पारस्परिकता (नन-रेसिप्रॉसिटी) का महत्व :

कम-से-कम अल्प और मध्यकाल में, भारत को अपने पड़ोसियों से सौदा करने या संबंध निभाने में पारस्परिकता की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए। यह पूर्व विदेश मंत्री इंद्र कुमार गुजराल के नाम से प्रख्यात गुजराल-सिद्धांत का महत्वपूर्ण तत्त्व था। अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी, जिसमें विश्व व्यापार संस्था

(डब्ल्यूटीओ) भी शामिल है, न्यूनतम विकसित देशों के निर्यात के लिए शुल्क एवं कोटा-मुक्त प्रवेश प्रदान करना स्वीकार कर लिया गया है। हम यह जिक्र कर चुके हैं कि किस प्रकार बांग्लादेश की निर्यात-क्षमता की वृद्धि से इस देश को भेजे जाने वाले हमारे निर्यात में वृद्धि होगी। बांग्लादेश के साथ एकतरफा मुक्त व्यापार के बारे में बीस साल से अधिक समय से चर्चा हो रही थी। अंततः, साल 2011 में भारत ने बांग्लादेश से आने वाले कपड़ों को प्रतिबन्धित तालिका (निगेटिव लिस्ट) से हटाकर एक प्रकार की एकतरफा मुक्त बाजार की सुविधा प्रदान कर दी।

अपने पड़ोसियों के साथ के सांस्कृतिक संबंधों में भी भारत को गैर-पारस्परिकता की नीति अपनानी चाहिए। राष्ट्रीय-पहचान को बनाने और बचाने एवं अपनी सांस्कृतिक सामग्रियों के आयात से संरक्षण के लिए हमारे पड़ोसी राष्ट्र भारत के साथ सांस्कृतिक आदान-प्रदान को या तो बंद या न्यूनतम स्तर पर रखना पसंद करते हैं। खासकर, वह नहीं चाहते कि भारत से इन देशों में फिल्म, रेकार्ड, वीडियो आदि का आयात हो या वहां से सांस्कृतिक जत्थे उनके देशों में आएं। इसकी प्रतिक्रिया में कई बार हमारे विदेश-नीति संचालकों ने उन देशों की सांस्कृतिक सामग्रियों के आयात और उनके संगीत एवं नाट्य दलों के भारत में आने पर प्रतिबंध लगा दिया है। यह अदूरदर्शिता और हानिकारक नीति है। इससे उन देशों के सांस्कृतिक समाज में जो धर्मनिरपेक्ष और प्रजातांत्रिक कलाकार या उनके समूह हैं उनकी स्थिति कमजोर और दयनीय हो जाती है। और उन देशों के सांस्कृतिक क्षेत्र में धार्मिक कट्टरपंथियों, अंधविश्वासियों एवं भ्रमजाल फैलाने वालों का वर्चस्व बढ़ जाता है। इससे इन देशों का भारत के साथ सांस्कृतिक अलगाव बढ़ जाता है जिसके राजनीतिक दुष्परिणाम भी होते हैं। इन देशों के सांस्कृतिक जगत में अनेक धर्मनिरपेक्ष, मानवतावादी और प्रगतिशील हस्तियां और दल हैं जो अपनी प्रतिभा के विकास और प्रेरणा के लिए भारत की ओर देखते हैं। इसलिए, पड़ोसी राष्ट्रों की नीति को दरकिनार कर, ऐसे लोगों का भारत में आगमन और कला-प्रदर्शन निर्बाध गति से चलते रहना चाहिए।

(च) जन-साधारण के बीच संपर्क :

हरेक परिस्थिति में भारत को अपने पड़ोसी राष्ट्रों के साथ जन-साधारण स्तर पर संपर्क बनाए रखना चाहिए। द्विपक्षीय राजनीतिक संबंधों के चढ़ाव-उतार का इन संपर्कों पर असर नहीं पड़ना चाहिए। भारत तुलनात्मक दृष्टि से एक खुला समाज है। इसलिए हमें पड़ोसी राष्ट्रों से आने वाले लोगों एवं विचारों से डरने की आवश्यकता नहीं है। बल्कि जन-साधारण के स्तर पर संपर्क बनाए रखने से हमें इन देशों के समाज को एक अनेकवादी, धर्मनिरपेक्ष एवं प्रगतिशील दिशा की ओर प्रेरित करने का मौका मिलता रहेगा।

भारत और पड़ोसी देशों के बीच, लोगों और विचारों के और कभी-कभी सामग्रियों एवं सेवाओं की भी, दोतरफा अबाध प्रवाह में एक बहुत बड़ी बाधा रही है- हमारी और पड़ोसी देशों, दोनों की सुरक्षा-चिंता। प्रतिकूल द्विपक्षीय संबंधों के संदर्भ में यह कुछ हद तक स्वाभाविक है। पर क्या हम अपने पड़ोसी राष्ट्रों से आनेवाले सुरक्षा खतरों को बढ़ा-चढ़ाकर तो नहीं देख या सोच रहे हैं? ये खतरे ऐसे नहीं हैं कि इनके नाम पर लोगों और विचारों के आदान-प्रदान एवं आवागमन पर इतने कठोर और व्यापक प्रतिबंधों को लगाया जाए। इससे तो केवल जनसाधारण के बीच की खाइयां पटने के बदले और भी चौड़ी होती जा रही हैं।

(छ) मूल हितों की सिद्धि :

अपने पड़ोसियों से पारस्परिकता की अपेक्षा किए बिना उनको एकतरफा रियायत देना एक सीमा तक ही संभव है। पड़ोसियों से संबंध-निर्वाह में भारत को भी अपने हितों की रक्षा करनी है। प्रजातांत्रिक ढंग से चुनी गई सरकार के लिए यह जरूरी है कि वह द्विपाक्षिक संबंधों के बारे में जनता की अदालत में हिसाब दे और उन लॉबियों को संतुष्ट रखें जिनको पड़ोसी राष्ट्रों को रियायत देने से नुकसान हो सकता है। भारत दीर्घकालीन परिप्रेक्ष्य में रियायतों की पारस्परिकता से समझौता कर सकता है, पर यह हितों की पारस्परिकता त्याग नहीं सकता। इसके ऊपर ध्यान दिये बिना कोई भी द्विपाक्षिक संबंध टिकाऊ नहीं हो सकता। मसलन, भारत अपने पड़ोसियों, खासकर जो न्यूनतम विकसित हैं, को एकतरफा मुक्त बाजार की सुविधा दे सकता है; परंतु इन पड़ोसी देशों को भी स्वीकार करना होगा कि वे शीघ्र ही, उदाहरणस्वरूप 5 साल बाद, पारस्परिक व्यापार उदारीकरण की प्रक्रिया में शामिल होंगे और अंततोगत्वा भारत के लिए भी अपना बाजार मुक्त कर देंगे, जिससे कि मुक्त बाजार संधि एक समय-सीमा के अन्दर लागू हो सके। उसी प्रकार, भारत बांग्लादेश के नागरिकों के अवैध प्रवसन को कभी भी स्वीकार नहीं कर सकता और न बांग्लादेशी राजनयिकों एवं अन्य संभ्रांत वर्ग के लोगों के इस तर्क को, कि भारत में प्रवसन बांग्लादेशियों का मौलिक अधिकार है। भारत यह भी स्वीकार नहीं कर सकता कि पड़ोसी राष्ट्र किसी को अपने सीमावर्ती क्षेत्रों का प्रयोग भारत के खिलाफ विनाशकारी कार्यवाही के लिए करने दें या भारत पर आक्रमण करने वाले आततायियों को प्रश्रय दें। ये कुछ लक्ष्मणरेखाएं हैं जिसे भारत अपने पड़ोसी देशों को पार करने नहीं देगा।

(ज) वैश्विक रणनीति के निर्माण में प्रवासी राष्ट्रों के हितों का ध्यान रखना :

हम कह चुके हैं कि हमारे पड़ोसी राष्ट्र हमारी वैश्विक रणनीति के कार्यान्वयन के लिए किए गये हमारे कार्यों या उपायों को अपने ऊपर खतरा समझते हैं और इसकी प्रतिक्रिया में ऐसे कदम उठाते हैं जो क्षेत्रीय सुरक्षा की स्थिति को अस्थिर और खतरनाक बना देते हैं। इससे हमारे द्विपक्षीय संबंधों पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। भारत को चाहिए कि अपनी वैश्विक रणनीतियों के बारे में यथासंभव अपने पड़ोसी देशों का विश्वास प्राप्त करे। इसलिए इन नीतियों में निहित इरादों को पड़ोसी राष्ट्रों के समक्ष स्पष्ट करने के लिए इसे पहल करनी चाहिए। खासकर यह स्पष्ट करना चाहिए कि इन नीतियों को अपनाने के पीछे पड़ोसी राष्ट्रों के हितों को क्षति पहुंचाने, खासकर उनकी सुरक्षा को संकट में डालने का उसका कोई इरादा नहीं है। उसके लिए हम एक नियमित परामर्श-प्रणाली स्थापित कर सकते हैं। लेकिन, हम केवल पड़ोसी राष्ट्रों की गलतफहमी को दूर करने के लिए अपने कद को छोटा नहीं कर सकते और न दक्षिण एशिया के बाहर के देशों से आने वाले सुरक्षा-खतरों को नजरअंदाज कर सकते हैं।

(झ) भारत-समर्थक और भारत-विरोधी विभाजन :

भारत में बहुत तबकों को पड़ोसी देशों के राजनीतिक दलों या व्यक्तियों को भारत-समर्थक या भारत-विरोधी की संज्ञा देने की आदत है। जैसे बांग्लादेश में मुक्तियुद्ध के समर्थकों को भारत-समर्थक और इसके विरोधियों को भारत-विरोधी माना जाता है। उसी आधार पर अवामी लीग को भारत-समर्थक और बीएनपी को भारत-विरोधी कहते हैं। उसी प्रकार नेपाली कांग्रेस को भारत-समर्थक माना जाता है और राजतंत्र से जुड़े राजनीतिक दलों को भारत-विरोधी समझा जाता है।

ऐसा विभाजन कृत्रिम, भ्रामक और ऐतिहासिक एवं तथ्यगत दृष्टिकोण से गलत है। किसी भी व्यक्ति या दल के विचारों, रूखों एवं चिंतन या कार्य-प्रणाली में कालांतर में आमूल परिवर्तन हो सकते हैं। इसलिए कल के भारत-विरोधी आज प्रबल रूप में भारत-समर्थक हो सकते हैं। और इसका उलटा होना भी इतना ही सत्य है। इसके अलावा, प्रत्येक राजनीतिक दल में भारत-समर्थक और भारत-विरोधी दोनों तत्त्व हैं। जिन्हें हम भारत-विरोधी राजनीतिक दल समझते हैं वे भी सत्ता में आने पर भारत से संबंध बढ़ाना चाहते हैं। इसका कारण है, सभी पड़ोसी देशों के लिए भारत का पड़ोस में सबसे महत्वपूर्ण राष्ट्र होना। करीब-करीब सभी पड़ोसी देशों की विदेश-नीति की सफलता का एक बहुत बड़ा मापदंड है- भारत के साथ के संबंधों को बढ़ाना या कम-से-कम उन्हें सही रास्ते पर रखना। इसलिए यदि भारत उनका तिरस्कार न करे और घरेलू ताकतों, खासकर फौज की, प्रतिकूल प्रतिक्रिया न हो, तो हर सत्तारूढ़ राजनीतिक दल भारत के साथ अच्छा संबंध बनाये रखने की चेष्टा करता है। इसलिए, भारत का भी यह कर्तव्य है कि किसी भी राजनीतिक दल या सरकार को भारत-विरोधी समझकर तिरस्कार करने के बदले उससे सतत सम्पर्क बनाये रखे और सतत संलाप के माध्यम से द्विपक्षीय समस्याओं का हल ढूंढ़ने की चेष्टा करे।

पड़ोसियों से संबंध बनाए रखने में भारत को इस मान्यता से चलना चाहिए कि पड़ोसी देश के विदेश-नीति निर्माण से संबद्ध प्रत्येक व्यक्ति और राजनीतिक दल सर्वप्रथम राष्ट्रवादी होगा। उसका उद्देश्य अपने राष्ट्रीय हितों की सिद्धि करने का होगा। ये हित भारत के हितों के प्रतिकूल भी हो सकते हैं। उदाहरणस्वरूप, बांग्लादेश में आम सहमति है कि भारत को फरक्का बैरेज कभी नहीं बनाना चाहिए था। पाकिस्तान में आम सहमति है कि कश्मीर को पाकिस्तान का हिस्सा होना चाहिए था। नेपाल में बहुत लोग वहां की बड़ी नदियों पर विशाल बांध बनाने के खिलाफ हैं किंतु, भारत के लिए ऐसी परियोजनाओं का बड़ा महत्व है। इन देशों में बहुत लोग जो ऐसा सोचते हैं, भारत-विरोधी नहीं हैं; वे केवल अपने राष्ट्र के हितों के समर्थक हैं। इन लोगों को भारत-विरोधी समझना निष्प्रयोजन और हानिकारक है। ऐसा करने का अंतिम परिणाम होगा- सारे विश्व को ही भारत-विरोधी करार दे देना। यह तो भारतीय कूटनीति का स्वतः प्रदत्त पक्षघात होगा।

महावीर प्रसाद द्विवेदी का 'सम्पत्ति शास्त्र'

रविभूषण

अलक्षित के अंतर्गत इस बार महावीर प्रसाद द्विवेदी के 150वें साल में उनकी पुस्तक 'संपत्ति शास्त्र' की चर्चा की जा रही है। हिंदी की साहित्यिक दुनिया में इस पुस्तक की चर्चा कहीं भी पढ़ने को नहीं मिलती। साहित्य से इतर अर्थशास्त्र केंद्रित इस अभिनव और अलक्षित पुस्तक पर प्रकाश डाल रहे हैं प्रख्यात आलोचक रविभूषण :

अंग्रेजों के आगमन के पहले भारत विश्व में कई अर्थों में एक महान शक्ति था। व्यापार करने के लिए अंग्रेज, डच, फ्रेंच, पुर्तगीज भारत में यों ही नहीं आए थे। पॉल कैनेडी ने अपनी पुस्तक 'महान शक्तियों का उत्थान और पतन' में 1750 ई. में विश्व उत्पादन में भारत के 24.5 प्रतिशत की बात कही है। यह प्लासी की लड़ाई से 27 वर्ष पहले की बात है। डेढ़ सौ वर्ष में 1900 ई. तक विश्व उत्पादन में भारत का प्रतिशत घटकर 1.7 रह गया। 1900 ई. से 1910 ई. तक भारतीय अर्थव्यवस्था को लेकर अंग्रेजी सहित अनेक भारतीय भाषाओं में कई पुस्तकें लिखीं गईं। इस एक दशक में अर्थशास्त्र और भारतीय अर्थव्यवस्था को लेकर लिखी गई पुस्तकों की अगर एक सूची तैयार की जाए, तो इसकी संख्या पहले लिखी गई पुस्तकों से कम नहीं होगी। रमेशचंद्र दत्त जैसे अर्थशास्त्री के अलावा भारतीय भाषाओं में अर्थशास्त्र और भारत की आर्थिक दशा को लेकर उन लोगों ने भी पुस्तकें लिखीं, जिन्होंने अर्थशास्त्र में विधिवत् शिक्षा प्राप्त नहीं की थीं। आधुनिक अर्थशास्त्र के जनक एडम स्मिथ की पुस्तक 'दि वेल्थी ऑफ नेशंस' का प्रकाशन 1776 ई. में हुआ था। 1904 ई. में एडविन कैनन ने इस पुस्तक का संपादन कर इसे पुनः प्रकाशित किया। उसके पहले दादाभाई नौरोजी के समय से अर्थशास्त्रीय चिंतन भारत में आरंभ हो चुका था, यह ध्यान देने की बात है कि जिस समय (1750 ई. से 1900 ई. तक) भारत का विश्व, उत्पादन में 24.5 से घटकर 1.7 प्रतिशत हुआ, उसी दौर में योरोप का प्रतिशत 23.2 प्रतिशत से बढ़कर 62 हो गया। आज विश्व व्यापार में भारत का प्रतिशत एक भी नहीं है। आज हिंदी के कवि-लेखक, संपादक साहित्य चर्चा में अधिक मशगूल हैं। देश की आर्थिक स्थिति को लेकर उनमें वैसी चिंता और छटपटाहट देखने को नहीं मिलती, जैसी महावीर प्रसाद द्विवेदी में थी।

महावीर प्रसाद द्विवेदी (06 मई 1864-21 दिसंबर 1938) की डेढ़ सौवीं वर्षगांठ पर भी उनकी पुस्तक 'सम्पत्ति शास्त्र' पर विचार नहीं किया जा रहा है। इस पुस्तक के प्रकाशन (1908 ई.) के लगभग सत्तर वर्ष बाद (1977 ई.) पहली बार रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण' में इसकी व्यापक चर्चा की। पुस्तक का आरंभ उन्होंने सम्पत्ति शास्त्र

की भूमिका से किया, हिंदी साहित्येतिहासकारों और आलोचकों की दृष्टि इससे पहले इस पुस्तक पर नहीं गई थी। द्विवेदीजी की सत्तरवीं वर्षगांठ पर 'द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ' प्रकाशित हुआ था। ग्रंथ के संपादक नंददुलारे वाजपेयी ने द्विवेदीजी की महती भूमिका और उनके विशिष्ट योगदान पर विचार किया, पर 'सम्पत्ति शास्त्र' को मौलिक ग्रंथ नहीं माना। आचार्य रामचंद्र शुक्ल और नंददुलारे वाजपेयी ने द्विवेदीजी के निबंधों पर ही विचार किया। द्विवेदीजी की देन को मुक्तकंठ से प्रेमचंद ने स्वीकारा था। उनके जीवन को प्रेमचंद ने 'साहित्य, साधना और तप का जीवन' कहा, उनमें 'क्रांति लाने की विलक्षणता' देखी। 1933 ई. में 'हंस' का द्विवेदीजी पर विशेषांक निकला। प्रेमचंद ने संपादकीय में लिखा- 'ऐसा कोई विषय नहीं, जिस पर द्विवेदीजी ने न लिखा हो, गहरे से गहरे तात्विक विवेचन और साधारण से साधारण दंत कथाएं तक आपको उनमें मिलेंगी और आप उस व्यक्ति के ज्ञान-विस्तार पर चकित हो जाएंगे।' साहित्य को 'ज्ञान-राशि का कोष' द्विवेदीजी ने कहा है। उन्होंने केवल कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, जीवनी, निबंधादि को महत्व न देकर साहित्य का क्षेत्र व्यापक किया। वे इतिहास, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, आधुनिक विज्ञान सभी क्षेत्रों में गए। रामविलास शर्मा ने लिखा है- 'इस तरह की तैयारी उनसे पहले किसी संपादक या साहित्यकार ने न की थी। परिणाम यह हुआ कि हिंदी प्रदेश में नवीन सामाजिक चेतना के प्रसार के लिए वह सबसे उपयुक्त व्यक्ति सिद्ध हुए।' आज जैसी वैश्विक अर्थव्यवस्था है और बाजार की जो सर्वग्रासी भूमिका है, उसमें सामाजिक चेतना का दिनानुदिन ह्रास होता जा रहा है। इस सामाजिक चेतना को जीवित रखने और उसके विकास-हेतु हमें जो कार्य करने चाहिए, क्या वे कार्य सचमुच हम कर रहे हैं?

मेरी जानकारी में अब तक 'सम्पत्ति शास्त्र' को सामने लाने और उस पर विचार करने का श्रेय केवल रामविलास शर्मा और मैनेजर पांडेय को है। भारत यायावर ने 1995 में द्विवेदी रचनावली का संपादन पंद्रह खंडों में किया था। पहली बार 1908 ई. के बाद 'सम्पत्ति शास्त्र' पुस्तक रूप में जब प्रकाशित हुई थी, इसकी भूमिका मैनेजर पांडेय ने लिखी थी। यह पुस्तक राजा राममोहन राय लाइब्रेरी में थोक खरीद के लिए प्रकाशित की गई थी; एक प्रति भी उपलब्ध नहीं रही। भारत यायावर द्वारा संपादित पत्रिका 'विपक्ष' में भी मैनेजर पांडेय की भूमिका प्रकाशित हुई थी। मैनेजर पांडेय ने इस पुस्तक की जीवन-कथा को 'रोचक और रहस्यमय' कहा है। द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ के संपादकों ने 'सम्पत्ति शास्त्र' को अनुवाद घोषित किया था। अब यह पुस्तक सुलभ है। 2009 ई. में इसका प्रकाशन दिल्ली के यश पब्लिकेशंस ने किया, जिसकी 'प्रस्तावना' मैनेजर पांडेय की है। 'सम्पत्ति शास्त्र' आज भी 'अत्यंत उपेक्षित और अनपढ़ी पुस्तक' है। द्विवेदीजी सात भाषाओं- हिंदी, उर्दू, संस्कृत, मराठी, गुजराती, बांग्ला और अंग्रेजी के ज्ञाता थे। 1905 में उन्होंने स्टुअर्ट मिल की पुस्तक 'लिबर्टी' का 'स्वाधीनता' शीर्षक से अनुवाद किया था। विनय कुमार सरकार की पुस्तक 'दि पोजेटिव बैकग्राउंड ऑफ हिंदू सोश्योलॉजी' की उन्होंने समीक्षा की थी। अर्थशास्त्र पर उनका पहला लेख फरवरी 1907 की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ था। जनवरी और अप्रैल 1907 की आरा नागरी प्रचारिणी सभा की पत्रिका में 'अर्थशास्त्र' नामक उनके कई छोटे-छोटे पाठ प्रकाशित हुए थे। इंडियन प्रेस, प्रयाग से इसी वर्ष (1907) गणेशदत्त पाठक की एक छोटी पुस्तक 'अर्थशास्त्र प्रवेशिका' प्रकाशित हुई थी। 'सम्पत्ति शास्त्र' के लेखन में द्विवेदीजी को सर्वाधिक सहायता माधवराव सप्रे से प्राप्त हुई थी। माधवराव सप्रे ने 'सम्पत्ति शास्त्र' के प्रकाशन के कई वर्ष पहले अर्थशास्त्र-संबंधी एक पुस्तक

लिखी थी, पर पूर्णतः संतुष्ट न होने के कारण उन्होंने पुस्तक प्रकाशित नहीं कराई और द्विवेदीजी को अपनी हस्तलिखित पुस्तक भेज दी। 'सम्पत्ति शास्त्र' की भूमिका में द्विवेदीजी ने अर्थशास्त्र-संबंधी लेखन में सर्वप्रथम माधवराव सप्रे के प्रयत्न की चर्चा की और यह लिखा कि सप्रेजी की हस्तलिखित पुस्तक से उन्होंने 'बहुत लाभ' उठाया। अजमेर से प्रकाशित 'राजस्थान समाचार' में द्विवेदीजी ने अर्थशास्त्र विषयक एक पुस्तक का विज्ञापन देखा था, पर इस पुस्तक के संबंध में उन्हें कोई जानकारी नहीं थी।

द्विवेदीजी ने पूरी तैयारी के साथ 'सम्पत्ति शास्त्र' की रचना की। अर्थशास्त्र-लेखन की ओर वे क्यों मुड़े पुस्तक की भूमिका की पहली पंक्ति है- 'हिंदुस्तान सम्पत्तिहीन देश है' भारत पहले से सम्पत्ति हीन नहीं था। उन्होंने सम्पत्तिहीनता के कारणों पर विचार किया और अपने देशवासियों को बताया। उनकी चिंता यह थी कि देश की दुर्दशा, जन दुर्दशा और विपन्नता देखकर अनेक लोगों के मन में इससे संबंधित प्रश्न उत्पन्न नहीं होते हैं। दुःख-दर्द का 'यथार्थ कारण' जानने के लिए उन्होंने 'सम्पत्तिशास्त्री य ज्ञान' आवश्यक माना। यह लिखा- 'सम्पत्ति शास्त्र के सिद्धांतों के प्रचार की यहां बहुत जरूरत है।... जिन देशों या जिन जातियों ने अपनी आर्थिक बातों का विचार नहीं किया- अपने देश के कला-कौशल और उद्योग-धंधे की उन्नति के उपाय नहीं सोचे- उनकी दुर्दशा हुए बिना नहीं रही।' अर्थशास्त्रा के अध्ययन को वे आवश्यक मानते थे। 'इंग्लैंड में छोटे-छोटे बच्चों तक को भी सम्पत्ति शास्त्र के मोटे-मोटे सिद्धांत सिखलाए जाते हैं।' 'सम्पत्ति शास्त्र' का महत्व अकादमिक दृष्टि से नहीं है। अर्थशास्त्र के संबंध 'शासन, राजकीय व्यवस्था और व्यापार' से है- 'यह वह शास्त्र है जो राज्य-शासन, सार्वजनिक उद्योग-धंधा और व्यापार के तत्वों से लबालब भरा हुआ है।' जहां तक 'सम्पत्ति शास्त्र के सिद्धांतों की बात है, वे 'देश-स्थिति, समाज-स्थिति, राज्य-प्रणाली आदि का विचार करके...प्रयोग में लाए जाते हैं।' 'कठिन' और 'नीरस' होने के बाद भी यह शास्त्र द्विवेदीजी की दृष्टि में 'बड़े महत्व का' था। द्विवेदीजी भारत की आर्थिक अवस्था से दुःखी और चिंतित थे। उन्हें अपने देश की सर्वाधिक चिंता थी। 'भारत दुर्भिक्ष' (1897) और 'त्राहि! नाथ। त्राहि।' कविताओं में उनकी यह चिंता देखी जा सकती है। जहां तक पुस्तक के नामकरण का प्रश्न है, द्विवेदीजी ने 'सम्पत्ति शास्त्र' का नाम सोच-समझकर रखा। 'सम्पत्ति शास्त्र को अंग्रेजी में 'पोलिटिकल इकोनॉमी' कहते हैं। इस देश में किसी-किसी ने इसका नाम अर्थशास्त्र रखा है परंतु यह नाम इस शास्त्र का ठीक वाचक नहीं जान पड़ता। क्योंकि 'अर्थ' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं।' साधारण आदमियों की समझ को ध्यान में रखकर द्विवेदीजी ने अपनी पुस्तक का नाम 'सम्पत्ति शास्त्र' रखा क्योंकि 'केवल हिंदी जाननेवालों के मन में 'सम्पत्ति' या 'धन' शब्दों के सुनने से तत्काल जो भाव उदित हो सकता है, वह 'अर्थ' शब्द' के सुनने से नहीं हो सकता।' 'सम्पत्ति शास्त्र' के अलावा 'धन विज्ञान' और 'सम्पत्ति विज्ञान' नाम भी द्विवेदीजी ने बताए हैं। यह विषय महत्वपूर्ण है और द्विवेदीजी ने यह दुःख प्रकट किया कि ऐसे विषय पर हमारे यहां 'एक सतर' भी नहीं लिखी गई। मैनेजर पांडेय ने द्विवेदीजी के कथन का पुस्तक की 'प्रस्तावना' में खंडन कर 'अर्थशास्त्रीय चिंतन की भारतीय परंपरा' का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र बीसवीं सदी के आरंभ में प्रकाशित हुआ था। इस ओर द्विवेदीजी का ध्यान न जाना स्वाभाविक है। द्विवेदीजी ने साहित्यिक कृतियों का अध्ययन व्यापक दृष्टि से, जिसमें एक दृष्टि अर्थशास्त्रीय भी है नहीं किया था। वे संस्कृत

में हुए अर्थशास्त्रीय चिंतन से अपरिचित थे, पर पुस्तक-रचना के क्रम में उन्होंने अंग्रेजी और भारतीय भाषाओं में लिखित अर्थशास्त्र की अनेक पुस्तकों का गंभीर अध्ययन किया था। बड़ी मेहनत और तैयारी से उन्होंने 'सम्पत्ति शास्त्री' की रचना की। वे यह जानते थे कि इस गंभीर विषय पर लेखन सबके वश की बात नहीं है। 'जिन्होंने इस शास्त्र का अच्छी तरह अंग्रेजी में अध्ययन किया है और जिन्होंने देश की सम्पत्ति अवस्था पर अच्छी तरह विचार भी किया है, वही इस काम के योग्य समझे जा सकते हैं।' अपने को उन्होंने इन गुणों से हीन कहा है। यह उनकी विनम्रता थी। उनकी चिंता यह थी कि 'योग्य जन' अपने कर्तव्य का पालन नहीं कर रहे हैं। उनका यह दुःख था कि 'उच्च शिक्षा प्राप्त सज्जन हिंदी को अनादर की दृष्टि से' देखते हैं। उन्होंने यह पुस्तक अपनी प्यारी हिंदी को कुछ लाभ पहुंचाने की आशा से लिखी।

'संपत्ति शास्त्र' की 'भूमिका' में द्विवेदी ने सत्रह पुस्तकों का नामोल्लेख किया है, जिनका उन्होंने अध्ययन किया और पुस्तक लिखने में सहायता ली। इन सत्रह पुस्तकों में से अंग्रेजी की नौ, (जान स्टुअर्ट मिल की 'प्रिंसिपल ऑफ पोलिटिकल इकोनॉमी', ए. मार्शल की 'प्रिंसिपल ऑफ इकनामिक्स', एफ.ए.वाकर की 'पोलिटिकल इकोनॉमी', एम.जी.फासेट की 'पोलिटिकल इकोनॉमी फॉर बिगिनर्स', गवर्नमेंट ऑफ इंडिया की 'लैंड रेविन्यू पॉलिसी ऑफ गवर्नमेंट', जी.बारलो की 'इंडस्ट्रियल इंडिया', आर.सी.दत्त की 'इकनॉमिक हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इंडिया' और 'इंडिया इन दि विक्टोरिया एज', महादेव गोविंद रानाडे की 'इसेज ऑन इंडियन इकनॉमिक्स') बांग्ला की दो, (श्री गिरींद्र कुमार सेन की 'धन विज्ञान' और 'वाणिज्य') उर्दू की दो (शेख मुहम्मद इकबाल की 'इल्मुटलइक्तसाद' और मौलवी मुहम्मद जकाउल्ला की 'कीमियाय-दौलत') मराठी की दो (विट्ठल लक्ष्मटल कवठेकर की 'अर्थशास्त्र' और गणेश जनार्दन आगा की 'अर्थशास्त्राचों मूलतत्वों') और गुजराती की दो (मदनभाई लल्लू भाई की 'अर्थशास्त्रनी बातों' और मुंसिफ अंबालाल साकर लाल देसाई की' 'अर्थशास्त्र') पुस्तकें थीं। इसके अतिरिक्त पत्र-पत्रिकाओं और समाचार पत्रों में प्रकाशित अर्थशास्त्र संबंधी सामग्रियों से भी उन्होंने सहायता ली। सरकारी रिपोर्टों से सामग्री एकत्र की। द्विवेदीजी ने पुस्तक के पहले परिच्छेद में 1848 ई. के आसपास पंडित धर्मनारायण द्वारा अर्थशास्त्र की एक अंग्रेजी पुस्तक के उर्दू अनुवाद की चर्चा की है, जो 'देहली कॉलेज से संबंध रखने वाली एक विज्ञानवर्द्धिनी सभा के लिए' किया गया था। यह पुस्तक प्रकाशित भी हुई थी। द्विवेदीजी ने पंडित धर्मनारायण द्वारा सर सैयद अहमद खां की प्रेरणा से जान स्टुअर्ट मिल आदि की पुस्तकों के आधार उर्दू में एक और पुस्तक लिखने का जिक्र किया है। इसी प्रकार उन्होंने राव साहब विश्वनाथ नारायण मंडलीक और पंडित कृष्णशास्त्री चिपलूणकर द्वारा दो एक अंग्रेजी पुस्तकों के मराठी अनुवाद का भी उल्लेख किया है जिससे यह पता चलता है कि भारतीय भाषाओं में अर्थशास्त्र संबंधी लेखन व अनुवाद कर्म की उन्हें अधिक जानकारी थी। भारतीय भाषाओं में अर्थशास्त्र की अंग्रेजी पुस्तकों के अनुवाद अधिक हुए। स्वतंत्र पुस्तकें कम लिखी गई। 'सम्पत्ति शास्त्र' अर्थशास्त्र की एक स्वतंत्र पुस्तक है।

'सम्पत्ति शास्त्र' प्रचलित और मान्य अर्थों में अर्थशास्त्र की पुस्तक नहीं है, पर अर्थशास्त्र का उसमें सुस्पष्ट-सुसंगत ढ़ंग से विवेचन है। यह अन्य विषयों से अर्थशास्त्र को जोड़कर लिखी गई पुस्तक है। इस पुस्तक की रचना 'देश हित-चिंतक के कर्तव्य' रूप में की गई है। द्विवेदीजी 'सम्पत्ति शास्त्र' को एक 'व्यापक शास्त्र' और 'मिश्र शास्त्र' के रूप में देखते हैं 'क्योंकि उसकी विवेचना में

कई शास्त्रों के सिद्धांतों की मदद दरकार होती है।' उनके अनुसार इस शास्त्र को रसायन शास्त्र (कौन सी जमीन किस जिंस के लिए अच्छी है) की मदद की भी जरूरत होती है। उन्होंने अर्थशास्त्र का संबंध जनसंख्या, शिक्षा आदि से जोड़ा। इस पुस्तक का अध्ययन अर्थशास्त्र के बने-बनाए ढांचे से नहीं किया जा सकता। अर्थशास्त्र के ज्ञाता, प्रोफेसर आज अर्थशास्त्र को जिन रूपों में देखते हैं, द्विवेदीजी का नजरिया उनसे भिन्न है। गिरीश मिश्र जैसे 'अर्थशास्त्री' अगर 'सम्पत्ति शास्त्र' को अर्थशास्त्र की सामान्य पुस्तक भी नहीं मानते और द्विवेदीजी के साथ रामविलास शर्मा के अर्थशास्त्रीय चिंतन पर सवाल खड़े करते हैं, तो यह उनकी भिन्न अर्थशास्त्रीय समझ के कारण है। देश की आर्थिक दशा समझने और सुधारने के लिए द्विवेदीजी ने इस पुस्तक का प्रणयन किया था। द्विवेदीजी ने पुस्तक में सर्वत्र सामान्य लोगों की समझ में आने वाली बातें कहीं हैं और विषय का समझने के लिए वैसे उदाहरण भी दिए हैं। अर्थशास्त्र के छात्रों के लिए यह पुस्तक भले उपयोगी न हो, पर सामान्य जनों के लिए इसका आज भी महत्व है।

'सम्पत्ति शास्त्र' पुस्तक दो भागों- पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में विभाजित है। पूर्वार्द्ध में सात और उत्तरार्द्ध में पांच भाग हैं। पूर्वार्द्ध के सात भाग हैं- विषय प्रवेश, सम्पत्ति की उत्पत्ति अथवा धनागम, सम्पत्ति की वृद्धि, सम्पत्ति का वितरण, सम्पत्ति का उपभोग और देशों की आर्थिक अवस्था की तुलना। उत्तरार्द्ध के पांच भाग हैं- व्यावसायिक बातें, साख, बैंकिंग और बीमा, व्यापार, कर और देशांतर गमन। प्रत्येक भाग के कई उपभाग हैं जिनमें व्यापक रूप से विचार किया गया है। 'सम्पत्ति शास्त्र' अर्थशास्त्र के दायरे में सीमित नहीं है। द्विवेदीजी अर्थशास्त्र को व्यावहारिक समस्या से जोड़कर देखते थे। अर्थशास्त्र के व्यापक सिद्धांतों से उन्हें मतलब नहीं था। 'सम्पत्ति शास्त्र' में बहुधा व्यापक सिद्धांतों का ही विवेचन किया जाता है। किसी देश विशेष से संबंध रखने वाले सिद्धांतों का विचार प्रायः कम किया जाता है पर हमारी समझ में ऐसा जरूर होना चाहिए। द्विवेदीजी की विशेषता यह है कि उन्होंने शास्त्र का संबंध व्यवहार से जोड़ा। 'सम्पत्ति शास्त्र' में इसी कारण अर्थशास्त्रीय सिद्धांत नहीं मिलता। बारह भागों और सैंतालीस परिच्छेदों की इस पुस्तक में लेखक ने उन सिद्धांतों को स्वीकार नहीं किया, जो इस देश के लिए उन्हें 'लाभजनक नहीं मालूम हुए।' 'पुस्तक को इस देश की दशा के अनुरूप बनाने में हमने कोई बात उठा नहीं रखी।' द्विवेदीजी प्रत्येक राष्ट्रभक्त और 'देश हित-चिंतक' का यह कर्तव्य समझते थे कि वह 'सम्पत्ति शास्त्र' के सिद्धांतों का ज्ञान प्राप्त करे और यदि हो सके तो उस ज्ञान-प्राप्ति के साधन औरों के लिए भी सुलभ कराने की चेष्टा करे। द्विवेदीजी व्यवहार की सभी चीजों को सम्पत्ति में शामिल करते हैं। जहां तक किसी भी देश की सम्पत्ति के ह्रास या नुकसान का सवाल है, उसके तीन प्रमुख कारणों- प्राकृतिक, राजकीय और व्यापार विषयक की उन्होंने चर्चा की है और यह बताया है कि इनमें किसी एक का भी सामना भारत को पहले नहीं करना पड़ा था। अंग्रेजों के आगमन और उनकी सत्ता के सूत्रपात के बाद ही 'यहां की स्थिति में फेरफार शुरू हो गया। यहां की सम्पत्ति इंग्लैंड गमन करने लगी। हुकूमत के बल पर इस देश के व्यापार की जड़ में कुठाराघात होने लगा।' द्विवेदीजी ने 'सम्पत्ति शास्त्र' का संबंध 'व्यापार और राज्य-व्यवस्था से बहुत अधिक' देखा और इन दोनों बातों में भारत एक पराधीन देश था। जिस प्रकार अंग्रेजों ने इस देश के राजपाट को अपने अधीन कर लिया था, उसी प्रकार व्यापार को भी। 'मूल समस्या' 'भारत की पराधीनता' थी। 'सम्पत्ति शास्त्र' राजनीति और अर्थशास्त्र की पुस्तक है। पुरानी

व्यवस्था से अंग्रेजी राज का अंतर द्विवेदीजी दिखाते हैं। रामविलास शर्मा ने प्रकारांतर से इस पुस्तक को 'ब्रिटिश राज की अर्थनीति के विरुद्ध होने के कारण साम्राज्य वाद विरोधी' कहा है।

पुस्तक के पहले भाग में 'सम्पत्ति का स्वरूप' पर विचार करते हुए द्विवेदीजी ने सम्पत्ति को 'विनिमय साध्य वस्तुओं का नाम' कहा है। वे समृद्ध कानपुर और विपन्न गांवों का जिक्र करते हैं। रुपया उनके अनुसार 'सम्पत्ति का चिन्ह' है, उसके 'परिमाण का सूचक मात्र' है। बड़ी बात यह है कि द्विवेदीजी सम्पत्ति शास्त्र के किसी एक सर्वमान्य सिद्धांत को नहीं स्वीकारते। 'सम्पत्ति शास्त्र सम्पत्ति से संबंध रखनेवाली व्यावहारिक बातों के सिद्धांत निश्चित करता है। अतएव व्यवहारों ही के अनुसार उसके सिद्धांतों को, प्रत्येक देश की व्यवस्था के खयाल से, कुछ-न-कुछ रूप धारण करना पड़ता है। प्रत्येक देश का सम्पत्ति-शास्त्र जुदा-जुदा होता है।' आज एक देश के अंतर्गत कई प्रकार की अर्थशास्त्रीय समझ और दृष्टियां हैं। मनमोहन सिंह के अर्थशास्त्र और अमित भादुड़ी के अर्थशास्त्र में अंतर है। अमर्त्य सेन और जगदीश भगवती का अर्थशास्त्रीय चिंतन भिन्न है। हाल में प्रकाशित अमर्त्य सेन और ज्यांआ द्रेज की पुस्तक 'अनसर्टेन ग्लोरी : इंडिया एंड इट्स कंट्राडिक्शन' तथा जगदीश भगवती एवं अरविंद पानागरिया की पुस्तक 'व्हाई ग्रोथ मैटर्स' की चिंताएं भिन्न हैं। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपने समय में भारत की सामान्य जनता को केंद्र में रखकर विचार किया था जो जमीन भारतीय जनता की 'आजीविका का मुख्य स्रोत' था, उस जमीन की मालिक गवर्नमेंट बन गई। नतीजा यह हुआ कि अंग्रेजों ने लगान की प्रथा आरंभ की। द्विवेदीजी ने 'कर' और 'लगान' का अंतर किया और यह बताया कि कर लेने वालों का जमीन पर इजारा नहीं था, जबकि लगान लेने वालों ने जमीन पर स्वामित्व कायम किया। द्विवेदीजी सम्पत्ति शास्त्र के अंतर्गत सम्पत्ति की उत्पत्ति, उसकी वृद्धि, सम्पत्ति के विनिमय, सम्पत्ति के वितरण और सम्पत्ति के उपभोगादि पर विचार करते हैं। संपूर्ण पुस्तक में सामान्य जनों की समझ में आने वाले उदाहरणों से संपत्ति शास्त्र को समझाया गया है। 'विनिमय की रीति' पर विचार करते हुए उन्होंने 'काशिका' और 'सिद्धांत कौमुदी' जैसे व्याकरण शास्त्र में चीजों के विनिमय के प्रमाण बताए हैं। उन्होंने सम्पत्ति का लक्षण बताकर उसके स्वरूप का निदर्शन किया है और सम्पत्ति-प्राप्ति के मार्ग बताए हैं। वे पुस्तक में सम्पत्ति की उत्पत्ति, वृद्धि, विनिमय, वितरण और उपभोग की चर्चा करते हैं और पुस्तक के कुल सैंतालीस परिच्छेदों में द्विवेदीजी ने जमीन, मेहनत, व्यय, पूंजी, जमीन की वृद्धि, मेहनत की वृद्धि, पूंजी की वृद्धि, मालियत और कीमत, सिक्का, पदार्थों की कीमत, रुपये की कीमत, कागजी रुपया, लगान, मालगुजारी, सूद, मुनाफा, मजदूरी, सम्पत्ति का उपभोग, व्यवसायी व्यक्ति, व्यवसायी कंपनियां अथवा संभूय-समुत्थान, हड़ताल और द्वारावरोध, व्यवसाय समिति, साख, बैंकिंग, बीमा, व्यापार से लाभ, विदेशी व्यापार, विदेशी माल के भाव का तारतम्य, विदेशी यात और आयात माल की कमी-बेशी का परिणाम, माल के मूल्य का विनिमय, गवर्नमेंट की व्यापार-व्यवसाय विषयक नीति, बंधनरहित और बंधन विहित व्यापार, करों की आवश्यकता और तत्संबंधी नियम आदि, प्रत्यक्ष कर, विदेशी व्यापार कर और देशांतर गमन आदि पर विचार किया है।

द्विवेदीजी भारत की सम्पत्ति का ह्रास मुगल-काल में नहीं देखते। सम्पत्ति शास्त्र का गहरा संबंध 'शासन राजकीय व्यवस्था और व्यापार' से है, जो मुगल काल में सही था। आक्रमणकारियों ने भारत के सोना, चांदी और रत्नों को लूटा। सम्पत्ति में केवल ये ही नहीं आते। मुगलकाल में सम्पत्ति-ह्रास

का वे एक कारण भी नहीं देखते। 'एक का भी सामना हिंदुस्तान को नहीं करना पड़ा।' अंग्रेजों के आगमन के बाद ही भारतीय सम्पत्ति का ह्रास हुआ। 'जमीन की पैदावार पर ही कोई नब्बे फीसदी आदमियों की जीविका चलने लगी।' सम्पत्ति की उत्पत्ति के प्रधान साधन द्विवेदीजी के अनुसार तीन हैं-जमीन, मेहनत और पूंजी। जमीन से उनका अर्थ केवल ऊपरी भाग से नहीं है। भूगर्भ को ही नहीं, वे नदी और समुद्र को भी जमीन के अंतर्गत रखते हैं क्योंकि 'उनके तल में जमीन है।' अनाज उनके लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि उसी से मनुष्य का जीवन-निर्वाह होता है। स्वाभाविक है कृषि और कृषि की पैदावार को महत्व देना। आज के अर्थशास्त्रियों के यहां कृषकों का, खाद्यान्न पदार्थों का कितना महत्व है। द्विवेदीजी ने लोहे और कोयले की खानों पर विचार किया है और जमीन की कीमत पर भी। मंडी या बड़े शहर के पास की जमीन का अधिक मूल्य होता है। जमीन की 'अर्थोत्पादकता' को द्विवेदीजी ने जमीन पर हमेशा के लिए अधिकार से जोड़ा है। जमीन की उत्पादकता बढ़ाने से सम्पत्ति की वृद्धि होती है। अर्थशास्त्र उत्पादन और विनिमय का शास्त्र है। द्विवेदीजी ने इन दोनों पर विचार किया है। उनके अर्थशास्त्रीय चिंतन के केंद्र में भारत का सामान्य जन था। आज के अर्थ शास्त्रियों के चिंतन केंद्र में कॉरपोरेट और इजारेदार पूंजीपति हैं जो इनके साथ होंगे, उन्हें द्विवेदीजी का 'सम्पत्ति शास्त्र' अर्थशास्त्र की पुस्तक नहीं लगेगी। जमीन के बाद द्विवेदीजी ने श्रम (लेबर) पर विचार किया है। उन्होंने श्रम को सम्पत्ति से जोड़ा है और सम्पत्ति का प्रधान लक्षण विनिमय-साध्य होना माना है। श्रम के बिना पदार्थों में 'विनिमय साध्य' नहीं आती। श्रम के अंतर्गत द्विवेदीजी ने शारीरिक और मानसिक श्रम को रखा है। उनके अनुसार श्रम की दो कोटियां हैं- उत्पादन और अनुत्पादक। उत्पादक श्रम वह है, जिससे लगातार सम्पत्ति पैदा होती है, जहां सम्पत्ति से सम्पत्ति पैदा नहीं होती। वहां का श्रम अनुत्पादक है। आराम और विलासिता से जुड़ी चीजों, जिनकी आज भरमार है, के श्रम को द्विवेदीजी अनुत्पादक मानते हैं। ऐसे लोगों को उन्होंने 'देश के दुश्मन' कहा है- 'बहुत बड़ा स्वदेश द्रोही', प्रकृति-प्रदत्त कच्ची सामग्री श्रम के कारण ही, उससे जुड़कर ही, सम्पत्ति के स्वरूप में बदलती है। उत्पादक श्रम के उन्होंने दो वर्ग किए हैं-प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष। स्कूल और कॉलेज के अध्यापकों और अच्छी-अच्छी पुस्तकें लिखने वालों का श्रम अप्रत्यक्ष उत्पादक श्रम है और 'काश्तकार, बढ़ई, लोहार आदि का श्रम प्रत्यक्ष उत्पादक है।' द्विवेदीजी प्रत्यक्ष उत्पादक श्रम को ही नहीं, अप्रत्यक्ष उत्पादक श्रम को भी महत्व देते हैं। स्वयं उनका श्रम भी अप्रत्यक्ष उत्पादक श्रम था। यह श्रम किसी भी पिछड़े और अविकसित समाज में अधिक महत्वपूर्ण है। औपनिवेशिक देशों में ऐसे श्रम का महत्व कहीं अधिक था। स्वतंत्र भारत और इक्कीसवीं सदी के भारत में अप्रत्यक्ष उत्पादक श्रम क्या पहले की तरह महत्वपूर्ण बना रहा है? यह श्रम 'सम्पत्ति का अप्रत्यक्ष उत्पादक' है। 'जिस श्रम से पदार्थों में प्रत्यक्ष उपयोगिता आती है, वह अप्रत्यक्ष उत्पातदक' है। द्विवेदीजी मंदिर, मस्जिद और गिरजाघर बनाने को, धार्मिक कार्यों में लाखों रुपये फूंकने और तीर्थादि की यात्रा करने वालों के श्रम को उत्पादक श्रम की कोटि में नहीं रखते। वे कल-कारखानों के कारीगरों और मजदूरों को कारखानों में हिस्सेदार बनाए जाने के पक्ष में हैं 'क्योंकि इससे श्रमजीवी जन कारखाने के हानि-लाभ को अपना हानि-लाभ समझते हैं।' ऐसे प्रगतिशील और क्रांतिकारी विचार क्या किसी अर्थशास्त्री और राजनेता ने सामने रखे हैं। श्रम से सम्पत्ति की उत्पत्ति में द्विवेदीजी ने ईमानदारी, कार्यकुशलता, बुद्धिमानी और संज्ञानता को भी शामिल किया है। उन्होंने

सम्पत्ति को शिक्षा से जोड़ा। वे अर्थशास्त्र के दायरे को व्यापक करते हैं। आज अर्थशास्त्र और विकास में जिस 'ह्यूमन फेस' की बात की जाती है, उसे हम उनके यहां देख सकते हैं। श्रम की उत्पादकता की वृद्धि में श्रम-विभाग, श्रम-संयोग के साथ कलों और औजारों की मदद की भी बात उन्होंने कही है। वे कल-कारखानों और श्रमिकों-मजदूरों के पक्ष में है। उन्हें श्रमजीवियों के बुद्धि-विकास की अधिक चिंता थी।

पूंजी द्विवेदीजी के अनुसार 'संचय का फल' है। 'भविष्य में नई सम्पत्ति उत्पन्न करने के लिए पहले उत्पन्न हुई सम्पत्ति का जो हिस्सा बचाकर अलग रख दिया जाता है, उसी का नाम पूंजी है।' पूंजी की यह परिभाषा कितनी सरल-सहज है। पूंजी में सभी तरह के धन या सम्पत्ति को शामिल नहीं किया जा सकता। 'जिस धन या सम्पत्ति से और धन या सम्पत्ति की उत्पत्ति होती है, सिर्फ वही पूंजी है।' सम्पत्ति शास्त्र में कई बार अमेरिका और योरोप की बात कही गई है। द्विवेदीजी पूंजी के संचरण-संतरण के पक्ष में थे। धन को जमीन में गाड़ने या संदूक में बंद रखने के पक्ष में वे कभी नहीं रहे। आज जब सोने की खरीद कहीं अधिक है और वित्ता मंत्री पी. चिदंबरम की सलाह भी बेमानी हो चुकी है, सौ वर्ष पहले द्विवेदीजी पूंजी को, सम्पत्ति को 'जेवर के रूप में ही बदलने के पक्ष में' नहीं थे। द्विवेदीजी की दृष्टि में देश में धन का न बढ़ना 'देश की पूंजी की वृद्धि का द्वार बंद करना है, वे खर्च के पक्ष में थे, पर 'विलास-द्रव्यों के लिए नहीं'।' ''खर्च करने से ही पूंजी का अभीष्ट सिद्ध होता है। नई सम्पत्ति पैदा करने के लिए खर्च आवश्यक है। पूंजी के दो रूप हैं-चल और अचल। खेतों में बोया जाने वाला बीज चल पूंजी है और हल-बैल स्थायी पूंजी है। द्विवेदीजी ने कई उदाहरण कृषक-जीवन से दिए हैं।' संसार में पूंजी-प्रवाह पर उनका ध्यान है। 'कुछ न हो सके तो किसी विश्वसनीय बैंक या महाजन ही के यहां उसे लगा देना चाहिए, या गवर्नमेंट का कागज ही खरीद लेना चाहिए।' पूंजी सब कुछ है। 'संसार में पूंजी बड़ी चीज है। बिना पूंजी के कुछ नहीं हो सकता। यदि पूंजी नहीं हो तो जमीन और मेहनत का कुछ भी उपयोग न हो सके।' द्विवेदीजी चल पूंजी के पक्ष में हैं। पूंजी का उपयोग बुद्धिमानी से किया जाना चाहिए। सुखोपभोग के लिए फिजूलखर्ची को उन्होंने 'मूर्खता' कहा है और ऐसे लोगों को मूर्ख माना है। जिस समय द्विवेदीजी 'सम्पत्ति शास्त्र' लिख रहे थे, वह समय उपभोक्तावाद का नहीं था। द्विवेदीजी की चिंता में व्यक्ति नहीं समाज था, देश था। आज अनेक अर्थशास्त्रियों की चिंता में समाज और देश नहीं है। चल पूंजी के अचल होने से श्रमजीवियों को जो नुकसान होता है, वह उनके अनुसार अल्पकालिक है। 'श्रम और पूंजी के अखंड संयोग' की बात उन्होंने कही है और शिक्षा के प्रचार को 'पूंजी की उत्पादक शक्ति बढ़ाने का एक प्रमुख कारण' माना है। द्विवेदीजी जमीन, श्रम और पूंजी के साथ 'व्यय' पर भी विचार करते हैं। 'श्रम' की तरह देश की सम्पत्ति नष्ट नहीं होती है। ऐशो-आराम के लिए किया गया खर्च अनुत्पादक है। इस प्रकार के खर्चीले व्यक्तियों को साफ शब्दों में द्विवेदीजी ने 'देश के दुश्मन' कहा है। जहां खर्च का फल नहीं मिलता वैसा खर्च उनके लिए 'व्यर्थ' है। कंगाल भारत में अमीरी ठाठ से रहने वालों को द्विवेदीजी ने अच्छी निगाहों से कभी नहीं देखा। आज भी भारत की सत्तर-पचहत्तर प्रतिशत जनता किसी प्रकार सामान्य जीवन व्यतीत कर रही है। देश के 'बड़े' अर्थशास्त्रियों की चिंता में वे नहीं हैं। द्विवेदीजी की चिंता में मुट्ठी भर भारतीय नहीं थे। 'सम्पत्ति शास्त्र' भारत की जनता को ध्यान में रखकर लिखी गई पुस्तक है और इस कारण यह पुस्तक आज भी महत्वपूर्ण है। 'देश

के शुभचिंतक और सच्चे सहायक वही हैं जो मितव्ययी हैं, जो उत्पादक व्यय करके देश की सम्पत्ति बढ़ाते हैं।'

'वैल्यू' और 'प्राइस' में द्विवेदीजी ने अंतर किया है। 'वैल्यू का अर्थ मालियत है और प्राइस का कीमत।' 'रुपए में मोल लेने की जो शक्ति है, वही उसकी कीमत है।' एक परिच्छेद में 'कागजी रुपया' पर भी विचार किया गया है। कागजी रुपए 'सिर्फ कागज के छोटे-छोटे टुकड़े हैं।' वे इसका इतिहास बताते हैं कि सर्वप्रथम चीन में इसका प्रचार हुआ। रुपए से सरकार की साख जुड़ी होती है। व्यवसाय समिति (ट्रेड्स यूनियंस) और 'चेंबर ऑफ कॉमर्स' पर भी 'सम्पत्ति शास्त्र' में विचार किया गया है। 'बैंकिंग' और 'महाजनी' को द्विवेदीजी 'प्रायः समानार्थक शब्द' कहते हैं। 'महाजन का पेशा महाजनी और बैंक का बैंकिंग कहलाता है... बैंक सूद देता भी है और लेता भी है; महाजन देता नहीं, सिर्फ लेता है।' अर्थशास्त्र के कई शब्दों की उत्पत्ति पर भी द्विवेदीजी विचार करते हैं। 'इटालियन बैंकों और जर्मन 'बैंक' शब्द का अंग्रेजी 'बैंक' बना।' 'फ्री ट्रेड' के लिए वे अबाध, अप्रतिबद्ध, असंरक्षित अथवा बंधनरहित व्यापार सुझाते हैं। वे स्वयं बड़े अनुवादक और संस्कृत थे। शब्दों के उनके अनुवाद पर ही नहीं, उनके अनुवाद-कर्म पर विचार की अब भी जरूरत है। 'बंधनरहित व्यापार' को उन्होंने 'खुला' या 'स्वतंत्र व्यापार' भी कहा है। 'प्रोटेक्टेड ट्रेड' के लिए उन्होंने संरक्षित, प्रतिबद्ध अथवा बंधन विहित व्यापार सुझाए हैं। विदेश से होने वाला व्यापार या तो बंधन रहित होता है या बंधन विहित। बंधनरहित व्यापार में एक देश दूसरे देश को अपना सामान या माल स्वतंत्रतापूर्वक जाने देता है और अपनी आवश्यकता के अनुसार दूसरे देश के सामान या माल को 'बेरोक टोक' आने देता है। उस पर कोई पाबंदी नहीं लगाई जाती जो देश विदेशी सामान पर कर लगाकर 'उसकी आमदनी को रोकने या कम करने की चेष्टा करते हैं, उनके यहां का व्यापार बंधन-विहित व्यापार कहलाता है।' साधारण आदमी की समझ में आने वाली भाषा में सामान्य उदाहरणों से अर्थशास्त्र से जुड़े प्रश्नों को समझाना सामान्य बात नहीं है। उनके समक्ष सदैव दो प्रकार के व्यक्ति थे। अपना लाभ देखनेवाले और देश का हित या भला चाहनेवाले। वे सदैव देश का भला चाहने वालों को महत्व देते रहे। व्यापार के संबंध में उनकी स्पष्ट समझ थी कि 'व्यापार की रक्षा सिर्फ अपने देश के कला-कौशल और उद्योग-धंधे की वृद्धि के लिए की जाती है।' बंधन रहित व्यापार को 'स्वाभाविक व्यापार' मानने के बाद भी इसके सिद्धांतों में उन्होंने 'थोड़ी-सी बाधा' देखी।

सम्पत्ति-शास्त्र के रचना-काल में इंग्लैंड विश्व में व्यापार-व्यवसाय करनेवाला प्रमुख देश था। द्विवेदीजी यह सवाल करते हैं कि इंग्लैंड ने 'हिंदुस्तान के संबंध में बंधन विहित व्यापार के नियमों का अनुसरण क्यों किया? क्यों उसने इस देश के माल पर कड़ा कर लगाकर उसकी आमदनी को रोका? क्यों इस प्रकार व्यापार-प्रतिबंध करके उसने अपने कला-कौशल और उद्योग-धंधे की वृद्धि की?' आज मुक्त व्यापार-संबंधी द्विवेदीजी के दृष्टिकोण पर विचार की जरूरत है। विश्व में आज जो अर्थव्यवस्था चल रही है, भारत उसके साथ है। विगत बीस वर्षों 1991 से देश में 'नव उदारवादी अर्थव्यवस्था' जारी है। इसका नतीजा सबके सामने है। घोटालों और भ्रष्टाचारों का पिटारा सदैव खुलता जाता है। नव उदारवादी आर्थिक नीतियों का सैद्धांतिक आधार फ्रेडरिक वॉन हायेक और मिल्टन फ्रीडमैन जैसे अर्थशास्त्रियों ने रखा। स्काटिश अर्थशास्त्री जॉन मीनार्ड कीन्स ने 1929-30 की महामंदी के बाद सरकारी हस्तक्षेप से जुड़ी अर्थव्यवस्था अपनाने की बात कही थी। आस्ट्रीयन

स्कूल ऑफ इकॉनोमिक्स के अर्थशास्त्री फ्रेडरिक वॉन हायेक और शिकॉगो स्कूल ऑफ इकॉनामिस्ट के विख्यात अर्थशास्त्री मिल्टन फ्रीडमैन ने मुक्त व्यॉपार के सिद्धांत सामने रखे। भारत आज मुक्त बाजार ('फ्री मार्केट') के साथ है। द्विवेदीजी यह मानते थे कि 'जिस देश में उद्योग-धंधे की अवस्था अच्छी नहीं, जिसे व्यापार-व्यवसाय में अपने से अधिक उद्योगशील और व्यापार वृद्ध देश का मुकाबला करना है, उसे कुछ काल के लिए व्यापार बंधन जरूर करना चाहिए।' विश्व व्यापार संगठन अपने सदस्यों को इसकी इजाजत आज नहीं देता। भारत औद्योगिक विकास नहीं कर सकता। आज की स्थितियां सर्वथा भिन्न हैं और एक सौ पांच वर्ष पहले द्विवेदीजी व्यापार को लेकर जो बातें कह रहे थे, उससे हमें अवगत होना चाहिए। द्विवेदीजी ने जॉन स्टुअर्ट मिल, प्रसिद्ध इतिहास लेखक 'ल्यकी' और अमेरिका के लौह-व्यापारी कारनेगी को उद्धृत किया है। जॉन स्टुअर्ट मिल ने 'प्रिंसिपल्स ऑफ पोलिटिकल इकोनॉमी' में 'अचिर स्थायी व्यापार प्रतिबंध' की बात कही थी, ल्यकी ने 'नए कारखानों और नए उद्यमों की कामयाबी के लिए कम-से-कम दस वर्ष तक विदेशी माल का प्रतिबंध' आवश्यक माना था और लौह-व्यापारी कारनेगी के अनुसार 'अमेरिका के संयुक्त राज्यों ने व्यापार-व्यवसाय में जो इतनी उन्नति की है, उसका मुख्य कारण व्यापार-प्रतिबंध' है। उस समय जर्मनी में भी सम्पत्ति-वृद्धि का यही कारण था।

द्विवेदीजी के अर्थशात्रीय चिंतन और विचारों में कहीं से भी कट्टरता नहीं है। वे उदारवादी हैं। देश की अवस्था देखकर उनके विचार बने थे। 1908 में भारत की दशा की तुलना उन्होंने इटली के दक्षिणी हिस्से से की और अपने देश के लिए भी 'व्यापार-प्रतिबंध की बड़ी जरूरत' देखी। आज विदेशी सामान छोटी-छोटी जगहों में है। दुनिया छोटी हो चुकी है। देश निर्यात से अधिक आयात कर रहा है। आर्थिक आत्मनिर्भरता नहीं है। मुक्त बाजार की अर्थनीतियां जारी हैं। सभी दलों की आर्थिक नीति लगभग एक है। द्विवेदीजी ने 'सम्पत्ति शास्त्र' में लिखा है- 'जहां आबादी अधिक, देश पुराना, जमीन की उर्वरा शक्ति कम, पूंजी थोड़ी, वहां जब तक अनेक प्रकार के धंधे न होंगे तब तक कुशल नहीं और नए कारोबार की रक्षा किए बिना उनका चलना असंभव है। उनके चल निकलने के लिए उनका मुकाबला करने वाले योरोप, अमेरिका और चीन, जापान आदि के माल पर कर लगाकर कुछ समय तक उनकी आमदनी का प्रतिबंध करना जरूरी है।' 'सम्पत्ति शास्त्र' का गंभीर अध्ययन-विवेचन जरूरी है। विस्तार से पूरी बातें की जानी चाहिए। द्विवेदीजी की डेढ़ सौवीं वर्षगांठ पर इस उपेक्षित पुस्तक पर और अधिक विचार करने की आवश्यकता है।

(लेखक प्रख्यात आलोचक हैं)

आलोचना की जातीय स्वाधीनता

शंभुनाथ

यदि राष्ट्रीय जीवन में स्वाधीनता की भूख हो यह स्वाभाविक है कि आलोचना में भी सैद्धांतिक औपनिवेशिकता से मुक्ति की आकांक्षा पैदा होगी। एक समय जिस तरह उपनिवेशकों के साहित्य ने भारत के पढ़े-लिखे लोगों के बौद्धिक उपनिवेशन में एक बड़ी भूमिका निभाई थी, इसी तरह पश्चिम से एक के बाद एक आने वाले सिद्धांत हिंदी में इस तरह चर्चित होते रहे हैं, जैसे ये वैश्विक परिप्रेक्ष्य हों जबकि ये योरोपीय दृष्टिकोण भर थे। हिंदी के कई लेखक इन सिद्धांतों के पीछे ऐसे दौड़ते रहे हैं जैसे अपनी ओर आती कटी पतंग लूट रहे हों। इस विड़ंबना पर सोचने की जरूरत है कि इतने आलोचकों के रहते हुए एक भी सिद्धांत आखिरकार हिंदी क्षेत्र से बनकर पश्चिम क्यों नहीं गया, सभी सिद्धांत पश्चिम में ही बनकर हिंदी या ऐसी अन्य भारतीय भाषाओं में क्यों आए।

हम रामचंद्र शुक्ल की आलोचना में देखते है कि उसमें राजनीतिक आत्मनिर्णय की तरह ही सैद्धांतिक स्वत्व की भी चेतना थी। उनकी आलोचना का भारतीय स्वाधीनता संग्राम से सीधा संबंध है। उन्होंने हिंदी को स्वतंत्र सत्ता के लिए लड़ते हुए और संसार की जातियों के बीच अपनी जाति की स्वंतत्र सत्ता का अनुभव करने के उद्देश्य से आलोचना की दुनिया में प्रवेश किया था। उन्हें शरीर सुख, दौलत और सत्ता के नशे में डूबे रहने की तुलना में स्वतंत्र जातीय सत्ता अर्जित करना ज्यादा जरूरी लगा। इसलिए काव्य में प्राकृतिक दृश्य में उनके कथनों का केंद्रीय सार है 'अपने स्वरूप को भूलकर यदि भारतवासियों ने संसार में सुख-समृद्धि प्राप्त की तो क्या?' वैश्वीकरण के जमाने में भारत के स्वतंत्र स्वरूप को पहचानने की जरूरत बढ़ गई है। गौर करने की चीज है, आचार्य शुक्ल ने जब भी अपनी जाति की स्वतंत्र सत्ता की बात की उनका आशय हिंदू जाति न होकर भारतीय जाति है।

आलोचना को यदि समीक्षा तक सीमित न करें तो आलोचना तब से है, जब से धर्म, काव्य, दर्शन, विज्ञान और कलाएं हैं और ये सब प्राचीन काल से हैं।, वाल्मीकि ,बुद्ध, लोकायत परंपरा के लोग, कबीर और अन्य भक्त कवि पहले आलोचक थे, अन्यथा वे नवता के प्रवर्तक नहीं हो सकते थे। नवजागरण की रीढ़ है आलोचना। रामचंद्र शुक्ल का योगदान यह है कि उन्होंने आलोचना को एक स्वंतत्र आधुनिक विधा के रूप में प्रतिष्ठित किया और इसकी स्वाधीनता के लिए आजीवन संघर्ष किया।

साहित्य जिस जीवन-उत्साह के साथ लिखा जाता है, जिस जीवन-रस के साथ लिखा जाता है, उन्होंने आलोचना उसी तरह लिखी। यह जो उनके बारे में कहा जाता है कि उनके बुद्धिवाद की यात्रा में हृदय हमेशा साथ रहा है, इसका अर्थ है -उनकी आलोचना जीवन के उत्साह और रस के हमेशा भरी रही है।

उपनिवेशवाद ने भारत को आर्थिक लूट से खोखला करके और उस पर पतनशील पश्चिमी सभ्यता थोपकर इस देश के लोगों को जीवन-उत्साह और जीवन-रस से वंचित कर दिया था। भारत के लोग एक उदासीन- अलगाव-भरा और कृत्रिम जीवन जीने लगे थे। सबसे बड़ी मुश्किल थी, वे अपना स्वरूप भूलते जा रहे थे। यही वजह है कि रामचंद्र शुक्ल भारतीय जाति के स्वतंत्र स्वरूप, राष्ट्रीय विनाश की औपनिवेशिक घटनाओं और राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के सवालों पर लगातार सोच रहे थे।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल की चिंता साहित्य की व्याख्या और मूल्य निर्णय तक सीमित नहीं है, यह राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के सामजिक दायित्व तक विस्तृत है। चाहे हिंदी साहित्य का इतिहास लिखना हो या जायसी और तुलसी की महत्ता का उद्घाटन, 'कविता क्या है' की चिंता हो या बुद्धिवाद के समर्थन में 'विश्व प्रपंच' की लंबी भूमिका और इतिहास के विषयों पर लिखना हिंदी की स्वतंत्र सत्ता के लिए संघर्ष हो या 'कला के लिए कला' जैसे पश्चिमी साहित्यिक सिद्धांतों से टकराहट, यहां तक कि उनका विविध सांस्कृतिक स्मृतियों में बार-बार जाना, ये सभी एक बड़े उपनिवेशवाद-विरोधी संघर्ष के अंग हैं। वह वस्तुवादी, बुद्धिवादी और आधुनिक भर नहीं हैं, राष्ट्रीय भी है उनमें 19वीं सदी के राष्ट्रीय जागरण की निरंतरता बनी हुई है।

भारतीय जाति के स्वरूप की पहचान में दो सबसे बड़ी बाधाएं रही हैं। एक, भारत को पश्चिमी रंग में देखना। दो, इसे प्रभेद-भरी सांमती पहचान और शृंगारिक कामुकता से बांध देना। एक तरह से ये ही साम्राज्यवाद -सामंतवाद के बौद्धिक जाल हैं जिनमें आज भी भारतीय जीवन फंसा है नकल में मस्त है। पश्चिम से बाजार के बहुरंगे माल के साथ विचार भी आ रहे हैं 'थियरी भी आ रही है। यह घटना साहित्य की ही नहीं है। शिक्षा, मीडिया और जीवन शैली,सभी जगहों पर अंधानुकरण बढ़ा है। एक जमाने में अफ्रीका के लोग अंग्रेज दिखने के लिए भीषण गर्मी में भी कोट ओर टाई पहनने लगे थे। रामचंद्र शुक्ल ने अपने देश की ऐसी घटनाओं पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि जब तक 'भद्दी नकल को ही नवीनता मानकर संतोष करते रहेंगे, सभ्य जनों के उपहासभाजन बनेंगे और पश्चिमवासी हमेशा हेय दृष्टि' से देखेंगे। जाहिर है, इस स्थिति में, हमारी आंख अपना स्वरूप न देख सकेगी। कहना न होगा कि अपना स्वरूप देखने के लिए, भारत को उसी संपूर्णता में देखने के लिए साहस और कल्पनाशीलता की जरूरत है, जो रामचद्र शुक्ल में थी।

रामचंद्र शुक्ल एक आलोचक हैं। वह अपनी लड़ाई आलोचना की जमीन पर लड़ते हैं। भारतीय जाति के स्वरूप की पहचान के लिए सबसे पहले उन्होंने आलोचना की स्वाधीनता की मांग की, जिसका अर्थ है, 'अंतर्दृष्टि को आच्छन्न करने वाले परदों को हटाना। उनकी यह समझ इसलिए महत्वपूर्ण है कि आज भी भारत को देखने के लिए मुख्यतः पश्चिमी बौद्धिक केंद्रों में बनी सैद्धांतिक अवधारणाओं से काम लिया जाता है और विकास के रास्ते पश्चिम ही तय करता है। दूसरे, भारतीय जीवन में सांमती संकीर्णता और कामुकता की एक बार फिर सुनामी आई है। सांमती संकीर्णताएं उभर रही हैं राजनीति की ताकत लेकर और कामुकता का बोलबाला है बाजार की ताकत से। राजनीति और बाजार इस समय सियामी ट्विन्स हैं, अविभाज्य!

आलोचना की स्वतंत्रता केवल तभी खतरे में नहीं पड़ती, जब अभिव्यक्ति की आजादी छिनती है या आपातकाल जैसा वक्त आता है। यह तब भी संकट की रेखा पर होती है, जब आलोचनात्मक

दृष्टि पर औपनिवेशिक या उत्तर-औपनिवेशिक सिद्धांत छाए होते हैं या सामंती संकीर्णता और कामुकता की थियरी हावी रहती है।

आलोचक के पास जो पहली चीज होनी चाहिए, वह है दृष्टि। यह दृष्टि जब उपनिवेशवाद के बौद्धिक परदों से अच्छी होगी या सामंती संकीर्णता और कामुकता डुबी होगी, आलोचना का जोखिम उठाना संभव नहीं होगा। इसलिए रामचंद्र शुक्ल ने कुछ पीड़ा से कहा था, 'आजकल विचारों की पराधीनता के कारण यूरोप ही जगत समझा जाता है' (काव्य में रहस्यवाद)। इसी वैचारिक पराधीनता को नजर में रखते हुए उन्होंने कहा, 'यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि हमारे काव्य का, हमारे साहित्य शास्त्र का एक स्वंतत्र रूप है, जिसके विकास की क्षमता और प्रणाली भी स्वंतत्र है। उसकी आत्मा को, उसकी छिपी हुई भीतरी प्रकृति को जब सूक्ष्मता से पहचान लेंगे, तभी दूसरे देशों के साहित्य के स्वतंत्र पर्यावलोचन द्वारा अपने साहित्य के उत्तरोत्तर विकास का विधान कर सकेंगे। हमें अपनी दृष्टि से दूसरे देशों के साहित्य को देखना होगा, दूसरे देशों की दृष्टि से अपने साहित्य को नहीं।' (वही) आचार्य शुक्ल का सारा जोर आलोचना दृष्टि को वैचारिक पराधीनता से मुक्त करने पर है। वह अंग्रेजी साहित्य और कलावादी साहित्य सिद्धांतों को अध्ययन कर चुके थे। चाहते तो उनसे उपकरण लेकर चमक-दमक से भरी आभिजात्य आधुनिकता का प्रदर्शन कर सकते थे, क्योंकि उन सिद्धांतों की आंधी थी। उन्होंने ऐसा नहीं किया और आधुनिकता की भिन्न राह खोजी।

हिंदी जातीय जागरण और साहित्य के क्षेत्र में स्वाधीनता की आकांक्षा को हिंदू राष्ट्रवााद में सीमित करके नहीं देखा जा सकता। हमें रामचंद्र शुक्ल की व्यापक वैचारिक जमीन को समझना होगा, जो संस्कृति-मुखी होते हुए भी सांप्रदायिक और जातिवादी नहीं है। इसी तरह सौंदर्य-उन्मुखी होकर भी शृंगारिक-विलासी नहीं है। वह परंपरा और आधुनिकता के बीच ही किसी जगह ज्यादा खुलकर सांस ले पाते हैं। उन्होंने कई जगहों पर कहा है कि साहित्य को धर्म और ईश्वर से दूर रखो। वह इसे रीतिवाद के संकुचित घेरे से निकालकर स्वच्छंद विश्वबोध से जोड़ना चाहते हैं, 'हम सारा काव्य क्षेत्र देव, मतिराम और बिहारी आदि के भीतर देखने वाले पुरानी लकीर के फकीर न कभी रहे हैं और न हैं। हम अपने हिंदी काव्य को विश्व की नित्य और अनंत विभूति में स्वच्छंदतापूर्वक अपनी स्वाभाविक प्रेरणा के अनुसार, अपनी आंख खोलकर विचरण करते देखना चाहते हैं। वह दिन तभी आ सकता है, जब हमारी अंतर्दृष्टि को आच्छन्न करने वाले परदे हटेंगे और हमारे विचारों में बल आएगा। (वही) अपने लेखन में वह बार-बार 'लकीर के फकीर नहीं' के साथ-साथ अपनी स्वाभाविक प्रेरणा से आंख खोलकर जैसी वैचारिक सतर्कताएं बरतने के लिए कहते हैं। इसका लक्ष्य है विचारों में बल लाने के लिए सामंतवाद के साथ-साथ साम्राज्यवाद से बौद्धिक-सांस्कृतिक मुक्ति। राष्ट्रीय पुनर्निर्माण कभी भी विचारों में बल लाए बिना संभव न था। यह बल सामंती संकीर्णता, शृंगारिक और पश्चिम के अंधानुकरण से नहीं आ सकता था।

रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी आलोचना को उस दौर में आधुनिक जमीन दी, जब शृंगारिक कामुकता का दबदबा घटा नही था और पिछले दरवाजे से अध्यात्मवाद भी घुस रहा था। दरअसल कामुकता और अध्यात्मवाद हर जमाने में नए आकर्षणों के साथ छाते रहे हैं। पहले ये काव्य में ही प्रकट होते थे। अब ये हर जगह मिलेंगे। चाहे श्रव्य-दृश्य मीडिया और विज्ञापन हों या क्रिकेट के चीयर लीडर्स,

फिल्म, प्रवचन, योग और ध्यान जैसी बाजार की अनगिनत वस्तुएं हों। इस समय अध्यात्म, आध्यात्मिक चमत्कार और कामुक मनोरंजन की चीजें साहित्यिक पुस्तकों से कहीं बहुत अधिक बिकाऊ हैं।

रामचंद्र शुक्ल ने जो अध्यात्मवाद देखा था, वह 19वीं सदी के हिंसक भौतिकवाद और प्रथम विश्व युद्ध की प्रतिक्रिया में सामने आया था। बौद्धिक उपनिवेशवाद से बाहर निकलकर सोच रहे थे। इसलिए उन्हें यह समझने में मुश्किल नहीं हुई 'योरोपीय जतियों ने एशिया, अफ्रीका और अमरीकी आदि बाहरी भूभागों मे जाकर क्रूरता और निष्ठुरता का बड़े अध्यवसाय के साथ अभ्यास किया। फल क्या हुआ? उस निष्ठुर और क्रूर वृत्ति का अत्यंत भीषण विधान अंत में गत महायुद्ध में यूरोप के भीतर ही सामने आया, जिससे वहां अध्यात्मिकता की चर्चा का फैशन खूब बढ़ा। इस रोग की दवा अध्यात्मवाद, आत्मा की एकता, ब्रह्म की व्यापकता आदि की बनावटी पुकार नहीं है। इसका एकमात्र उपाय चराचर के बीच एक हृदय की सच्ची अनुभूति तथा मनुष्य तक ही नहीं उसके बाहर के भावों का सामंजस्यपूर्ण प्रसार है। (वही) इस कथन से स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल धार्मिक कर्मकांड और दिखावे के ही विरोधी न थे, आज बाबाओं, गुरुओं और स्वामियों के जिस अध्यात्म का बहुरंगा बाजार सजा हुआ है, अपने समय के ऐसे पाखंड-जाल के भी विरोधी थे। वह अध्यात्म की जगह हृदय की सच्ची अनुभूति को प्रधानता देते थे। यह लौकिक आदर्शवाद था।

भारत से अध्यात्म पश्चिमी देशों में व्यावसायिक माल के रूप में जाता रहा है। भारत दुनिया में तर्क की जगह अध्यात्म के लिए ज्यादा प्रसिद्ध है। आचार्य शुक्ल पश्चिम में बनी भारत की इस एकरस छवि के विरुद्ध थे, 'योरोपवालों को हमारी आध्यात्मिकता बहुत पसंद आती है भारतीयों की आध्यात्मिकता और रहस्यवादिता की चर्चा पश्चिम में बहुत हुआ करती है। इस चर्चा के मूल में कई बातें हैं। एक तो ये शब्द हमारी अकर्मण्यता और बुद्धिशैथिल्य पर परदा डालते हैं। दूसरी बात यह है कि ये शब्द पूरबी ओर पश्चिमी जातियों के बीच एक ऐसी सीमा बांधते हैं जिससे पश्चिम में हमारे संबंध में एक प्रकार का कुतूहल-सा जागृत रहता है और हमारी बात वहां अनूठेपन के साथ कही जा सकती है। तीसरी बात यह है कि आधिभौतिक समृद्धि के हेतु जो भीषण संघर्ष सैकड़ों वर्ष तक योरोप में रहा, उससे क्लांत और शिथिल होकर बहुत से लोग जीवन के लक्ष्य में परिवर्तन चाहने लगे। (वही) आचार्य शुक्ल का अध्यात्मवाद-विरोध भारत की तार्किक और जीवन-उन्मुखी परंपरा को खोजने के लिए प्रेरित करता है।

आलोचना में रामचंद्र जिस तरह साहित्य के अलावा विभिन्न समाजवैज्ञानिक विषयों को शामिल करते हैं और साहित्य को भी मनुष्येतर चीजों वृक्ष, पशु-पक्षी, नदी, जंगल से जोड़ना चाहते हैं, उसी तरह पश्चिम के मानवादी या मानवकेंद्रित दृष्टिकोण का विरोध करते हुए कहते हैं, 'न जाने क्यों हमें मनुष्य जितना अन्य चर-अचर प्राणियों के बीच अच्छा लगता है, उतना अकेले में नहीं। हमारे राम भी हमें मंदाकिनी या गोदावरी के किनारे बैठे जितने अच्छे लगते हैं उतने अयोध्या की राजसत्ता में नहीं।' (वही) उनमें सरकारी सत्ता के प्रति सदा से उदासीनता थी, क्योंकि सत्ता आदमी को बनावटी और संवेदनहीन बनाती है। इसकी जगह वह सृष्टि की चर-अचर चीजों को एक व्यापक पर्यावरणीय दृष्टि से महत्व देते हैं। वह प्रकृति का संसाधन भर नहीं मानते, जिसका दोहन आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का अनिवार्य अंग है। उनकी दृष्टि में प्रकृति के साथ ही मनुष्य पूर्ण

होता है। यह भी उल्लेखनीय है कि वह इधर के आधुनिक लेखकों की तरह मैं-मैं-मेमियाते नहीं हैं हमेशा 'हम' कहकर अपनी बात कहते हैं जैसे कि ऊपर ही देख लें।

यह मानना कठिन है कि कोई एक ही भारतीय दृष्टि है, क्योंकि यह बहुलता से इनकार करना है। रामचंद्र शुक्ल कहते हैं। भारतवर्ष में कविता इस गोचर अभिव्यक्ति को लेकर ही बराबर चलती रही है और यह अभिव्यक्ति उसकी प्रकृत भूमि है। मनुष्य के ज्ञानक्षेत्र के भीतर ही उसका संचार होता है। चेतना के कोने के बाहर न वह झांकने जाती है, न जा सकती है। (वही) वह साहित्य की लौकिक भूमि और लोक से है अनुभाव-विभाव या आलंबन-उद्दीपन जैसे रस-पद्धति के प्राचीन मुहावरों से साहित्य को देखना संभव न था इसलिए रस -सिद्धांत से भी स्वाधीनता जरूरी थी। इसके बावजूद मानना होगा कि कहीं-कहीं इस सिद्धांत के पुराने मुहावरों में सोचते हुए भी रामचंद्र शुक्ल का मुख्य लक्ष्य आलोचना को मनोरंजन और दिलबहलाव वाले 'उक्तिवैचित्र्य के विरुद्ध खड़ा करना है, ताकि आलोचना लोकमंगल के परिप्रेक्ष्य से जुड़ सके। साहित्य की भारतीय पंरपरा यही है।

आचार्य शुक्ल कहते है कि कहीं अन्यत्र जाने की जरूरत नहीं है सहित्य की भारतीय पंरपरा में ही, 'ऐसे स्वतंत्र और विशाल भारतीय समीक्षा भवन के निर्माण की संभावना छिपी हुई है, जिसके भीतर लाकर हम सारे संसार के साहित्य की आलोचना अपने ढंग से कर सकते हैं।' (वहीं) आधुनिक युग में अकसर पश्चिम से साहित्यिक सिद्धांत लाकर साहित्य की आलोचना हुई। हिंदी में बड़े-बड़े आलोचक हुए, पर सिद्धांतों का आयात ही अधिक हुआ। हिंदी आलोचकों का एक बड़ा हिस्सा विदेशी लेखकों के उद्धरणों से भर गया, जबकि किसी विदेशी लेखक ने हिंदी लेखक को नहीं पूछा।

हमारे विश्वविद्यालयों में लंबे समय से देखा जा रहा है कि भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा में पंडितराज जगन्नाथ के बाद मामला बंद हो जाता है और विद्यार्थियों के सामने तुरंत प्लेटो-अरस्तू से लेकर संरचनावाद, उत्तर-संरचनावाद विखंडनवाद आदि तक सिर्फ पाश्चात्य साहित्यशास्त्र सामने ला दिया जाता है। इन स्थितियों में रामचंद्र शुक्ल की यह महत्वाकांक्षा तात्पर्यपूर्ण है कि एक स्वंतत्र और विशाल भारतीय समीक्षा भवन का निर्माण हो। इसका अर्थ है वह रस सिद्धांत का कामचलाऊ तौर पर इस्तेमाल करते हुए आलोचना के एक नए स्थापत्य की जरूरत महसूस करते हैं। वह चाहते हैं कि हम भारतीय साहित्य के साथ पश्चिमी सहित्य की आलोचना भी अपने ढंग से करे, अपने साहित्य की आलोचना उनके ढंग से नहीं। कहना न होगा कि यह एक भारी बौद्धिक उलटफेर की आकांक्षा है। उन दिनों की बहुत-सी आकांक्षाएं पूरी नहीं हुई। यह आकांक्षा भी पूरी नहीं हुई।

यह समझना होगा कि आचार्य शुक्ल की भारतीय समीक्षा भवन की अवधारणा एक बंद रेल डिब्बा नहीं है। वह 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में गद्य सहित्य के संदर्भ में कहते हैं 'हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि योरोप के साहित्य के क्षेत्र में उठी हुई बातों की चर्चा हमारे यहां न हो। यदि हमें वर्तमान जगत के बीच से अपना रास्ता निकालना है, तो वहां के अनेक वादों और प्रवृत्तियों तथा उन्हें उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों का पूरा परिचय होना चाहिए। उन वादों की चर्चा अच्छी तरह हो, उन पर पूरा विचार हो उनके भीतर जो थोड़ा-बहुत सत्य छिपा हो उसका ध्यान अपने साहित्य के विकास में रखा जाए, पर इसमें से कभी इसको कभी उसको यह कहते हुए सामने रखना कि वर्तमान विश्व साहित्य का स्वरूप यही है जिससे हिंदी अभी बहुत दूर है, अनाडीपन ही नहीं जंगलीपन भी है।' (गद्य सहित्य की वर्तमान गति, तृतीय उत्थान)। यह संभव है कि अपने जीवनकाल में

पश्चिम और पूर्व के संवाद की जरूरत महसूस करते हुए भी आचार्य शुक्ल को लग गया हो कि यह संवाद की जगह सरासर बौद्धिक आत्मविसर्जन है इसलिए वह अंधानुकरण को जंगलीपन तक करार देते हैं।

आज वैश्वीकरण के दौर में पश्चिमी चीजें बेरोकटोक आ रही हैं। अमेरिका का कचरा भी चमक-दमक से भरा है। साहित्य में भी आज बहुत विदेशी माल है। रामचंद्र शुक्ल का यह कथन लगता है कि जैसे वर्तमान स्थितियों पर टिप्पणी हो 'किसी साहित्य में केवल बाहर की भद्दी नकल उसकी उन्नति या प्रगति नहीं कही जा सकती। बाहर से सामग्री आए, खूब आए, पर वह कूड़ा-कर्कट के रूप में न इकट्ठी की जाए। उसकी कड़ी परीक्षा, हो, उस पर व्यापक दृष्टि से विवेचन किया जाए जिससे हमारे साहित्य के स्वंत्रत और व्यापक विकास में सहायता पहुंचे। भारत और संपूर्ण एशिया में नकल ने इस देश महादेश की आलोचनात्मक शक्ति को काफी मार डाला है। इसके अपने पैरों से चलने की ताकत छीन ली है। इसे इतना परजीवी बना दिया है कि इस महाजाल से निकलना बड़ा कठिन है पर जरूरी भी है।

हमने हिंदी आलोचना में नई आलोचना शैली विज्ञान, संरचनावाद, उत्तर-आधुनिकतावाद और विखंडनवाद की सैद्धांतिक धूम समय-समय पर देखी है। हालांकि इनमें से किसी का भी ठोस आधार लेकर हिंदी की किसी कृति की सार्थक आलोचना कभी नजर नहीं आई। हिंदी में आलोचना के आधुनिक औजारों को इस्तेमाल करते हुए मुख्य रूप से वस्तुवादी प्रगतिशील और यथार्थवादी आलोचना की ही अपनी बड़ी उपलब्धियां हैं। कोई आलोचक किसी खास या कुछ खास कृतिकारों तक ठहर गया हो, उसका दृष्टिकोण किसी बिंदु पर अपनी व्यक्तिगत पसंद या मतांधता का शिकार हो, पर यदि हिंदी आलोचना में कुछ भी श्रेष्ठ है, वह इसी मुख्य धारा में है। इसकी वजह है एक विकासशील और भारी विषमता-भरे देश में, एक कम सैद्धांतिक खिलंदडेपन वाले देश में साहित्य पर यथार्थवाद का किसी न किसी देश रूप में सामजिक दबाव बना रहेगा। कोई आलोचक अमेरिका के पॉश बौद्धिक केंद्रों में बने संरचनावादी, उत्तर-संरचनावादी या उत्तर-औपनिवेशिक सिद्धांतों का लटक-मटककर बाजा बजा सकता है, पर उनमें रो-हँस नहीं सकता, कुछ कह सुन-नहीं सकता।

यह बिल्कुल स्वाभाविक है कि रामचंद्र शुक्ल अपने जमाने में राष्ट्रीय यथार्थवादी के दबाव में थे। यह आधुनिक राह पर चलते हुए कहते है, योरोप के समीक्षा क्षेत्र में उठते रहने वाले वादों के संबंध में यह बात पक्की समझनी चाहिए कि वे एकांगदर्शी होते है। वे या तो प्रतिवर्तन (रिएक्शन) के रूप में या प्रचलित मतों में अपनी कुछ विलक्षणता या नवीनता दिखाने की झोंक में जोर-शोर के साथ प्रकाशित किए जाते हैं। इससे उनमें अत्युक्ति की मात्रा बहुत अधिक होती है। वे प्रायः अव्याप्ति या अति-व्याप्तिग्रस्त होते हैं। अपनी कसौटी पर बिना उनकी कड़ी परीक्षा किए उनका राग अलापना अंधेपन का प्रचार करना है। काव्य के रहस्यवाद उन्होंने जगह-जगह दिखाया कि कला के लिए कला, अभिव्यजंनावाद, प्रभाववादी समीक्षा, नई समीक्षा, शैली विज्ञान आदि किसी तरह वस्तु जगत को हृदय के विश्वभाव को, इतिहास और समाज को महत्व नहीं देते। उनका मुख्य लक्ष्य व्यक्तिवाद का प्रचार है, जो पश्चिमी सभ्यता की धुरी है। वास्तविकता यह है कि कड़ी परीक्षा की जगह उस जमाने के काफी बुद्धिजीवी व्यक्तिवादी साहित्य सिद्धांतों का अंधे होकर स्वागत कर रहे थे, हालांकि उन सिद्धांतों से बंधकर खरा लेखन नहीं कर पा रहे थे।

हम रामचंद्र शुक्ल की हँसी को नहीं समझ सके, क्योंकि यह उनकी ओंठ तक फैली मूंछों से ढकी रहती थी। उनके क्रोध को समझ सकते हैं। यह सोच के साथ क्रोध है, विचारहीन क्रोध नहीं। उन्होंने लिखा है, 'नकल से किसी जाति के साहित्य का असली गौरव नहीं हो सकता। इससे उसकी अपनी संस्कृति, अपनी सभ्यता और अपनी उद्भावना का अभाव ही व्यंजित होता है। जिसकी नकल की जाती है, वह और भी उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। यह नवीनता नहीं है अपने स्वरूप का घोर अज्ञान है, अपनी शक्ति का घोर अविश्वास है, अपनी बुद्धि और उद्भावना का घोर आलस्य है, पराक्रांत हृदय का घोर नैराश्य है, कहां तक कहें? घोर साहित्यिक गुलामी है। (वही) 'काव्य में रहस्यवाद' निबंध वैसे है तो रहस्यवाद पर आक्रमण लेकिन इसका मूल लक्ष्य है, आलोचना की जातीय स्वाधीनता की घोषणा। इसमें 'बुद्धि के घोर आलस्य' से निकलने का आह्वान है, जिस आलस्य से आम भारतीय आज भी पीड़ित है।

(लेखक प्रख्यात वरिष्ठ आलोचक हैं।)

'मैला आंचल' प्रथम आंचलिक उपन्यास नहीं

रामनिरंजन परिमलेन्दु

ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अनेक हिंदी गद्य-कथाओं का लेखन-प्रकाशन हुआ था अधिकतर अनूदित ही थी। प्रायः सन् 1850 ई. के पूर्व तक इंशा अल्ला खां की 'रानी केतकी की कहानी' एकमात्र मौलिक हिंदी गद्य-कथा है। इसके सुनिश्चित, निर्विवाद और स्पष्ट रचनाकाल के संबंध में विद्वानों में मतभेद रहा है। 1798 ई.-1808 ई. के कालखंड में ही इसकी रचना हुई थी। सन् 1853 ई. में पंडित श्रीलाल द्वारा विरचित धर्म सिंह का वृत्तांत नाम लघु गद्य-कथा का तृतीय संस्करण आगरा से प्रकाशित हुआ था। इसके प्रथम दो संस्करण भारत में उपलब्ध नहीं हैं। धर्म सिंह का वृतांत एक मौलिक यर्थाथवादी गद्य-कथा है। इसमें इस सत्यनिष्ठ जमींदार की कहानी वर्णित है जिसमें सत्य और निष्ठा का आलोक है। सत्य की विजय में इसका समापन हुआ है। वस्तुतः 'रानी केतकी की कहानी' मौलिक हिंदी कथा साहित्य की परंपरा का उद्‌भव है। इसकी दूसरी महत्वपूर्ण कड़ी धर्मसिंह का वृतांत है। 1853 ई. में पंडित श्रीलाल कृत 'सूरजपुर की कहानी' (भाग 1) का प्रथम प्रकाशन आगरा से हुआ। यह एक यथार्थवादी कहानी है। इसमें एक बेईमान पटवारी की कथा है 'इस लोकप्रिय कहानी के एकादश संस्करण 1875 ई. तक हो गए थे। इसके द्वितीय भाग की रचना मुंशी नज्म अलाद्दीन ने की थी जिसका द्वितीय संस्करण 1866 ई. इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ था। राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद विरचित 'वीर सिंह का वृत्तांत' (प्रथम संस्करण 1855 ई.) 'वामा मनरंजन' (प्रथम संस्करण 1856 ई.), 'लड़कों की कहानी' (द्वितीय संस्करण 1860 ई.) आदि उल्लेखनीय गद्य कथाएं हैं। 1859 ई. में 'फूलों का हार' नामक कथा-पुस्तक आठ भागों में आर्फन प्रेस, मिरजापुर से प्रकाशित हुआ था। नल-दमयंती की प्रेम कथा के आधार पर दांऊजी अग्निहोत्री द्वारा रचित 'नल प्रंसग' शीर्षक गद्यकथा का प्रकाशन काशी से 1860 ई. में हुआ था। उन्नीसवीं शती के प्रारंभिक प्रायः सात दशकों तक मौलिक गद्य कथाएं अनूदित रचनाओं की अपेक्षा अत्यल्प ही हैं।

डैनियम डीफो विरचित अंग्रेजी उपन्यास 'राबिन्सन क्रूसो' का हिंदी अनुवाद 'राबिन्सन क्रूसो का इतिहास-2' पंडित बदरी लाल ने किया था जिसका प्रकाशन मेडिकल हाल प्रेस, बनारस से 1860 ई. में हुआ। यह हिंदी का सर्वप्रथम अनूदित उपन्यास है। वस्तुत हिंदी में उपन्यास साहित्य का उद्‌भव डैनियम डीफो के अंग्रेजी उपन्यास 'राबिन्सन क्रूसो' के हिंदी अनुवाद से हुआ। हिंदी में अनूदित उपन्यास मौलिक उपन्यासों से बहुत पूर्व आए। 1867 ई. में 'यात्रा स्वप्नोदय' का प्रकाशन लाजरस कंपनी, बनारस से हुआ। यह जॉन बनियन के अंग्रेजी उपन्यास 'पिलग्रिम प्रोगेस' का हिंदी अनुवाद

है। इसका एक अन्य अनुवाद 1867 ई. में ही मिशन प्रेस, लुधियाना से प्रकाशित हुआ था। श्रीधर भट्ट ने 'किस्सा अफीमची' नामक गद्य-कथा लिखी जिसका प्रकाशन 1869 ई. में हिंदी संस्कृत यंत्रालय, कलकत्ता से हुआ।

हिंदी में अनूदित प्रथम उपन्यास के प्रकाशन के एक दशक के पश्चात् 1870 ई. में मेरठ निवासी पंडित गौरीदत्त (पौष सुदी 2 विक्रम संवत् 1893 लुधियाना , सन् 1836 ई.-माघ शुक्ल 14 गुरुवार विक्रम सवत् तदनुसार 8 फरवरी 1906 ई. (मेरठ) कृत मौलिक उपन्यास 'देवरानी जेठानी' की कहानी का प्रकाशन हुआ। इसका मुद्रण जियाई छापाखाना मेरठ ने किया था। इस कृति पर तत्कालीन पश्चिमोत्तर प्रदेश और अवध प्रदेश (आधुनिक उत्तर प्रदेश) के लेफ्टिनेंट गर्वनर के पत्रांक 2672 दिनांक 24 जून 1870 ई. के निर्देशानुसार लेखक को एक सौ रुपए का पुरस्कार प्रदान किया गया था। इसकी दो सौ प्रतियों को तत्कालीन सरकार ने क्रय भी किया था। यह सरकार द्वारा पुरस्कृत हिंदी की सर्वप्रथम कृति है, सर्वप्रथम उपन्यास है। इसमें उन्नींसवी शती के उत्तरार्द्ध के मेरठ के वणिक समाज की सांस्कृतिक एवं पारिवारिक स्थिति, उनके आचार-व्यवहार और विचार, पर्व-त्यौहार, रीति-रिवाज और गृहस्थिक वातावरण का यथार्थ वर्णन कर लेखक ने अपनी अलग और विशिष्ट पहचान बनाई है। इसमें तत्कालीन वणिक समाज में प्रचलित शिशु जन्म, विवाह और मृत्यु के समय की परंपरानुमोदित रस्मों के प्रामाणिक वर्णन भी किए गए हैं। मेरठ जनपद की सांस्कृतिक झांकी भी इसमें सुरक्षित है।

यह उपन्यास परंपरा से हटकर लिखा गया। इस उपन्यास की रचना स्त्री शिक्षा के निमित्त की गई थी। इसके प्रथम संस्करण की भूमिका में लेखक पंडित गौरीदत्त ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है और कहा है- 'मैंने इस कहानी को नए रंग ढंग से लिखा है।'

इस कृति को लेखक ने कहानी की संज्ञा दी है। इसके कारण यह है कि हिंदी में 1870 ई. में उपन्यास शब्द प्रयुक्त ही नहीं हो सका था। हिंदी में 'उपन्यास का सर्वप्रथम प्रयोग भारतेंदु हरिश्चंद्र द्वारा संपादित मासिक पत्र श्रीहरिश्चंद्र चंद्रिका 1875 ई. (खंड 2 संख्या 5) पृष्ठ 152- 158 और मार्च 1875 ई. (खंड 2 संख्या) पृष्ठ 182- 184 में प्रकाशित 'मालती' नामक अपूर्ण उपन्यास के लिए किया गया था। इस गद्य-रचना के शीर्षक 'मालती' के आगे कोष्ठक में 'उपन्यास' शब्द उल्लिखित है। हिंदी में 'उपन्यास' शब्द का यही सर्वप्रथम प्रयोग है। खेद है कि इस अपूर्ण उपन्यास के रचयिता का नामोल्लेख नहीं किया गया था।

गार्हस्थ उपन्यास 'देवरानी जेठानी की कहानी' में आंचलिक उपन्यास के सभी उपचारित स्वस्थ बीज उपलब्ध हैं। इसका श्रीगणेश मेरठ नगर के नामोल्लेख से ही किया गया है- मेरठ में सर्वसुख नामक एक अग्रवाल बिनिया था जिसकी मंडी में आढ़त की दुकान थी। इसमें मेरठ, दिल्ली, हापुड़, खुरजा, गुडगांव, अंबाला, आगरा, रुड़की, जयपुर, अतरौली, बुलंदशहर आदि नगरों का भी उल्लेख हुआ है। मेरठ जनपद की पूरी आत्मा इसमें प्रतिबिंबित है।

पंडित केशवराम भट्ट (आश्विन कृष्ण 5 संवत् 1911, सन् 1854 ई.-माघ कष्ण 2 विक्रम संवत् 1961 सन् 1904 ई.) बिहार में हिंदी नाटक और रंगमंच के जन्मदाता थे। वे भारतेंदु काल के एक प्रमुख नाटककार थे। उनके दो नाटकों का ऐतिहासिक महत्व है- 'सज्जाद सुंबुल' (प्रथम संस्करण 1877 ई.) और 'शमशाद सौसन' (प्रथम संस्करण 1880 ई.)। उनके नाटकों में राष्ट्रीयता है जिसमें

आपवादिक तीव्रता, उग्रता और व्यापकता का समुचित समावेश है। इस क्षेत्र में वे भारतेंदु से भी कहीं-कहीं आगे निकल जाते हैं।

पंडित केश्वराम भट्ट का मौलिक यथार्थवादी उपन्यास 'सुंदर' 1880 ई. की रचना है। इसके मात्र दस अध्यायों का प्रकाशन 1880 ई. में हो सका था। यह 'परीक्षा गुरु' पूर्व उपन्यास है। 'परीक्षा गुरु' का प्रथम संस्करण 1882 ई. में प्रकाशित हुआ था। सुंदर उपन्यास का नायक है और नायक के नाम पर उपन्यास का नामकरण किया गया है।

'सुंदर' एक आंचलिक उपन्यास है। यह अद्यावधि हिंदी का एक अगवेषित, अचर्चित, अनुल्लखित, अज्ञात एवं विस्मृत उपन्यास है। इसका नायक पटना कॉलेज का छात्र है। किसी भी उपन्यास में किसी महाविद्यालय के छात्र को सर्वप्रथम नायकत्व इसी उपन्यास में प्रदान किया गया है। यह हिंदी साहित्य में उल्लखित सर्वप्रथम महाविद्यालय छात्र है। इसका आवास पटना के मुरादपुर मुहल्ले में है। वह एक राष्ट्रवादी नवयुवक है। इसके द्वितीय अध्याय में पटना से छः सात कोस दक्षिण-पश्चिम स्थित अमृतपुर गांव का परिवेश है जो कि बिहार का एक अत्यंत पिछड़ा हुआ गांव है। इस उपन्यास में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का पटना और उसका जन जीवन प्रतिबिंबित है। मुरादपुर, पीरबहोर, चौहट्टा, महेंद्रू बादशाहीगज आदि पटना के मुहल्लों के उल्लेख इस उपन्यास में हैं। ये मुहल्ले पटना में आज भी हैं। 1880 ई. के इस उपन्यास में प्रयुक्त उनके मूल-नाम में आज तक कोई परिवर्तन-संशोधन नहीं हुआ है। इसके पांचवें अध्याय में कहा गया है। सुंदरलाल वगैरह आते-आते मुरादपुर में एक गली के सामने ठहर गए लेकिन तीन आदमी उनमें से नहीं थे। उन लोगों का डेरा चौहट्टा पर था और लोग वहीं रह गए थे।'

मुरादपुर की गली, मुरादपुर के निकट चौहट्टा ...आज भी पटना में मौजूद हैं। उन दिनों मुरादपुर में वेश्याओं की बस्ती थी, वहां उपन्यास में वर्णित मुहम्मदीजान, तवायफ का कोठा था। अब वहां उन्नत अत्याधुनिक व्यापारिक परिसर है। बांकीपुर, (पटना) की शाम कभी बहुत मशहूर थी। बांकीपुर की शाम का आकर्षक और यथार्थवादी वर्णन इस उपन्यास के पंचम अध्याय के प्रारंभ में किया गया है।

आरा स्कूल, पटना कॉलेज आदि भी इस उपन्यास में अभिलेखबद्ध हैं। पटना स्थित यह कॉलेज बिहार का प्राचीनतम और सर्वप्रथम महाविद्यालय है जिसकी स्थापना 9 जनवरी 1864 ई. को की गई थी। 'सुंदर' उपन्यास के रचनाकाल 1880 ई. में यह बिहार का एकमात्र महाविद्यालय था। इसके अष्टम् अध्याय में लेखक ने स्वयं कहा है सिर्फ कहानी से मतलब है और वह भी सिर्फ सच्ची बातें हम कहेंगे। 'सुंदर' एक आंचलिक, जनवादी, यथार्थवादी, सामाजिक और सामाजिक जागरूकता का उपन्यास है।

1896 ई. में विरचित और 1901 ई. में बनारस में प्रकाशित दरभंगा (बिहार) निवासी पंडित भुवनेश्वर मिश्र (वैशाख विक्रम संवत् 1924, सन् 1867 ई.- 2 अप्रैल 1934 ई.) के मौलिक उपन्यास 'बलवंत भूमिहार' का घटनास्थल मुजफ्फरपुर का ग्रामीण अंचल है। इसके आंरभ में वर्णित वातावरण स्थानीय रंग से परिपूर्ण है। मिथिला की हरी-भरी धरती, आम्रकुंज निर्मल पारदर्शी सरोवर अपनी स्वाभाविकता के साथ वहां संरक्षित हैं।

मूलतः मलयपुर जिला जमुई (बिहार) निवासी साहित्यकार पंडित जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी (आश्विन शुक्ल विजयदशमी विक्रम संवत् 1932 तदनुसार 10 अक्टूबर 1875 ई.- भाद्र कृष्ण 4

विक्रम 1996 तदनुसार 2 सितंबर 1939 ई.) का संपूर्ण जीवन हिंदी के उन्नत्यर्थ समर्पित था। 1899 ई. में लहरी प्रेस, बनारस से पहली बार प्रकाशित उनके प्रथम उपन्यास 'बसंत मालती' में मलयपुर अंचल (जिला जमुई बिहार प्रदेश) ही कथा का केंद्र है, वहां की नदी, नदी तट के मठ, वहां के लोकगीत हैं, लोकभाषा का प्रयोग करने वाले मल्लाह भी है। इसमें पति पत्नी के एकनिष्ठ प्रेम की मर्यादा है।

निजामाबाद (आजमगढ़) निवासी और 'प्रियप्रवास' महाकाव्य के रचयिता अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध(1865 ई.-1947 ई.) ने 1906 ई. में प्रकाशित अपने उपन्यास 'अधखिला फूल' में गोरखपुर जिले के गांव की झांकी प्रस्तुत की थी और एक आदर्श भारतीय रूपरेखा प्रदान की थी।

ग्राम भरसर (बलिया) निवासी रामचीज सिंह वल्लभ ने अपने आत्मकथात्मक उपन्यास 'वन विहंगिनी' में संथाल क्षेत्र के प्राकृतिक और मानवीय दृश्यों का चित्रण ईमानदारी के साथ किया। इस उपन्यास का प्रकाशन 1909 ई. में बाबू देवकीनंदन खत्री ने लहरी प्रेस, बनारस से किया था।

गोपालराम गहमरी (1866ई.-1946 ई.) हिंदी के जासूसी उपन्यास के पिता थे। 1911 ई. में प्रकाशित उनका उपन्यास 'भोजपुर की ठगी' भोजपुर क्षेत्र का दस्तावेज है जिसमें आंचलिक तत्वों की प्रचुरता है।

हिंदी में भावकुता प्रधान उपन्यास की नींव डालनेवाले उपन्यास आरा (बिहार) निवासी ब्रजनंदन सहाय ब्रजवल्लभ (भाद्र शुक्लाष्टमी विक्रम संवत् 1931 सन् 1874 ई.- भाद्र पूर्णिमा गुरुवार विक्रम संवत् 2013 तदुनसार 20 सितंबर 1956 ई.) द्वारा विरिचत 'आरण्यबाला' नामक उपन्यास का घटनास्थल विध्यांचल का एक पहाड़ी गांव है। इसका प्रथम प्रकाशन जून 1915 ई. में जयरामदास गुप्त, बहार कार्यालय, काशी ने किया था। इस उपन्यास में आंचलिकता है।

1914 ई. में विरचित और 1917 ई. की इंडियन प्रेस, इलाहाबाद से प्रकाशित मन्नन द्विवेदी गजपुरी बी.ए. कृत 'रामलाल' एक श्रेष्ठ आंचलिक उपन्यास है। यह ग्रामीण जीवन का एक सामाजिक उपन्यास है। इस मौलिक उपन्यास में गोरखपुर के सच्चे चित्र हैं। इसमें ग्रामीण समाज अपनी समग्रता और वास्तविकता में है। एक आंचलिक उपन्यास होने के बावजूद इसमें भारत की सामाजिक, आर्थिक धार्मिक और सांस्कृतिक अवस्थाओं की झांकियां हैं।

हिंदी कथा साहित्य के पूर्व-प्रेमचंद कालखंड में अनेक श्रेष्ठ एवं मौलिक आंचलिक उपन्यासों की रचना हुई किंतु उनका सही मूल्यांकन अद्यावधि नहीं किया जा सका। आलोचकों ने इन उपन्यासों के संबंध में औपचारिक सूचना भी हमें नहीं दी। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लाला श्रीनिवास दास (1850 ई.-1887 ई.) कृत 'परीक्षा गुरु' (1882 ई.) को हिंदी का पहला मौलिक उपन्यास घोषित कर दिया। 1929 ई. में बाबू श्यामसुंदर दास के प्रधान संपादकत्व में काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'हिंदी शब्द सागर' की प्रस्तावना में पृष्ठ संख्या 231-32 पर रामचंद्र शुक्ल ने घोषणा की थी कि 'अंग्रेजी ढंग का मौलिक उपन्यास पहले हिंदी में लाला श्रीनिवास दास का 'परीक्षा गुरु' ही निकला था। हिंदी के सर्वप्रथम मौलिक उपन्यास विषयक उनकी यह प्रथम उद्घोषणा थी। तत्पश्चात् इस उद्घोषणा की पुनरावृत्ति उन्होंने अपने 'हिंदी साहित्य के इतिहास' में भी की। शुक्लोत्तर इतिहासकारों और विद्वानों ने आचार्य शुक्ल की इस मान्यता का अब तक पृष्ठपेषण ही किया है। 'देवरानी जेठानी की कहानी', 'सुंदर' आदि मौलिक पूर्व- 'परीक्षा गुरु' उपन्यासों की ओर ध्यान देने

की आवश्यकता हमने कभी महसूस नहीं की। हिंदी में आंचलिक उपन्यास-लेखन स्वातंत्र्योत्तर भारत का अवदान नहीं है। हिंदी उपन्यास की अंतर्यात्रा में 'परीक्षा गुरु' पूर्व और 'सेवासदन' पूर्व अर्थात् प्रेमचंद पूर्व कालखंड में अनेक श्रेष्ठ एवं मौलिक आंचलिक उपन्यासों का लेखन-प्रकाशन हुआ था। प्रेमचंदोत्तर काल खंड में भी आंचलिक उपन्यासों की परंपरा यत्र-तत्र परिलक्षित होती है।

'देवरानी जेठानी की कहानी' (1870 ई.) 'सुंदर' (1880 ई.) 'बलवंत भूमिहार' (1896 ई. में लिखित और 1901 ई. में प्रकशित) 'बसंत मालती' (1899 ई.), 'अधखिला फूल' (1906 ई.) वन विहंगिनी (1909 ई.) 'भोजपुर की ठगी' (1911 ई.) 'आरण्यबाला' (1915 ई.) और 'रामलाल' (1914 ई. में विरचित एवं 1917 में प्रकाशित) आदि आंचलिक मौलिक उपन्यासों की उपेक्षा कर 1954 ई. में पहली बार प्रकाशित फणीश्वरनाथ रेणु 4 मार्च 1921 ई.-11अप्रैल 1977 ई.) के उपन्यास 'मैला आंचल' को हिंदी का प्रथम आंचलिक उपन्यास घोषित करना गलत है, अज्ञानता है, सत्य की अवमानना है। यह हिंदी साहित्य के इतिहास के प्रति सुनियोजित अपराध है, इतिहास की निर्मम हत्या है। 'मैला आंचल' हिंदी का प्रथम आंचलिक उपन्यास नहीं है।

(लेखक सुपरिचित आलोचक हैं)

हिंदी-पट्टी में आलोचनात्मकता का अवसान

शंभु गुप्त

प्रख्यात कथा आलोचक शंभु गुप्त ने 'हिंदी पट्टी में आलोचनात्मकता का अवसान' शीर्षक लेख आलोचना की वर्तमान स्थिति से रूबरू कराने के लिए काफी है। यह लेख आलोचना की कटु सच्चाई को सामने लाता है। आलोचना पर नई बहस के लिए शंभु गुप्त का यह लेख प्रकाशित किया जा रहा है। इस लेख पर प्राप्त असहमतियों या प्रतिक्रियाओं का हमें इंतजार रहेगा :

समय के संदर्भ में साहित्य को देखना-समझना न केवल साहित्य बल्कि समय को भी देखने-समझने के लिए जरूरी है। समय और साहित्य दोनों एक-दूसरे के सापेक्ष हैं। कोई चाहे तो यहां उज्र कर सकता है कि समय के साथ साहित्य की इस तरह बराबरी या समानांतरता दिखाना साहित्य को कुछ ज्यादा ही महत्व देना है, क्योंकि समय साहित्य से आगे और ऊपर का उपक्रम है। इन दोनों के वरीयता-क्रम में समय की स्थिति पहले है। किसी भी समुदाय या समाज का इतिहास पहले शुरू होता है, साहित्य उसके कुछ कालांतर में। इस बात को यों भी कहा जा सकता है कि किसी भी समुदाय या समाज का जीवन पहले शुरू होता है, उसकी भाषा और उसका साहित्य कुछ बाद में। इसका अर्थ यह हुआ कि साहित्य की उत्पत्ति या सृजन की पृष्ठभूमि में समय या इतिहास या जीवन अनिवार्यतः होता है। इसका अर्थ यह भी हुआ कि समय या इतिहास या जीवन साहित्य का उपजीव्य और उसकी अंतर्वस्तु बनकर संरचित या पुनर्रचित होता है। ऐसा कोई सार्थक शब्द-विन्यास या वाक्य सृजनात्मक भाषा में नहीं होता, जिसकी कोई सामयिक या ऐतिहासिक या जीवनगत तर्कसंगति अवस्थित नहीं होती। यहां तक कि वे लोग भी जो साहित्य को समय या इतिहास से परे और निरपेक्ष मानते हैं या मानने का दावा करते हैं, कहीं न कहीं, चाहे बहुत अव्यक्त और निगूढ़ और प्रच्छन्न रूप में ही सही, अपने समय और इतिहास के किसी न किसी पक्ष या प्रारूप से संचालित होते हैं। यह वस्तुतः सृजनात्मक शब्द की स्वाभाविकता और मूलभूत वृत्ति है कि वह अपने समय और इतिहास से विलग नहीं रह सकता। समय और इतिहास शब्द को उसका अर्थ और उस अर्थ को उसका संदर्भ देते हैं। स्पष्ट है कि समय और इतिहास के बिना साहित्य का निस्तार नहीं।

समय के साथ जब साहित्य इस तरह नाभिनालबद्ध है तो तय है कि सृजन की तरह उसका अधिगम भी समय या इतिहास के परिप्रेक्ष्य या सहकार में ही हो सकता है। समय या इतिहास या जीवन चूंकि निरंतर गतिशील और परिवर्तनशील होता है अतः उसकी सृजन और अधिगम दोनों ही प्रक्रियाएं भी निरन्तर गतिशील और परिवर्तनशील होती हैं। हम यहां चूंकि आलोचना की पैरवी में

हैं अतः यह उसका अपरिहार्य तकाजा है कि हम यह कहें कि साहित्य का अधिगम भी समय और इतिहास और जीवन की संगति में ही हो सकता है। वैसे तो ऐसा हमेशा होता आया ही है; हिंदी-आलोचना का अधिकांश इसका गवाह है, लेकिन इसे बराबर और बार-बार याद दिलाने की जरूरत पड़ती है कि समय का संदर्भ लिए बिना किसी भी सृजनात्मक शब्द का सही-सही अर्थ नहीं पता लगाया जा सकता। हम अंदाज से, यादृच्छिकता से या जोड़-तोड़ से साहित्य की व्याख्या बाज वक्त कर तो सकते हैं लेकिन वह व्याख्या इतिहास की कसौटी पर खरी उतरेगी ही, इसकी कोई गारंटी नहीं दे सकता। हालांकि यह सच है कि शब्द का कोई एक या पूर्ण गारंटीशुदा अर्थ नहीं होता, समय और व्यक्ति के अंतर से वह बदलता भी रह सकता है लेकिन फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि एक निश्चित समय या व्यक्ति द्वारा प्रस्तुत अर्थ उसके अपने संदर्भ-विशेष में पूर्ण और स्वायत्त होता है। यदि ऐसा न हो तो अर्थ की अराजकता का खतरा पैदा होने का अंदेशा बन आ सकता है, जो कि एक बहुत ही गैर-ऐतिहासिक स्थिति है।

शायद यही कारण है कि पिछली शताब्दी और खास तौर से आजादी के बाद से लेकर अब तक साहित्य का अध्ययन कम से कम हिंदी में तो सही ही, समय के अनुशासन में बंधकर किए जाने की प्रवृत्ति ने जोर पकड़ा था। छठे दशक में संभवतः पहली बार समय का यह अनुशासन पीढ़ीपरक अध्ययन के रूप में सामने आया, जब 'भूखी पीढ़ी', 'श्मशानी पीढ़ी' जैसे प्रत्यय सामने आए। इस समय से लेकर अब तक हिंदी-आलोचना की लगभग यह परिपाटी ही बन गई कि हर विधा का पीढ़ीगत अध्ययन किया जाए। एक तरह से देखा जाए तो यह प्रथा नई पीढ़ी के दबाव के चलते शुरू हुई। हिंदी में यह लगभग एक तरह का अंधविश्वास ही है कि यहां हर दसवें साल एक नई पीढ़ी पैदा हो जाती है और वह अब तक के सारे पैमानों और परिपाटियों को बदल देती है। साहित्य को समझने-समझाने, सृजन-प्रक्रिया, वस्तु-अंतर्वस्तु, सरोकार इत्यादि के उसके अपने मानदंड होते हैं और अनिवार्यतः वे पिछले से भिन्न और आगे के होते हैं। नई पीढ़ी का दबाव यह होता है कि उसे उसके अपने समय और ऐतिहासिक संदर्भ-विशेष में समझा जाए, परंपरा की लाठी से उसे न हांका जाए, पुरनियां पीछे हटें और हमें आगे आने दिया जाए; आदि-आदि। एक तरह से देखा जाए तो यह उचित ही है। इससे चीजें जल्दी-जल्दी विकसित होती हैं, नई प्रवृत्तियां रेखांकित होती हैं, साहित्य की वस्तु-अंतर्वस्तु में नवोन्मेष आता है, आलोचना के सामने नई चुनौतियां दरपेश होती हैं। अतः साहित्य का दशकाधारित अध्ययन-विश्लेषण किसी माने में कोई अनुपयुक्त वृत्ति नहीं, अपितु अधिकांशतः एक संभावनाशील प्रवृत्ति ही है क्योंकि, जैसा कि मैंने कहा, इससे आगे का रास्ता जल्दी और बहुआयामी तरीके से खुलता है। हां, इतना अवश्य ध्यान में रहना चाहिए कि परंपरा के विकासशील तत्वों की उपेक्षा न हो, पिछली पीढ़ी को पुराना या बासी कहकर एकदम किसी कोने में न डाल दिया जाए, नए के नाम पर अपने-आप को एकदम स्वयंभू और सर्वोपरि न मान लिया जाए; जैसा कि पिछले दिनों हिंदी की नई कथा-पीढ़ी के एक गुट ने जगह-जगह लिखकर और बोलकर और व्यवहार कर प्रदर्शित किया कि सब-कुछ केवल वह जानता है, उसी का लिखा असली है, वही सबसे प्रासंगिक है, बाकी के लोग उनके सामने कुछ नहीं; इत्यादि-इत्यादि। इन बाकी के लोगों में उनकी अपनी ही पीढ़ी के कुछ रचनाकार थे, जो उनसे कुछ अलग किस्म का लिख-बोल रहे थे और इनके वर्चस्व को चुनौती दे रहे थे, इनके सरोकारों पर सवाल उठा रह थे। हिसाब से तो

यह द्वंद्व एक बहुत ही संभावनाशील स्थिति थी, इसे अगर वैमर्शिक तौर पर आगे बढ़ाया जाता तो हिंदी की युवा कहानी पर एक बहुत ही सार्थक और अग्रगामी बहस हो सकती थी, परंपरा के सामने एक विकल्प खड़ा किया जा सकता था लेकिन ऐसा नहीं हुआ। सारी बातें पत्रिकाओं, गोष्ठियों, प्रतिष्ठानों पर कब्जा करने के रास्ते पर चल पड़ीं और आलोचना चुपचाप खड़े-खड़े सारा खेल देखती रही। हुआ यह भी कि पिछली पीढ़ी के लोग भी इस गुटबाजी के संक्रमण की चपेट में आए और पैंतरे बदलते दिखाई दिए। सारा दृश्य लगभग वैसा ही हो गया कि मानो साहित्य की दिल्ली के तख्त पर अपना परचम लहराना है, अब इसके लिए चाहे जो करना पड़े! राजनीतिक सत्ता के गलियारों में देश-प्रदेशों की राजधानियों में आए दिन जो उठा-पटक देखने में आती है, लगभग वैसी ही उठा-पटक साहित्यिक राजधानियों के गलियारों में भी दिखाई दी। इस पूरे प्रक्रम में सबसे ज्यादा किरकिरी आलोचना की हुई क्योंकि वह यह तय नहीं कर पाई कि उसे किस तरफ होना चाहिए। वह लगातार विचलित होती रही और कोई पुख्ता मूल्य-निर्णय नहीं कर पाई। जो हो। यह वाकया मुझे याद आया तो मैंने इसकी चर्चा की।

दरअसल युवा-पीढ़ी पर जब भी हम बात करते हैं तो आलोचना पर सबसे पहले हमारा ध्यान जाता है, जाना चाहिए। आलोचना का हर समय यह दायित्व होता है कि वह रचना को उसके समकाल के संदर्भ में बखूबी हर तरह से परखे और अपना पक्ष रखे। आलोचना की कमियों, कमजोरियों और लचर रवैये के चलते ही ऐसा होता है कि रचना का सही-सही मूल्यांकन नहीं हो पाता, जेनुइन रचनाएं अपना नोटिस लिए जाने के लिए तरसती रह जाती हैं जबकि दूसरे-तीसरे दर्जे की रचनाएं महत्व पा जाती हैं। मित्रता, लेन-देन, मतवाद इत्यादि के आयाम जब प्रधान हो उठते हैं तो अमूमन ऐसी स्थितियां पैदा होती हैं। यह ठीक वह स्थिति है जो राजनीतिक सत्ता के दरीचों में आए दिन देखने को मिलती है। सत्ता का कोई संगत तर्क हो, यह जरूरी नहीं। कई बार सत्ता का तर्क सिर्फ सत्ता होता है। ऐसी स्थिति में मूल्य-निर्णय की बात पृष्ठभूमि में चली जाती है और लाभ-लोभ की तात्विकताएं सामने आ जाती हैं। पेशेवर आलोचना की यह दुर्गत सचमुच आश्चर्यजनक है हालांकि आश्चर्य जैसा भी इसमें कुछ नहीं ही तो है। यह समय की बलिहारी है, जिसमें अधिकांश व्यक्ति एक-दूसरे की देखा-देखी कार्यरत हैं। जोखिम उठाने का माद्दा या तो खत्म हो गया है या बहुत ही कम रह गया है। समस्याएं ज्यों की त्यों अनसुलझी पड़ी हैं और लोग आत्मरति में निमग्न हैं। प्रतीत होता है कि इतिहास का डर उनके दिमाग से उतर गया है। इतिहास की यह वृत्ति है कि वह हर पिछली पीढ़ी से अपने अब तक के किए का लेखा-जोखा मांगता है। हर आने वाली नई पीढ़ी के मार्फत वह यह काम करता है। पिछली पीढ़ी यदि अपना हिसाब देते हुए बगलें झांकने लगे तो इसका साफ मतलब है कि उसने कहीं कुछ गड़बड़ जरूर किया है। वैसे तो यह स्थिति लगभग हर ऐतिहासिक मोड़ और समयांतर में दिखाई देती है लेकिन मौजूदा समय इस लिहाज से अपेक्षाकृत ज्यादा संकटपूर्ण है जबकि लगभग हर तरह की राजनीति तरह-तरह के अननुमेय संक्रमणों का शिकार हुई है। इतिहास दरअसल हर जिम्मेदार व्यक्ति से यही सवाल पूछता है कि आपने समय के तकाजों पर क्या रुख अख्तियार किया?

बात को थोड़ा साफ और प्रामाणिक बनाने के लिए यहां हिंदी की कुछ महत्वपूर्ण पत्रिकाओं के संपादकों के संपादकीयों की तसदीक ली जा सकती है। मसलन, 'पहल' के संपादक ज्ञानरंजन

'पहल' की दूसरी पारी के पहले अंक की 'कुछ पंक्तियां' में लिखते हैं 'पुराने होनहारों में सन्नाटा है, उनके भीतर खिलेगा तो देखेंगे की मनोवृत्ति कायम है। यह दबंगई है। हैसियत बना लेने वाले और पुराने समर्थ रचनाकारों की चाल में एक सफलीभूत गर्वीलापन आ गया है। ये दरारों में अपना घर बना रहे हैं, ये पंक्तियों को आगे-पीछे करते हैं, शीर्षकों को बदलते-बदलते ही शाम हो जाती है पर इनका एक मजबूत संयुक्त परिवार है। ये प्रतिबद्धताओं से परे चले गए हैं।' (पहल 91, जनवरी 2013, पृ. 5)। वर्तमान साहित्यिक समय को पहचानते हुए आगे वे लिखते हैं- 'कठिनाई यह है कि इधर कलह, तू तू, लांछन, दंगा, दंगल, और वकालत बहुत बढ़ गई है। जो विश्वसनीय और मजबूत स्वर थे वे भी इसी मिर्च मसाले के शिकार हुए या अवसादग्रस्त हुए। मारकाट मची हुई है, सहमे हुए बच्चे गर्दन घुमा-घुमाकर देख रहे हैं, चुप हैं, विचलित हैं या इंटरनेट की शरण में हैं। कुछ हैं जो चौराहों पर रुके हैं, भांप रहे हैं कि क्या करें या वही कि खिलेगा तो देखेंगे जबकि हिंदी का विश्व साम्राज्य बढ़ रहा है, प्रकाशकों का विश्व साम्राज्य बढ़ रहा है। अमीरी आ रही है, विभोर कर रही है, प्रतिरोध ठप है या खुदरा है।' (वही)। आगे फिर वे आलोचना को कठघरे में लाते हैं और सवाल दर सवाल करते हुए-जिनका कोई जवाब फिलहाल उसके पास नहीं है और सचमुच वह अभियुक्त जैसी स्थिति में है-उस पर आरोपों की झड़ी लगा देते हैं 'आलोचक और मार्गदर्शक क्या कर रहे हैं? आलोचना की पीठ अध्यापकों के पास हैं। वे वाचाल हैं, लोकार्पित हैं, अध्यक्षताएं कर रहे हैं, जगह जगह जाकर उन्होंने शताब्दी तमाशा मचाया हुआ है क्योंकि कोष और श्रद्धा उसी जगह है। वे व्यस्त हैं, वे उद्घाटन और नियुक्तियां करेंगे, भक्त बनाएंगे, छोटे छोटे लिटरेरी क्लब बनवाएंगे, फुटकरों का संग्रहण करेंगे। वे आपको पुरस्कृत करेंगे और प्रतिदिन एक समारोह रचाएंगे। एक धारा बन गई है, उस लीक पर वृद्धों की राह पर प्रौढ़ भी चल पड़े हैं, अब नवतव्यों की बारी है।' (वही)।

हम याद दिला दें कि यहां हिंदी-आलोचना की मजम्मत करना हमारा अभिप्राय नहीं है। आलोचना हमारा विषय-संदर्भ भी नहीं है। आलोचना को हम बार-बार जो यहां ला रहे हैं तो उसका तात्पर्य कुछ और है। आलोचना सिर्फ आलोचना नहीं होती वह और भी बहुत-कुछ होती है। आलोचना का संबंध सिर्फ साहित्य से नहीं है बल्कि जैसा कि कहा जाता है, उसका संबंध पूरी सभ्यता से होता है। आलोचना केवल साहित्य की नहीं बल्कि सभ्यता की समीक्षा होती है। मुक्तिबोध ने जब यह बात कही थी तो केवल साहित्य उनके ध्यान में नहीं था, समूचा समय उनके ध्यान में था। और उसमें भी समकाल सबसे ऊपर था। अतीत और भविष्य की असल कसौटी और पैमाना वर्तमान ही होता है। वर्तमान को केन्द्र में रखकर ही हम अतीत और भविष्य का आकलन-पुनराकलन करते हैं। वर्तमान की भूमि पर खड़े होकर ही हम आगे और पीछे देख सकते हैं। अतः वर्तमान प्रकारान्तर से एक स्थायी और अजर-अमर स्थिति है। एक शाश्वतता और अखंड निरन्तरता का भाव वहां होता है। यह एक भौतिक और प्रत्यक्ष दृश्यमानता की स्थिति है जिसका सीधा संबंध जीवन और उसे प्रोत्साहित-निरुत्साहित या संभव-असंभव करने या आगे या पीछे ले जाने या एक ही जगह पर ठहरा देने वाली स्थिति-परिस्थितियों से होता है। अतः वर्तमान का सर्वोपरि महत्व असंदिग्ध है, उसके महत्व या सर्वोपरि प्रासंगिकता पर कोई बहस नहीं है। बहस दरअसल जिस बात पर है, वह यह है या होनी चाहिए कि वर्तमान के प्रति हमारा रुख क्या है? वर्तमान की हमारी समझ क्या है? वर्तमान को हम किस रूप में लेते हैं और उसमें हमारा कुछ हस्तक्षेप है या नहीं और यदि है तो उसकी

तत्व-प्रकृति और प्रवृत्ति क्या है? हमारी प्राथमिकताएं और वरीयताएं क्या हैं और कुल मिलाकर हम किस भूमिका में हैं? हिंदी के वर्तमान के संदर्भ में पूछें तो अखिलेश के शब्दों में मैं कहना चाहता हूं कि '....हिंदी साहित्य के तमाम प्रपंचों, पुरस्कारों, फेलोशिप, पदों, कमेटियों, विदेश यात्राओं, प्रशस्तियों, समीक्षाओं, षडयंत्रों, रणनीतियों और गप्पों अफवाहों के कोलाहल कोहराम में अनेक मुद्दे, सिद्धांत, विचार, संवेदन, वाद विवाद अभिव्यक्त होने के लिए पुकार रहे हैं। क्या हम उन्हें सुन पा रहे हैं अथवा सुनने की इच्छा रखते हैं?' (तद्भव 26, अक्टूबर 2012, संपादकीय, पृ. IV)। अखिलेश के इस प्रश्न में ही शायद उत्तर भी छुपा हुआ है और वह यह कि 'शायद नहीं!' जब हम पुरस्कारों, फेलोशिप, पदों, कमेटियों, विदेश यात्राओं, प्रशस्तियों, समीक्षाओं इत्यादि और उनके षड्यंत्रों, रणनीतियों, तिकड़मों, गप्पों-अफवाहों के कोलाहल-कोहराम इत्यादि में फंसे रहेंगे, हमारा ध्यान जब इन्हीं सब पर संकेंद्रित होगा तो भला यह कैसे संभव है कि हम अपनी अभिव्यक्ति के लिए पुकारते अपने समय के अनेकानेक जलते-उबलते मुद्दों, सिद्धांतों, विचारों, संवेदनों, वाद-विवादों इत्यादि को सुन पाएं या उन्हें सुनने की इच्छा रख पाएं! एक समय में कोई एक जगह पर ही तो हो सकता है। हम या तो इधर ही रह सकते हैं या उधर ही। हम एक बार में कई-कई जगह एक साथ नहीं हो सकते। हालांकि हिंदी में अब यह करिश्मा भी देखने में आया है कि आप इधर भी हैं और उधर भी। आप एक साथ मार्क्सवादी भी हैं और हाथ में कई लपेटों वाला कलावा भी आपके बंधा है, साथ ही एक-एक उंगली में कई-कई मंत्र-पूत नगों वाली अंगूठियां भी आपने पहनी हुई हैं। आप जातिवाद, संप्रदायवाद, पुरुषवाद, क्षेत्रवाद, गुटवाद यानी कि हर तरह की संकीर्णता के कट्टर विरोधी हैं, मंचों और सार्वजनिक अभिव्यक्ति के मौकों पर आप इन सबके प्रति बहुत प्रखरता, अकाट्य तार्किकता और आक्रोश से भरे आलोचनात्मक बयान देते हैं लेकिन जैसे ही अपने व्यक्तित्व के गर्भ-गृह में घुसते हैं, एकदम इनके उलट आचरण आपका हो उठता है। घर में, अपने व्यक्तिगत स्तर पर आपका एजेंडा कुछ और होता है और बाहर और दूसरे लोगों के लिए कुछ और। आप बहुत धांसू विमर्शमूलक रचनाएं लिखते हैं, एकदम लगता है कि समाज की और समय की बहुत बारीक पकड़ आपके पास है लेकिन जैसे ही आपका आचरण और व्यवहारगत पहलू लोगों के सामने आता है, आपकी निजी प्रतिबद्धताएं उजागर होती हैं, आपके लिखे की आधी ताकत स्वाहा हो जाती है। यह बात किसी को तुरंत समझ में नहीं आती, बहुत बाद में, तब आती है जब नई पीढ़ी नोटिस लेना बंद कर देती है। नई पीढ़ी का नोटिस न लेना इस बात का सबूत होता है कि आप अप्रासंगिक हो रहे हैं। दरअसल बात यहां केवल आचरण और रचना-कर्म/विचारधारा के द्वैत या अंतर्विरोध या आचरण के आधार पर किसी रचनाकार को कमतर सिद्ध करने या उसे गरियाने की नहीं है, जैसा कि अखिलेश अपने उक्त संपादकीय में हवा में तीर चलाते हुए-सा कहते हैं 'किसी के सृजन और कर्म की सीमाओं, अंतर्विरोधों को उजागर करके उसे कमतर सिद्ध करने के बजाय उसके आचरण को मुद्दा बनाकर उसका आखेट करने के उदाहरण बहुतेरे मिलेंगे।... समस्या वहां होती है जब केवल स्वयंभू आचारसंहिता को आधार बनाकर आघात किए जाते हैं और वह भी कई बार बगैर किसी तथ्य, आधार और प्रसंग के।' (वही, पृ. II)।

पता नहीं, अखिलेश यहां किस घटना या व्यक्ति-विशेष की तरफ इशारा कर रहे हैं! कोई घटना या व्यक्ति-विशेष यहां है जरूर, जिसे लक्ष्यकर वे यह सब लिख गए। लेकिन बात दरअसल यह

है ही नहीं। कम से कम हिंदी में व्यक्तिगत आचरण के आधार पर किसी को कमतर सिद्ध करने का रिवाज अभी चला नहीं है। जिस दिन यह रिवाज चलना शुरू हो गया, हिंदी में स्तरीय लेखकों का टोटा पड़ जाएगा! खुद अखिलेश के ही हिसाब से पद, पुरस्कार, कमेटी, विदेश यात्रा, प्रशस्ति, समीक्षा इत्यादि को 'मानवीय गरिमा की कसौटी' (वही) माना जाए तो अनुमान लगाया जा सकता है कि हिंदी की कितनी लेखक-प्रतिभाएं इस पर खरी उतर पाएंगी! कोई चाहे तो कह सकता है कि पद, पुरस्कार, कमेटी, विदेश यात्रा, प्रशस्ति, समीक्षा इत्यादि तो मानवीय गरिमा की कसौटी नहीं, बल्कि मानवीय कमजोरियों के उदाहरण हैं। ठीक है, ये मानवीय कमजोरियां भी मानी जा सकती हैं। लेकिन फिर आप मंच पर या भाषा में इन्हें हिकारत से क्यों देखते हैं? फिर यह रोना क्यों कि इस कोलाहल-कोहराम में बहस के असल मुद्दे छूटे जा रहे हैं। मनुष्य है तो अच्छाइयों के साथ कमजोरियां भी स्वभावतः उसके साथ लगी हैं अतः यह कोई मसला ही नहीं! और इस तरह सारी बात जहां से चलती है, लौटकर वहीं आ लगती है। ऋण सारे गुणनफल को शून्य में तब्दील कर देता है। यह दो नावों पर एक साथ सवारी करने का नतीजा है जो आजकल अमूमन दिखती नहीं हैं। भाई लोगों ने अपने व्यक्तित्व को इतना संश्लिष्ट बना लिया है कि ये छोटी-मोटी चीजें अब उसमें आसानी से छिप जाती हैं। लेकिन मैं यहां दरअसल अखिलेश से एक कदम आगे की बात कहना चाह रहा था और वह यह कि लेखक के व्यक्तिगत आचरण में यदि कोई अमानवीयता या मानवीय गरिमा-हीनता है तो यह जरूर से जरूर होना चाहिए कि वह गरिमा-हीनता किसी न किसी रूप में उसकी रचनाओं में अंतर्न्यस्त हो। सृजन-प्रक्रिया का यह एक स्वाभाविक अभिक्रम है कि ये निजताएं या व्यक्तिगत आचरणगतताएं किसी न किसी तरह रचना में आती ही हैं। कोई कितनी भी चालाकी बरते, शब्दों का कोई कितना भी बड़ा खिलाड़ी क्यों न हो, कोई न कोई अभिव्यक्ति-संरचना वहां ऐसी वजूद में आ ही जाती है जो लेखक की चुगली खाने लगती है। शब्दों या पंक्तियों के मध्य, जिसे अंग्रेजी में 'इन विट्वीन द वर्ड्स' और 'इन विट्वीन द लाइंस' कहा जाता है, कुछ न कुछ ऐसा वहां जरूर होता है, जो पकड़ में यदि आ जाए तो सारा भेद खुल सकता है। मेरा ऐसा मानना है कि आलोचना बखूबी यह कर सकती है, बशर्ते कि उसके औजार समय-भेदी और शब्द-भेदी दोनों हों। वह ऐसे औजारों से लैस हो सकती है, बशर्ते कि वह साहित्य के साथ-साथ ज्ञान और संवेदन के दूसरे अनुशासनों और संदर्भों की समयनिष्ठ दीक्षा ग्रहण की हुई हो। वह एक ऐसी बहुलतावादी इतिहास-दृष्टि विकसित कर सके, जो रचना को उसकी समग्रता में स्वायत्त कर सके और उसकी अनिवार्यता और प्रासंगिकता को सामने ला सके। इसी तरह की इतिहास-दृष्टि लेखकीय व्यक्तित्व और व्यक्तिगतताओं की उन संश्लिष्टताओं को खोल सकती है, जिनका जिक्र ऊपर आया और जिनमें बहुत सारी अन्यथाएं अनुस्यूत हुई चली आती हैं। आज इस तरह की इतिहासदृष्टि-संपन्न आलोचनात्मकता की निहायत ही जरूरत है क्योंकि समय की अंदरूनी सतह को इसी से भेदा जा सकता है।

आज हिंदी-पट्टी में दरअसल इसी इतिहासदृष्टि-सम्पन्न आलोचनात्मकता की कमी शिद्दत से महसूस की जा रही है। सुधीश पचौरी ने कुछ समय पहले 'वाक्' के अंक 3 (वाणी प्रकाशन 2008) के अपने संपादकीय में यह सवाल उठाया था। उन्होंने लिखा था 'हिंदी क्षेत्रों के बौद्धिक अवसान में आलोचनात्मकता का अवसान क्या सोचने का विषय नहीं?' अंत में सारी बात को हालांकि उन्होंने हिंदी-आलोचना पर लाकर टिका दिया था और 'आलोचनात्मकता का अवसान' की थीसिस अधर

में लटकी रह गई थी, जहां से बात शुरू की थी। जो हो। असल बात वही थी। इसके कोई चार साल बाद एक बार फिर यह बात 'तद्भव' के संपादक अखिलेश ने अंक 26 के अपने संपादकीय में जोरदारी के साथ उठाई। अखिलेश ने लिखा 'हम इधर देख रहे हैं कि हमारे समूचे रचनात्मक पटल पर गंभीर वैचारिक मंथन की परम्परा क्षीण होती जा रही है। इतिहास पर दृष्टि डाली जाए तो हिंदी साहित्य अनेक ऐतिहासिक महत्व के विमर्शों, बहसों और विवादों से समृद्ध दिखेगा।... किंतु क्या हम ठीक इसी तरह नई सदी के किसी नए विचारोत्तेजक वाद विवाद संवाद को भी रेखांकित कर सकते हैं जिसने साहित्य जगत को मथा हो? अगर बीते एक दशक को साक्ष्य के रूप में लें तो दिलचस्प सचाई सामने आती है कि हमारे बीच न तो साहित्य की किसी नवीन सैद्धांतिकी का जन्म हुआ न बड़े सरोकारों वाले विषय को लेकर वैचारिक संग्राम छिड़ा। बड़े वाद विवाद हुए भी तो उनकी पृष्ठभूमि में प्रायः आचरण संबंधी समस्याएं अधिक रहीं न कि चिंतन और सृजन के बड़े प्रश्न।' (अखिलेश, तद्भव 26, अक्टूबर 2012, संपादकीय, पृ. II)। चिंतन और सृजन के बड़े प्रश्नों के अभाव का नतीजा यह हुआ कि रचनाएं जड़ और ठस होने लगीं। आज जरूरत इस बात की है कि यह जड़ता टूटे, और ऐसा तभी हो पाएगा, जब बड़े वैचारिक मसलों की तरफ हम ध्यान दें 'बहरहाल जो भी हो; फलश्रुति यही है कि आज सृजन की दुनिया में जड़ता और नींद को तोड़ देने वाला कोई वैचारिक विस्फोट नहीं हो रहा है।' (वही, पृ. III)। अखिलेश के कुछ ही महीने बाद ज्ञानरंजन इस बात को 'पहल' में उठाते हैं, जिसका हवाला पहले दिया गया। ज्ञानरंजन अपनी बात का समापन इस बात से करते हैं कि अब संभावनाएं सिर्फ नई पीढ़ी से हैं, और वह भी खुद रचनाकारों की नई पीढ़ी से; हालांकि वे किसी वैचारिक विस्फोट की बात नहीं करते, उनसे सिर्फ इतनी पेशकश करते हैं कि वे आलोचना का कार्यभार भी अपने कंधों पर वहन करना शुरू करें 'हमारा प्रयास है कि रचनाकार आलोचना में प्रवेश करें। हिंदी में पहले भी आलोचना को रचनाकारों ने संभाला था। बड़े उदाहरण हैं। मठों को टूटना ही होगा।' (पहल 91, जनवरी 2013, पृ. 6)। ज्ञानजी की पेशकश तो ठीक है और ऐसा पहले हुआ भी है। लेकिन इसके खट्टे-मीठे अनुभव भी पाठकों को याद होंगे। जहां तक मुझे याद है, मोटे तौर पर योजनाबद्ध तरीके से ऐसा दो बार हुआ है। एक बार कविता में-छायावाद काल में और दूसरा कहानी में-नई कहानी काल में। यों रचनाकार हर युग में कमोबेश आलोचना में हाथ आजमाते रहे हैं लेकिन योजनाबद्ध तरीके से ऐसा यदा-कदा ही हुआ है। मुक्तिबोध एक अपवाद की तरह हैं लेकिन उनका काम किसी पत्रिका या समूह की मुहिम के रूप में नहीं था, वह उनकी अपनी खुद की रचनात्मक परियोजना का हिस्सा था जिसकी दूसरी कोई मिसाल हिंदी में नहीं मिलती। मुझे नहीं लगता कि ज्ञानरंजन जिस नई पीढ़ी को आलोचना में आने का न्योता दे रहे हैं, वह वैचारिक विस्फोट जैसा कुछ कर पाएगी। हां, वह अपनी आलोचना द्वारा अपने खुद के लेखन को जरूर डिफेंड कर सकती है और वह भी खुद अपनी जगह को सुनिश्चित करने और उसकी सुरक्षा के लिए। हिंदी-पट्टी में आलोचनात्मकता के अवसान से जुड़े या साहित्य जगत को मथने वाले चिंतन और सृजन के बड़े प्रश्नों और बड़े सरोकारों वाले विषयों से लैस किसी नए विचारोत्तेजक वाद विवाद संवाद को वह संभव कर पाएगी, इसकी फिलहाल केवल शुभाशंषा की जा सकती है। वह ऐसा कर पाए, सबको ऐसी उम्मीद करनी चाहिए।

फिर से प्रेमचंद

सुवास कुमार

भारतीय साहित्य में देशीयता के सबसे बड़े लेखकों में प्रेमचंद अन्यतम हैं। उनकी रचनाएं लोक जीवन की जीवंत धड़कनों से भरी हुई हैं मगर वहां राष्ट्रीयता की परिधि को लांघकर विश्वजनीन जीवन से जा मिलने का भी सहज उपक्रम है। प्रेमचंद के कथा साहित्य की सार्थकता उसके मानवीय होने में है। उनकी रचनाएं अपने समय की गहन संपृक्ति में होकर भी अगले समयों तक पहुंचने की कुव्वत रखती हैं। कथा को सभ्यता और संस्कृति के 'फैक्ट' और 'फिक्शन' को साथ लेकर चलना होता है। अपने समय की सामाजिक सच्चाइयों को प्रेमचंद यथार्थवादी शिल्प में रचते हैं।

साधारण लेखक अपने समय का होता है लेकिन बड़ा लेखक अपने समय के साथ-साथ अगले समय का भी होता है। प्रेमचंद का अपना समय उनकी रचनाओं में अच्छी तरह उपस्थित है। समय की रचनात्मक उपस्थिति केवल समाजशास्त्रीय अथवा ऐतिहासिक दस्तावेज के रूप में नहीं होती, हालांकि कई आलोचक इस बात को सबसे अधिक महत्व देते हैं। साहित्य वस्तुतः समाजशास्त्र और इतिहास की अपेक्षा ज्यादा बड़ा काम करता है। कलाकार अपने समय की मानवीय धड़कनें पकड़ता है। प्रेमचंद ने यह काम बड़ी खूबी से किया है। हिंदी आलोचना में सबसे ज्यादा विवेचित होने वाले कथाकार हैं प्रेमचंद, लेकिन उनका यह अधिकांश विवेचन बहुत कुछ एकांगी ढर्रे पर हुआ है। प्रेमचंद के कथा साहित्य का अध्ययन जितना समाजशास्त्रीय मूल्यों की खोज के संदर्भ में हुआ है उतना कलात्मक मूल्यों के संदर्भ में नहीं। प्रेमचंद की लोकप्रियता का कारण अकेले उनके समाजशास्त्रीय अथवा ऐतिहासिक दस्तावेज-जैसा होने में नहीं। प्रेमचंद की शिल्प-शैली भी उस तरह की सीधी-समतल-सरल रेखा में चलने वाली भी नहीं जैसा कि आम तौर पर उसे बताया जाता है। गौर करने से पता चलता है कि प्रेमचंद की परवर्ती रचनाओं की हर पंक्ति में बंकिम भंगिमाएं हैं और उनमें गहरी व्यंजकता है। वास्तव में उनकी रचनाओं में प्रामाणिकता और कलात्मकता परस्पर घुले-मिले हैं।

प्रेमचंद की भाषा-शैली और शिल्प की बिलकुल निजी पहचान है। वे भारतीय जनजीवन से जिस रूप में स्वयं को जुड़ा हुआ महसूस करते थे, वह संबंध उनकी रचनाओं में उतर आया है। प्रेमचंद का चित्रण यथार्थवाद की योरोपीय परंपरा से हटकर भी है-- हम चाहें तो यथार्थवाद की अपनी भारतीय और प्रेमचंदीय कोटि बना सकते हैं। हिंदी के कई आलोचक एक विशेष किस्म के यथार्थ, जीवन-दृष्टि और विचारधारा के आधार पर कथासाहित्य के 'जेनुइननेस' की पहचान करते हैं : वे न केवल ताल्स्ताय बनाम काफ्का और प्रेमचंद बनाम जैनेंद्र-अज्ञेय जैसा बंटवारा करते हैं, बल्कि ऐसी

बंधी दृष्टि पर नाज भी। अपनी ऐसी अद्‌भुत विश्लेषण-क्षमता से, अपने ही तरीके से वे हिंदी के कथा-कुल में अलग्योझा करवा कर अपनी रोटी सेंक रहे हैं -- चाहे साहित्य का इससे कितना ही बुरा क्यों न होता हो।

यह तथ्य है कि हिंदी साहित्य में यथार्थवादी और प्रगतिशील लेखन की अवधारणा विकसित करने में प्रेमचंद के कथा साहित्य का सर्वाधिक योगदान है। प्रेमचंद का विश्वास था कि, लेखक या तो देखा हुआ लिखता है या जो लिख रहा है उसे कभी अवश्य देखेगा। (प्रेमचन्द : घर में, पृ. 88) अर्थात् लेखन वास्तविक, सामाजार्थिक स्थितियों और लेखक की कल्पनाओं और स्वप्नों से संबधित होता है। वैसे यह है कि प्रेमचंद की कथात्मकता वर्तमान के ठोस अस्तित्व और उसकी सार्थकता से गहरे जुड़ी है और उनमें वायवीय, किशोर या रूमानी कल्पनाएं और प्रौढ़ सामाजिक साम्य के बड़े स्वप्न नहीं मिलते, क्योंकि ज्यादातर वे जीवन की उपयोगी, वास्तविक जमीन पर ही खड़े मिलते हैं। इससे उनका लेखन प्रामाणिक और विश्वसनीय बनता गया।

अपने जमाने की जनविरोधी राजनीति का सर्वग्रासी कुरूप चेहरा देखकर प्रेमचंद ने उसका विरोध करना अपने लेखन का लक्ष्य बनाया था। इस दृष्टि से उनका समस्त लेखन राजनीतिक लेखन था, यद्यपि वे किसी विचारधारा-विशेष या दल-विशेष के भीतरी आदमी नहीं थे। सिर्फ अंग्रेजों की शोषक राजनीति के ही वे विरोधी नहीं थो, बल्कि स्वदेशी राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़ी पार्टी के सुविधा जीवी नेताओं के भी कटु आलोचक थे। हमारी आज की राजनीति के चेहरे का बड़ा हिस्सा भी प्रेमचंद के जमाने के राजनीतिक चेहरे से मिलता-जुलता लगता है। 1933 में प्रेमचंद ने अंग्रेजी हुकूमत की राजनीति को इस रूप में देखा था 'ब्रिटिश राजनीति की कुछ ऐसी चालें होती हैं जो साधारण आदमी की समझ में नहीं आतीं। समय पर बात पलट जाना, हरेक बात को स्थिति की दशा तथा अवसर को रबड़ की तरह खींचकर उसका अपने मन के अनुकूल अर्थ लगा लेना और घोर अन्याय और अत्याचार को भी न्याय तथा दयालुता की दुहाई से रंग देना, यह ब्रिटिश राजनीति की ही विभूतिप्रसाद, तत्परता तथा महत्ता है।' कहना न होगा कि हमारे कतिपय वर्तमान राजनीतिक दल उस जनविरोधी ब्रिटिश राजनीति से प्रभूत मात्रा में विभूति और प्रसाद ग्रहण कर चुके हैं। इस संदर्भ में किया गया प्रेमचंद का संघर्ष आज के रचनाकारों के लिए प्रेरक हो सकता है। लेकिन इसके साथ ही आज के रचनाकार को सावधान रहते हुए अपनी कला को एकायामी और स्टीरियोटाइप होने से बचाने के लिए भी संघर्ष करना पड़ेगा।

प्रेमचंद की भाषा बाहरी घटनाओं पर निर्भर रहते हुए उनके भीतर से अपनी अर्थवत्ता प्राप्त करती चलती है लेकिन आज के रचनाकर को बाह्य घटना-निर्भरता अपरिहार्य प्रतीत नहीं होतीं-- बल्कि जहां घटनाएं हैं भी तो वहां वह अपनी भाषा को जीवन के गूढ़तम और वृहत्तर आशयों तक पहुंचाने की कोशिश करता है। इस तरह वह अपने लेखन को बहुआयामिता प्रदान करता है। प्रेमचंद की घटना-निर्भरता इस कारण थी कि एक सजग-सक्रिय पत्रकार होने के कारण भी वे मनुष्य की स्थूल सामाजिकता को अपेक्षाकृत अधिक महत्व दिया करते थे। उनके आदर्शयुक्त यथार्थवाद की अवधारणा में उनके रचनाकार और पत्रकार इन दोनों ही रूपों का समन्वय देखा जा सकता है।

प्रेमचंद का लेखन सुविधा का, सुविधा में या सुविधा के लिए नहीं था। वे हमेशा खुद को ऐसा मजदूर बताते थे जिसके हाथ में फावड़े की जगह कलम थी। उन्होंने कठिनाइयों से भरा यह रास्ता

जान बूझकर, सोच-समझकर अख्तियार किया था। उन्होंने अंग्रेजों की बंधी-बंधाई नौकरी छोड़ी थी, अलवर रियासत की ओर से आई हुई मोटी तनख्वाह की पेशकश ठुकराई थी। ऐसा भी नहीं था कि प्रेमचंद की मानसिकता परंपरागत (सामंती) संस्कारों के प्रभाव से पूरी तरह से मुक्त रही हो। रचनाकार के व्यक्तित्व और कृतित्व में अंसगतियों का पाया जाना कोई अजूबा नहीं और वे प्रेमचंद में भी मिल सकती हैं। जमींदार परिवार में बेटी के लिए वर तय करना और लड़की दिखाने से इनकार करना, दामाद के द्वारा आगे की पढ़ाई के बारे में सलाह मांगे जाने पर उस पर कानून पढ़कर वकालत करने के लिए दबाव डालना आदि बातें उनकी व्यवहार-बुद्धि की परिचायक होती हुई भी उनके लेखन की संगति में नहीं हैं। दूसरी ओर देश सेवा और राष्ट्र-निष्ठा के नाम पर वे अपनी नौकरी और प्रतिष्ठा तक की जरा भी परवाह नहीं करते थे। यहां तक कि बीस आने रोज के हिसाब से उन्होंने गोरखपुर में खादी कपड़ों के बंडल लेकर फेरी लगाने का काम भी किया। उन्हें कोई खास चिंता नहीं होती थी कि घर में प्रायः ही पधारते रहने वाले अतिविशिष्ट अभ्यागतों को बिठाने के लिए ढंग की कुर्सी नहीं थी लेकिन इससे यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि प्रेमचंद अभावों में संतुष्ट रहने वाले जीव थे। वे रूस वालों की इस बात के लिए तारीफ करते थे कि उन्होंने क्रांति के बाद अपनी स्थिति उन्नत बना ली थी। धर्म के मामले में उनके विचार क्रांतिकारी थे। उनका कहना था कि, 'मेरी समझ में नहीं आता कि हिंदू धर्म किस पर टिका हुआ है। कबीर की तरह वे खुद को न हिंदू न मुसलमान मानते थे।

उन्होंने जीवन के विविध क्षेत्रों के बारे में विचार-मंथन किया था और अपने मंतव्य प्रकट करते रहे थे। वे स्त्रियों को पुरुष से बड़े समझते थे; दोनों में समानता चाहते थे और स्त्रियों के अधिकारों के प्रबल समर्थक थे- हालांकि स्त्रियों के नौकरी करने के खिलाफ थे। इस संबध में उनका कहना था कि, 'जरूरत इस बात की है कि स्त्रियां शिक्षित हों और उनके साथ-साथ स्त्रियों को वह अधिकार मिल जाए जो सब पुरुषों को मिले हुए हैं। जबतक सब स्त्रियां शिक्षित नहीं होगी और सब कानून-अधिकार उनको बराबर मिल जाऐंगे, तब तक महज बराबर काम करने से ही काम नहीं चलेगा।' (प्रेमचंद : घर में, पृ. 192) स्त्री-समस्या को वे पुरुषों से अलग बांट कर नहीं देखते थे और समझते थे कि 'समाज से लड़ने के लिए स्त्रियां कितनी विवश है, उससे कम विवश पुरुष नहीं हैं।' वे स्त्री-पुरुष को परस्पर पूरक के रूप में मानते थे। उनका साफ-साफ कहना था, 'जब स्त्रियां अपने को पुरुषों से अलग समझने लगेंगी तो याद रखो, संसार भयंकर हो जाएगा।' (वही पृ.137, 122) प्रेमचंद यद्यपि अपनी समझ और कला का निरंतर विकास करते गए, तथापि उनमें कोई निश्चित और व्यवस्थित विचारधारा ढूंढ पाना नामुमकिन है और इस बात में प्रेमचंद की कला की जीत है लेकिन इसका परिणाम यह हुआ कि आलोचकों को अपने-अपने विचार प्रेमचंद पर आरोपित करने का मौका खूब मिला। कलाकार एक व्यवस्थित और सुसंगत विचारधारा लेकर ही रचना में प्रवृत्त हो, ऐसी कोई अनिवार्यता नहीं होती। हां, उसे मनुष्य और मानवता के सौंदर्य और क्षमता में गहरी आस्था होनी चाहिए, जो प्रेमचंद में थी। यही कारण है कि उनके साहित्य में जीवन के सौंदर्य, सच्चाई, गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करने का भरा पूरा माद्दा है और यही बात उन्हें बड़ा लेखक बनाती है। उन्होंने जीवन को उसकी समस्त परिवेशगत पृष्ठभूमि में देखा है : घर-परिवार, गांव-समाज, शहर, सबके चित्रण उन्होंने किए हैं। उन्होंने किताबों से नहीं, जीवन से अपने कथानक लिए हैं - हालांकि वे

स्वीकारते हैं कि 'कथा का ढंग' उन्होंने ताल्सताय , रोमां रोलां और रवींद्रनाथ से सीखा।

साहित्य आरंभ से ही प्रेमचंद का अपना स्वाभाविक क्षेत्र रहा था। उनका विश्वास था कि, जब तक यहां के साहित्य में तरक्की न होगी, तब तक साहित्य, समाज और राजनीति सबके सब ज्यों-के-त्यों पड़े रहेंगे। साहित्य इन तीनों चीजों की उत्पत्ति के लिए एक बीज का काम देता है। साहित्य और समाज तथा राजनीति का संबंध बिल्कुल अटल है।' (वही पृ.69) जैनेंद्र कुमार का कहना था कि 'प्रेमचंद समाज के निदान में उतरते हैं, उसकी आत्मा की गहराई में नहीं' और यह भी कि उनमें जितनी सामयिकता है उतना 'तथ्यावगाहन' नहीं। अगर प्रेमचंद उस काम को अंजाम नहीं दे पाए जिसकी ओर जैनेंद्र कुमार ने संकेत किया है तो उसके कारण हैं पहली बात तो रचनाकार की प्रवृत्ति, रुझान और मानसिकता की है। हिंदी साहित्य के जिस ऐतिहासिक क्षण में प्रेमचंद उपस्थित हुए थे उस समय यह संभव है कि प्रेमचंद को भौतिक प्रश्नों को छोड़ देना उचित नहीं लगा हो, या फिर इतना वक्त ही नहीं मिला हो कि वे सामयिक प्रश्नों की उपेक्षा कर जीवन के दूसरे गहरे और गूढ़ रहस्यों में प्रवेश करते। जैनेंद्र जी को यह भी शिकायत थी कि प्रेमचंद के पात्र 'खानाबंद आदमी' हैं, अर्थात् उनमें पर्याप्त खुलापन नहीं है। विष्णु प्रभाकर को प्रेमचंद से यह शिकायत रही है कि उनमें गहन अनुभूतियों का अभाव है- 'उनको पढ़ते समय मन को संतोष होता है, सुख होता है पर किसी गहन अनुभूति से हम तिलमिला नहीं उठते, लेकिन प्रेमचंद की परवर्ती रचनाएं, यहां तक कि उनकी अनेक कहानियां, जैसे 'आत्माराम', 'ईदगाह', 'सद्गति', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'कफन' आदि, इस बात का प्रतिवाद करती लगती हैं। वैसे इस बात में सच्चाई है कि प्रेमचंद को नगर-जीवन की जटिलताओं में जाने का अवसर नहीं मिला। एक और बात है कि प्रेमचंद की मानसिकता में एक प्रकार का 'देहातीपन' है पश्चिमी तौर-तरीकों और शिक्षित आधुनिक युवा वर्ग के प्रति वे नकारात्मक रुख रखे हुए मिलते हैं। हालांकि उनमें अपने समाज और संस्कृति के प्रति आत्मालोचन का भाव मिलता है, फिर भी वे पश्चिम की तुलना में अपनी सभ्यता और संस्कृति को श्रेष्ठ मानते हैं वे किसान और मध्यवर्गीय भारतीय जीवन के विशेष रूप से कथाकार थे और उनकी सीमाएं प्रायः इन वर्गों की सीमाएं भी हैं। ये दोनों वर्ग व्यक्तिगत सम्पत्ति के त्याग की कल्पना भी नहीं कर सकते। प्रेमचंद अपने केंद्रीभूत विषय या समस्या से सीधे जुड़ने वाले चरित्रों के परे का दृश्य कभी नहीं देखना-दिखाना चाहते और अपने दृष्टि-पथ की सीमा सदैव बनाए रखते हैं। फलतः उनके परिवेश का बहुत-कुछ छूट जाने का खतरा भी बना रहता है। परवर्ती काल में फणीश्वरनाथ रेणु-जैसे रचनाकार ने प्रेमचंद की इस सीमा से सबक लेकर परिवेश को उसकी व्यापकता और समग्रता में देखने की कोशिश की।

एक साहित्यिक के लिए आत्मालोचन वह अनिवार्य गुण है जिससे उसका लेखन समय का साथ देता चलता है; वह खुद का मांजता और तरोताजा होता रहता है। प्रेमचंद ऐसे जनपक्षधर लेखक थे जिसे गुलाम देश में रहते हुए दोहरी भूमिका निभानी पड़ रही थीः एक ओर वे अंग्रेज शासकों के विरोधी थे तो दूसरी ओर अपने देश के लोगों की बुरी आदतों की भी कड़ी आलोचना करते थे। लखनऊ में वायसराय के आगमन पर स्वागत में चालीस हजार रुपयों की आतिशबाजी की गई थी जिसे देखने के लिए लोगों का हजूम उमड़ पड़ा था। प्रेमचंद इसे देश की जनता के पैसों का विरोधी शासन द्वारा किया जाने वाला अपव्यय तो मानते ही थे, इस बात का उन्हें दूना रंज था कि लोग

इस घरफूंक तमाशे पर खुश हो रहे थे। वे शिवरानी देवी के आगे बार-बार अपनी खीझ प्रकट करते रहते थे कि, 'बहुत दिन लग जाएंगे हिंदुस्तानियों को अपनी मनोवृत्ति बदलने में। क्योंकि इधर वे कोई 500 वर्ष से गुलामी में रह चुके हैं, तुम क्या समझती हो कि उनकी आत्मा 10-20 साल में सुधर जाएगी। अगर यहां के सभी आदमी जिम्मेदार ही होते तो इस तरह का मुल्क न होता। हमारी इसी कमी से सरकार राज्य कर रही है। मुट्ठी-भर अंग्रेज पैंतीस करोड़ आदमियों पर राज्य करें इसके माने क्या हैं? हममें चरित्रबल, आत्मबल कुछ भी नहीं है, (वही, पृ. 50 और 117) प्रेमचंद का यह आत्मालोचन आज की परिस्थितियों में भी उतना ही प्रासंगिक है। आज हालांकि देश आजाद हो चुका है, फिर भी आजादी का सकारात्मक लाभ लठाने की बजाय देश भ्रष्टाचार में आंकठ डूब रहा है। ऐसा चौतरफा भ्रष्ट आचरण प्रेमचंद सहन नहीं कर सकते थे।

उस जमाने के लेखक अपने सामाजिक और राष्ट्रीय दायित्वों के प्रति कम गंभीर नहीं थे। स्वंतत्रचेता प्रेमचंद जब फिल्मों के लिए लेखन करने के निमित्त बेबई गए थे तब भी अपने लेखन-संबंधी दायित्वों के प्रति पूरी तरह सचेत थे। वे बच्चों को अपने साथ नहीं ले गए क्योंकि वे पढ़ाई कर रहे थे और प्रेमचंद ने बेबई में उनका नामांकन इसलिए नहीं कराया कि इस तरह वे उस जगह से बंध जाते। उनका सोचना सही था क्योंकि कुछ ही दिनों में उन्होंने पाया कि वहां जो कुछ था वह वैसे मालिक लोगों के हाथों में था जो सिर्फ कमाना जानते थे और जिनकी नजरों में लेखक को कोई महत्व नहीं था। प्रेमचंद यह मानते थे कि लेखक का काम जनता का नेतृत्व करना है मगर साथ ही उन्हें इस बात का एहसास भी था कि उस पर पब्लिक और गवर्नमेंट दोनों का दबाव होता है- पब्लिक मारने की धमकी देती है और गवर्नमेंट जेल में डालती है। स्वाभिमानी प्रेमचंद पूछते हैं कि क्या इससे डरकर लेखक लिखना बंद कर दे? आखिर लेखक भी कोई चीज है। उसका भी अस्तित्व है। वह जो कुछ लिखता है अपनी कुरेदन से ही।

प्रेमचंद में संघर्ष का भाव बहुत था। वे अपने संपर्क में आने वाले लोगों से बराबर काम करने, बुराइयों से लड़ने की बात किया करते थे। वे मजदूरों से भी ज्यादा खटते थे, यह बात उनके विपुल मात्रा में लिखे गए साहित्य से भी अच्छी तरह प्रमाणित होती है। वस्तुतः वे एक ही साथ दो सिरों से जलने वाली मोमबत्ती की तरह थे जो जल्दी भले बुझ गई मगर रोशनी भरपूर दे गई। मुक्तिबोध जैसे अनेक जाने-माने परवर्ती हिंदी (तथा अ-हिंदी) साहित्यकारों के वे जाने-अनजाने प्रेरणास्रोत बने। नए लेखकों से मिलने के लिए प्रेमचंद हमेशा तैयार रहते थे, क्योंकि उन्हें पता था कि साहित्य की बागडोर उन्हीं के हाथों सुरक्षित रहेगी। वे मानते थे कि नए रचनाकारों का मार्गदर्शन करना उनके-जैसे वरिष्ठ लेखकों की जिम्मेदारी थी। वे अतिवादी नहीं थे। बुद्ध के मज्झिम निकाय की तरह भारत का मध्य वर्ग ही उनकी राह था। प्रेमचंद का साहित्य हमें नैतिक और मानवीय बनाता है। उनकी उदार मानवीयता की जद में मनुष्य की तो बात क्या, तमाम तरह के जीव-जंतु, पशु-पक्षी भी आ गए हैं। गाय, बैल, कुत्ता, तोता आदि तो उनकी कई रचनाओं में प्रमुख पात्र की भूमिका में भी आए हैं। प्रेमचंद भोले-भाले और मूक प्रणियों के केवल पक्षधर ही नहीं, बल्कि भोलेपन के सौंदर्य को कथा में रचने वाले अद्‌भुत लेखक भी हैं चाहे वह भोला-भाला किसान-मजदूर हो, बालक-बालिका हो अथवा कोई अन्य प्राणी। प्रेमचंद ने कई रचनाओं में किसानों मजदूरों, बच्चों और पशु-पक्षियों को आपस में संजीदगी से बतियाते और दुखः-दर्द बांटते दिखाया है। प्रेमचंद की पत्नी शिवरानी देवी ने उनके प्राणी

मात्र से प्रेम होने की बात करते हुए लिखा है कि जाड़े के दिनों में खुद तो कंबल ओढ़ते थे मगर घोड़े की दुशाला ओढ़ाते थे। पत्नी की नजरों में प्रेमचंद एक संत लेखक थे। हरिशंकर परसाई ने अपने व्यंग्य लेख 'प्रेमचंद के फटे जूते' में प्रेमचंद की मानसिकता का बढ़िया विश्लेषण किया है।

हमें भारतीय परंपरा के श्रेष्ठ अवदानों से जोड़ने का काम प्रेमचंद बिना किसी शोर-शराबे के करते हैं। वे स्वदेशी के भक्त थे, स्वदेश और स्वराज के प्रेमी थे। स्वदेश पर गर्व था, लेकिन यह गर्व मिथ्या नहीं था। अपनी कमजोरियों से वे वाकिफ थे। वे बड़े आत्मालोचक भी थे और अंग्रेजों के गुणों से सीख लेने को कहते थे। 1934 में भी प्रेमचंद की मान्यता थी कि जो आदमी जितनी ही अपनी जरूरत बढ़ाता जाता है, वह उतना ही ज्यादा अपनी गुलामी की बेड़ियां मजबूत करता जाता है। प्रेमचंद के जीवन और चिंतन का प्रभाव उनकी लेखिका पत्नी शिवरानी देवी पर गहरा पड़ा था, जिन्होंने यथासंभव तटस्थता बरतते हुए प्रेमचंद- जैसे कलाकर के मानस और व्यवहार की गतिविधियां प्रस्तुत की हैं : उनकी व्यक्तिगत कमियों और खामियों पर संयमित आलोचनात्मक नजर डाली है। यह आजकल के उन रचनाकार दंपतियों से अलग ढंग का प्रयास था क्योंकि आज के लोग तो अपने नितांत निजी कपड़े भी सार्वजनिक रूप से धोते नजर आते हैं।

क्या भूमंडलीकरण के इस दौर में अंग्रेजी और अंग्रेजी के व्यापक प्रभाव का मुकाबला प्रेमचंद के देशी हथियार से किया जा सकता है? क्या आज एक बार फिर से प्रेमचंद तक पहुंचना पुरागमिता होगी? क्या यह चिंता का विषय नहीं है कि हम अपनी उस देशी पहचान और विरासत को धीरे-ध ीरे खोते जा रहे हैं जिसकी तरह प्रेमचंद और रेणु-जैसे लेखकों ने हमारा ध्यान आकृष्ट किया था? आज हमारी अस्मिता के जितने टुकड़े जाति, उपजाति, आदि के आधार पर होते जा रहे हैं, वैसी जटिल सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांप्रदायिक समस्याएं प्रेमचंद के जमाने में नहीं थीं। आज जटिलाताएं बढ़ती ही जा रही हैं और लेखक का कार्य कठिनतर होता जा रहा है। फिर भी, आज के संदर्भ में भी, प्रेमचंद के अल्पसंख्यकों, दलितों और स्त्रियों के संबंध में विचार अवश्य ही महत्वपूर्ण हैं। ये विचार पर्याप्त या पूर्ण नहीं कहे जा सकते लेकिन यह बहुत अस्वाभाविक भी नहीं है। आज अगर प्रेमचंद मौजूद होते तो अवश्य ही उनकी रचनात्मक इस बदली हुई स्थिति को भी सफलतापूर्वक समेट लेती, इससे संदेह नहीं क्योंकि प्रेमचंद हमेशा अपने वर्तमान में सक्रियता से उपस्थित रहने वाले रचनाकार थे। ऐतिहासिक रूप से देखा जाए तो प्रेमचंद हिंदी कथासाहित्य में नई चेतना लाने वाले लेखक थे। लेकिन उनके कथाशिल्प का एक खास ढंग था और परवर्ती साहित्य में जिससे भिन्नता का होना लाजिमी था। प्रेमचंद के आकर्षण और व्यापक स्वीकृति का एक कारण उनके द्वारा वस्तु एवं रूप के प्रति अतिवादी दृष्टियों का परिहार भी रहा है लेकिन आज के लेखकों को प्रेमचंद के शिल्प से विचलन करते हुए दूसरे रास्तों की तलाश करनी पड़ेगी। सच पूछा जाए तो हिंदी कथा साहित्य में प्रेमचंद-जैसा लिखने वाला कोई भी कथाकार नहीं मिलता- कोई उनकी नकल भले ही कर ले, किंतु नकल से कोई दूसरा प्रेमचंद, रेणु, परसाई या श्रीलाल शुक्ल नहीं बन सकता। ऐसा इसलिए संभव नहीं है क्योंकि इन सारे कलाकारों ने अपनी-अपनी कला की समस्त संभावनाओं को पूरी तरह से निचोड़ लिया है। अतएव, वही रचनाकार सफलता पा सकता है जो अपनी अलग राह निकाल सकता हो। प्रेमचंद से सीखते हुए प्रेमचंद से अलग और आगे की चीज लिखना आज के लेखक के लिए जरूरी है।

बीसवीं सदी के हिंदी लेखन में भारतीय जीवन- खासकर ग्रामीण जीवन-'गोदान' 'मैला आंचल', 'परतीः परिकथा' और 'रागदरबारी' में विशेषतः जीवंत रूप में उपस्थित किया गया जो इस बात का द्योतक है कि प्रेमचंद के जमाने से भिन्न स्थितियों को प्रेमचंद की कला से भिन्न कला में रचने की आवश्यकता महसूस की गई। तमाम भिन्नताओं के बावजूद प्रेमचंद के समय और कला से आज के हालात और लेखन में कुछ समानताएं भी मिलें तो अचरज नहीं होना चहिए। प्रेमचंद के चित्रण में एक प्रकार की सर्व-भारतीयता है, यानी उनका एक अखिल भारतीय परिप्रेक्ष्य बनता है। मनुष्य ही प्रेमचंद के लेखन की लक्ष्य था और मनुष्य से उनका संबंध निरा बौद्धिक न होकर आत्मीय था। उसकी रचनाएं केवल हिंदी साहित्य के मानस को ही नहीं, व्यापक सामान्य जन-मानस को भी आंदोलित करती रही हैं। यह देखना रोचक होगा कि गांधी की तरह प्रेमचंद ने भी लेखकीय आचरण का अपना देशी 'माडल' तैयार किया था।

प्रेमचंद के देहांत के पश्चात् देश-दुनिया और साहित्य में बहुत-कुछ बदला है। ये बदलाव सकारात्मक और नकारात्मक दोनों ही प्रकार के हैं। प्रेमचंद से हमारा संवाद ही नहीं, वाद-विवाद भी होता रहा है और हो रहा है। प्रेमचंद के अंतर्विरोधों पर चर्चा और आंदोलन भी हुए और हो रहे हैं जो उनकी प्रामाणिता और जीवंतता की ओर भी इंगित करते हैं। आज की परिस्थितियों में प्रेमचंद से ग्रहण करने को बहुत कुछ है। खुद प्रेमचंद को भी इस बात का एहसास हो रहा था कि उनके लेखन से एकरसता जैसी चीज पैदा हो सकती थी। इस बात से उन्हें अंसतोष था और इस संदर्भ में उन्होंने जैनेंद्र कुमार को लिखा भी था कि 'मैं पुराना हो गया हूं और पुरानी शैली निभाए जाता हूं। कथा को बीच में से शुरू करना या इस तरह शुरू करना कि उसमें ड्रामा का चमत्कार पैदा हो जाए यह मेरे लिए मुश्किल है।'

आज यथार्थवाद के विभिन्न रूप हो गए हैं, यहां तक कि जादुई यथार्थवाद भी सामने आया। संभव है बहुतों को प्रेमचंद इस उत्तर-आधुनिक परिदृश्य में पुराने लगने लगे हों मगर वे चुके नहीं हैं। उनकी प्रासंगिकता अब भी बरकारार है। प्रेमचंद के पूर्व हिंदी-उर्दू का कथा-साहित्य या तो खालीपन (जिसमें, बकौल साहिर लुधियानवी, न कोई जादह 'न मंजिल, न रोशनी का सुराग' ही था) या लगभग अतिनाटकीयता का शिकार था। प्रेमचंद ने धीरे-धीरे सधे हाथों से उसे यथार्थवादी बनाया। उन्होंने हिंदी कथा-साहित्य में जिस यथार्थवादी परंपरा की नींव डाली, परवर्ती काल में भी उसमें विकास की संभावनाओं के बीज देखे जाते रहे। प्रेमचंद ने जब लिखना आंरभ किया था उस समय यूरोप में यथार्थवाद प्रकृतवाद से अलग हो चुका था जबकि हिंदी कथा-साहित्य में उस वक्त स्वैर-कल्पना, तिलिस्म और ऐयारी वाले शिल्प का प्राधान्य था। प्रेमचंद के अपने यथार्थवाद का स्वभाव सामाजिक और आलोचनात्मक रहा, फिर भी उनका शिल्प अतिनाटकीय, अस्वाभाविक एवं अलौकिक तत्वों से रहित नहीं कहा जा सकता। यह बात विशेष रुप से 'निर्मला' और 'कायाकल्प' उपन्यासों के मद्देनजर कही जा सकती है। आज हम जानते हैं कि तथ्यात्मक चित्रण से अलग अतिनाटकीय और अलौकिक के चित्रण से भी रचना से विशिष्ट अर्थ निकाले जाते हैं। प्रोफेसर फ्रांचेस्का ऑर्सीनी ने 'कायाकल्प' के अध्ययन में ऐसे अर्थ-संधान की दिशा में एक अच्छी कोशिश की है। प्रेमचंद के आरंभिक जमाने में तिलिस्मी-ऐयारी के साथ-साथ ऐसे ऐतिहासिक उपन्यास भी थे जो पाठकों को अतीत-गौरव में पहुंचाते थे। अनबुझ तृष्णा और लालसा की व्यर्थता, पर साथ ही आदर्श के लिए

संघर्ष के भाव को दिखाने के लिए 'कायाकल्प' में प्रेमचंद पुनर्जन्म, अलौकिकता, विज्ञानकथा, अतिनाटकीयता आदि को मिलाकर अपने ही यथार्थवादी ढांचे को अतिक्रमित करना चाहते हैं। दरअसल इसे प्रेमचंद की कला-विषयक बेचैनी और उनकी प्रयोगधर्मिता के संदर्भ में देखने की जरूरत है।

प्रासंगिकता अतीत की सार्थकता और वर्तमान की अर्थवत्ता का द्वंद्वात्मक संबंध होती है। उसकी एक कसौटी लोकप्रियता भी हो सकती है। प्रेमचंद अब भी लोकप्रिय हैं तो इसका मतलब है कि वे अब भी प्रासंगिक हैं। आज प्रेमचंद के जमाने की कुछेक बातें अपना पुराना औचित्य खो चुकी हैं, जैसे प्रेमचंद संयुक्त परिवार के विघटन के जिस दर्द को लेकर 'बडे घर की बेटी' और 'अलग्योझा'-जैसी रचनाएं लिख रहे थे, उसका पैनापन अब काफी भोथरा हो चुका है। इसके बरक्स फणीश्वरनाथ रेणु 'संवदिया' कहानी के माध्यम से क्षीण पड़ते जा रहे जिस सामंती मूल्य को बचाकर रखना चाहते हैं, वह महत्वपूर्ण प्रतीत होता है। लेकिन प्रेमचंद की कला में ऐसा खुलापन भी मिलेगा जिसके अर्थापन की सही दिशा का चुनाव आगामी समय कर सकता है। मुक्तिबोध इसीलिए प्रेमचंद के कथा साहित्य को एक बहुत बड़ा नैतिक प्रभाव डालने वाला तथा उदार और उदात्त नैतिकता की तलाश की प्रेरणा देने वाला मानते थे। यह प्रेमचंद की कला का खुलापन ही है जो 'नमक का दरोगा', 'आत्माराम', 'नशा', 'सद्गति', 'पूस की रात', 'कफन', 'मुक्तिमार्ग', 'शतरंज के खिलाड़ी'- जैसी कहानियों को नए अर्थ-संदर्भों से भर देते हैं।

हालांकि आज की परिस्थितियों में प्रेमचंद से ग्रहण करने को बहुत कुछ है, फिर भी यह सच है कि अकेले प्रेमचंद संपूर्ण नहीं होते-जैनेंद्र, अज्ञेय, यशपाल, रेणु, श्रीलाल शुक्ल, नागार्जुन, भीष्म साहनी, निर्मल वर्मा-जैसे अनेक कथाकर प्रेमचंद से अलग होकर भी उनके साथ-साथ खड़े हैं। प्रेमचंद के रहते हुए भी ये कथाकार बड़े हैं और उतने ही जरूरी हैं।

यह सच है कि प्रेमचंद हिंदी कथा साहित्य के उदय-शिखर हैं, लेकिन उनके बाद भी आलोक प्रखरतर हुआ, इसमें संदेह नहीं।

(लेखक प्रख्यात कथाकार और आलोचक हैं।)

लेखकों के पते

मुचकंद दुबे, अध्यक्ष, काउंसिल फॉर सोशल डेवलपमेंट संघ, रचना 53, लोदी स्टेट, नई दिल्ली
विभूति नारायण राय, कुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, पो. हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र)
भारत भारद्वाज, 211 आकाश दर्शन अपार्टमेंट्स, मयूर विहार फेज एक, दिल्ली-110091 मो. 9313034049
संजीव, 43-ए., न्यू डी.डी.ए., जनता फ्लैट्स, चिल्ला, मयूर विहार, फेज-1, दिल्ली-110091 मो. 8587832148
प्रेम कुमार, कृष्णाधाम कालोनी, आगरा रोड़, अलीगढ़-202001 (उ.प्र.) मो. 9412176047
सूरज पालीवाल, अधिष्ठाता साहित्य विद्यापीठ, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, पो. हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र) मो. 9421101128
मदन मोहन, 15-एमआईजी, राप्तीनगर, फेज-3 पत्रकारपुरम, गोरखपुर-273003 (उ.प्र.) मो. 9335289012
ओम निश्चल, जी-1/1506 ए, उत्तम नगर, नई दिल्ली- 110059 मो. 84472 89976
अजय नावरिया, 36/1179 डीडीए फ्लैट्स, मदनगीर, नई दिल्ली-110062 मो. 9910827330
श्रीमती एस. तंकमणि अम्मा, मणिमंदिरम, आनयरा, तिरुवनंतपुरम-695029 (केरल)
हरिसुमन विष्ट, संपादक, इंद्रप्रस्थ भारती, हिंदी अकादमी, दिल्ली सरकार, पदम नगर, दिल्ली-110007 मो. 9868961017
राजेंद्र राजन, संपादक, प्रगतिशील इरावती गांव- बल्ह, डाकघर मौंही, तहसील व जिला हमीरपुर-177030 (हि.प्र.) मो. 9418020610
गोबिंद प्रसाद, प्रोफेसर, भारतीय भाषा केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-110067 मो. 9999428212
श्रीमती सुनीता जैन, सी-132 सर्वोदय इंक्लेव, नई दिल्ली-110007
जगतारजीत सिंह, 118 ए, प्रताप नगर, जेल रोड़, नई दिल्ली-110064 मो. 9899091186
श्रीमती विजयलक्ष्मी, ए-4/14 सैक्टर-18 रोहिणी- 110089 मो. 9953565233
बी.एल. गौड़- गौरसंस इंडिया लिमिटेड, गौर बीज पार्क, प्लाट संख्या-एक, अभय खंड-2, इंदिरापुरम, जिला- गाजियाबाद- 201012 (उ.प्र.)
नरेंद्र कुमार वर्मा, विशेष संवाददाता, 'शुक्रवार' साप्ताहिक, के-25 सेक्टर-18, नोएडा गौतम बुद्ध नगर-201301,(उ.प्र.) मो. 8860609252
विजय मोहन शर्मा, सी-358 विकासपुरी, नई दिल्ली, 110018 मो. 9810018167
रविभूषण, 204, रामेश्वरम् कॉम्प्लेक्स साउथ ऑफिस पारा डोरंडा, रांची-834002, मो. 4431103960
शंभु गुप्त, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, स्त्री अध्ययन विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, पो. हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र) मो. 8600552663
रामनिरंजन परिमलेंदु, दक्षिण दरवाजा, गया-823001 (बिहार) मो. 9470853118
शंभुनाथ, 389 जीटी रोड़ हावड़ा-711106 (पं बंगाल) मो. 9007757887
सुवास कुमार, शांतिनिकेतन, क्वाइंट लैंड्स, इंदिरा नगर, गच्ची बावली, हैदराबाद-500032 (आंध्र प्रदेश) मो. 9490925866